॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

२९



श्रीविश्वनाथकविराजप्रणीतः

साहित्यदर्पणः

सविमर्श 'शशिकला' हिन्दीव्याख्योपेतः

व्याख्याकारः—

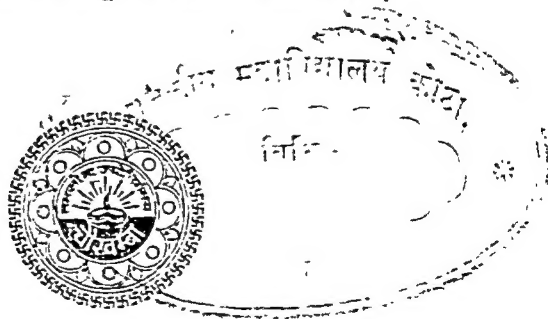
डॉ० सत्यव्रतसिंह, एम. ए., पी-एच. डी.

(अध्यापक : संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय)

प्राक्कथन-लेखकः—

माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी

(मन्त्री-गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश)



चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९५७

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : तृतीय, वि० संवत् २०२६

मूल्य : १४-००

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

प्रधान कार्यालय

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

29

SĀHITYA DARPAṆA

OF

S'RĪ VIS'WANĀTH KAVIRĀJ

EDITED WITH THE

'SHASHIKALA' HINDI COMMENTARY AND NOTES

BY

Dr. Satyavrat Singh, M. A., Ph. D.

(Professor, Sanskrit Department, Lucknow University.)

With a Foreword

By

HON'BLE Pt. KAMALAPATI TRIPATHI



THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1970

Post Box No. 69
Chowk, Varanasi-1 (INDIA)
1970
Phone : 63076

Third Edition
1970
Price Rs. 14-00

Also can be had of
THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
Publishers & Oriental Book-Sellers
P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)
Phone : 63145



प्राक्कथन

श्रीमान् माननीय पं० कमलापति जी त्रिपाठी
मंत्री—गृह, शिक्षा तथा सूचना विभाग, उत्तर-प्रदेश

स्वतन्त्र भारत की राष्ट्र-भाषा को सम्पन्न बनाने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि उच्चतम ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, कला आदि समस्त विषयों के प्रौढ़ एवं उच्च साहित्य के ग्रन्थों से हिन्दी का भाण्डार परिपूर्ण किया जाय। साथ ही यह भी आवश्यक है कि विश्व की समस्त भाषाओं में रचित विशिष्ट कृतियों को हिन्दी के माध्यम से प्रस्तुत किया जाय। इन सब दिशाओं में अभी बहुत कार्य करना है। अभी तो भारतीय भाषाओं के सब महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी हिन्दी में नहीं आ सके हैं। संस्कृत के विशाल साहित्य की समस्त महत्त्वपूर्ण कृतियों का हिन्दीमाध्यम से प्रस्तुतीकरण अभी नहीं हो सका है। यह कार्य हिन्दी के सांस्कृतिक चिन्तन-प्रवाह की अनुकूल गतिशीलता के लिए अनिवार्य है। संस्कृतज्ञ हिन्दी प्रेमियों का यह कर्तव्य हो गया है कि इस महान् राष्ट्रीय अनुष्ठान में निष्ठा के साथ योग दें।

डा० सत्यव्रतसिंहजी इस दिशा में कार्य आरम्भ कर चुके हैं। 'हिन्दी-काव्य-प्रकाश' के प्रणयन के अनन्तर 'हिन्दी-साहित्यदर्पण' उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है। संस्कृत साहित्य शास्त्र के ग्रन्थों में 'साहित्यदर्पण' का अपना विशिष्ट स्थान है। दृश्य एवं श्रव्य—उभयविध काव्यों के तत्त्वभूत अङ्गों का सरल शैली में प्रौढ़ और पूर्ण विवेचन इस ग्रन्थ की विशिष्टता है। नाट्य-शास्त्रीय तत्त्वों एवं नायक-नायिकादि का निरूपण उपलब्ध होने से यह ग्रन्थ सर्वांगीण हो गया है। संस्कृत-साहित्य का पठन-पाठन करने वालों में यह ग्रन्थ अत्यन्त प्रिय एवं व्युत्पत्तिदायक माना जाता है। डा० सत्यव्रतजी ने इसमें अनुवाद मात्र नहीं किया है वरन् भाषात्मक व्याख्याशैली में दुरूह एवं विवादास्पद विषयों की समस्या पर शास्त्रीय ढङ्ग से विस्तृत विवेचन करके इस ग्रन्थ को प्रौढ़, उपयोगी एवं पूर्ण बना दिया है; यही इस ग्रन्थ की विशेषता है। मुझे विश्वास है कि डा० सिंह की प्रस्तुत कृति का हिन्दी में समुचित स्वागत होगा और साहित्य शास्त्र की भारतीय दृष्टि का परिचय देने में इस कृति से पर्याप्त सहायता मिलेगी।

विधान भवन, लखनऊ,
जनवरी २५, १९५८

समर्पणम्

पद्मावतीं नमस्कृत्य कृपास्रोतस्विनीं सदा ।
समर्प्यते कृतिरियं पद्मायै परया मुदा ॥

उपोद्घात

'साहित्यदर्पण' संस्कृत अलङ्कारशास्त्र का एक आवश्यक अङ्ग है। अलङ्कारशास्त्र के पढ़ने वाले 'वाग्भटालङ्कार' अथवा 'चन्द्रालोक' से अपना अध्ययन प्रारम्भ करते हैं और उसके बाद 'साहित्यदर्पण' के अध्ययन से ही इन प्रारम्भिक ग्रन्थों के विषयों का क्रमबद्ध किंवा प्रौढ परिचय प्राप्त करते हैं। 'काव्यप्रकाश' और 'रसगङ्गाधर' का अध्ययन तो अलङ्कारशास्त्र के विशेष ज्ञान के लिये ही हुआ करता है। काव्य-साहित्य के प्रेमी-जन के लिये तो 'साहित्यदर्पण' से बढ़कर और कोई ऐसा अलङ्कार ग्रन्थ है ही नहीं, जिससे सरलता और सरसता के साथ, काव्य-साहित्य के समस्त विषयों का परिचय मिल सके। 'साहित्यदर्पण का जो महत्त्व इसकी रचना के समय था वही आज भी है। 'साहित्यदर्पण' के रचयिता 'विश्वनाथ कविराज' के आत्मज 'अनन्तदास' ने जो यह लिखा था—

'स्वल्पाक्षरः सुबोधार्थः प्रध्वस्ताशेषदूषणः।
साहित्यदर्पणो नाम ग्रन्थः...........॥'

वह वस्तुतः आज भी अक्षरशः सत्य है। पहले 'साहित्यदर्पण' 'प्रध्वस्ताशेषदूषण' अवश्य माना गया होगा और इसमें अतिशयोक्ति का कोई बहुत बड़ा पुट भी नहीं। यह एक दूसरी बात है कि 'रसगङ्गाधर' के आविर्भाव के बाद इसमें कुछ कमी दिखायी देने लगी। किन्तु यह बात तो अलङ्कारशास्त्र के सिद्धान्तों के समान उनके प्रतिपादक ग्रन्थों के देश-काल-परिवर्तन आदि से सम्बद्ध है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'साहित्यदर्पण' के अवलोकन से काव्य-साहित्य के समस्त तत्त्वों का साक्षात्कार अनायास सम्भव हो जाता है।

'साहित्यदर्पण' की टीकाओं की संख्या 'काव्यप्रकाश' का टीकाओं की संख्या से बहुत कम है। इसका एक कारण 'साहित्यदर्पण' की सरलता और सुबोधता भी है। अस्तु, 'साहित्यदर्पण' की सबसे पहली 'लोचन टीका' सम्भवतः साहित्यदर्पणकार के आत्मज अनन्तदास की ही लिखी है। दूसरी 'विज्ञप्रिया' नाम की टीका भट्टाचार्य महेश्वर तर्कालङ्कार कृत है। श्री रामचरण तर्कवागीश की लिखी 'साहित्यदर्पणविवृति' और श्री दुर्गाप्रसाद द्विवेदी द्वारा विरचित 'साहित्यदर्पण-विवृतिपूर्ति' साहित्यदर्पण की संस्कृत टीकाओं में अधिक प्रसिद्ध हैं। साहित्यदर्पण की चौथी टीका 'विमला' श्री जीवानन्द विद्यासागर की लिखी है। महामहोपाध्याय श्री हरिदाससिद्धान्तवागीश की लिखी, 'कुसुमप्रतिमा' टीका का भी पूर्व के प्रान्तों में प्रचलन है। साहित्यदर्पण की इन संस्कृत टीकाओं में आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री की 'लक्ष्मी' टीका का प्रचार आजकल सर्वत्र अत्यधिक है।

उपर्युक्त संस्कृत टीकाओं के अतिरिक्त, साहित्याचार्य श्री शालग्राम शास्त्री की लिखी 'विमला' नामक हिन्दी व्याख्या भी हैं। अंग्रेजी में 'साहित्यदर्पण' का व्याख्यान (सम्पूर्ण का नहीं) महामहोपाध्याय काणे ने किया है जो एक प्रामाणिक और विचारपूर्ण व्याख्यान है। 'साहित्यदर्पण' का अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

इन सब के रहते भी 'साहित्यदर्पण' की इस 'सविमर्श-शशिकला' हिन्दी व्याख्या की क्या आवश्यकता ? ऐसी बात नहीं। 'साहित्यदर्पण' जैसे काव्यशास्त्र के ग्रन्थ की 'व्याख्या' अनावश्यक नहीं। अलंकारशास्त्र के पूर्वापर अध्ययन से ही किसी भी अलंकार-ग्रन्थ की मान्यताओं और उपादेयताओं का प्रामाणिक मूल्याङ्कन सम्भव है। इस 'व्याख्या' में यही दृष्टि अपनायी गयी है। विश्वनाथ कविराज ने पूर्वाचार्यों से क्या लिया ? क्या नहीं लिया ? विश्वनाथ कविराज ने पूर्वसंचित अलंकारशास्त्र की निधि का कैसा उपयोग किया ? और अपनी ओर से उसमें क्या अर्पित किया ? साहित्यदर्पण की मूल धारणायें कहाँ से निकलती हैं ? और किस ओर जाती हैं ? अललंकारशास्त्र के प्रस्थान-ग्रन्थों और अन्य प्रकरण-ग्रन्थों से साहित्यदर्पण का क्या साम्य और क्या वैषम्य है ?—ये और इसी प्रकार के अन्य प्रश्न भी तो 'साहित्यदर्पण' के श्रवण के बाद उसके मनन-चिन्तन में उठा ही करते हैं। इस 'व्याख्या' में यथास्थान और यथासम्भव, इन प्रश्नों के समाधान का प्रयत्न किया गया है। यह प्रयत्न कहाँ तक सफल हुआ है इसकी चिन्ता लेखक का काम नहीं अपितु विचारक पाठकजन का है।

मैं श्रीमान् माननीय पण्डित कमलापति जी त्रिपाठी (मंत्री-गृह, शिक्षा तथा सूचना-विभाग, उत्तरप्रदेश) का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपनी स्वाभाविक साहित्यप्रियता के वशीभूत हो अपना बहुमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ का प्राक्कथन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है।

—सत्यव्रत सिंह

संक्षिप्त ग्रन्थालोचन

(विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण' जिन-जिन विषयों का विवेचन करता है उनमें परिच्छेदानुसार निम्न विषय मुख्य हैं)

प्रथम परिच्छेद

प्रथम परिच्छेद में 'काव्य क्या है ?' इसका विचार है। काव्यस्वरूप के इस विचार में, साहित्यदर्पणकार ने 'काव्यप्रकाश'कार मम्मट को आड़े हाथों लिया है। यहाँ ध्वनिकार भी विश्वनाथ कविराज की कटु आलोचना से नहीं बच पाये हैं। 'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह निष्कर्ष ध्वनिवादी आलङ्कारिकों की आलोचना के परिणामस्वरूप से ही यहाँ निकाला गया है। १–२०

द्वितीय परिच्छेद

द्वितीय परिच्छेद का विषय अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना शक्तियों का विमर्श है। इस विमर्श में भी काव्यप्रकाशकार की भूल-चूक (?) का प्रदर्शन कराया गया है। २१–९८

तृतीय परिच्छेद

तृतीय परिच्छेद में 'रस और रसास्वाद' का विशद वर्णन है। इसमें काव्य-प्रकाश के साथ-साथ अभिनवभारती के भी रसविषयक विचारों का पर्याप्त स्पष्टी-करण किया हुआ है। इसमें नायक-नायिका-निरूपण का प्रसङ्ग 'दशरूपक' के आधार पर प्रतिपादित है। ९९–२७८

चतुर्थ परिच्छेद

चतुर्थ परिच्छेद में 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' रूप के द्विविध-रसात्मक वाक्यों अथवा महावाक्यों का विस्तृत निरूपण है। इसमें काव्यप्रकाशकार की 'चित्रकाव्य' सम्बन्धी काव्यभेद-मान्यता पर कटाक्ष किया गया है। २७९–३३७

पञ्चम परिच्छेद

पञ्चम परिच्छेद 'व्यञ्जना' वृत्ति और 'रसनावृत्ति' (रसास्वाद में व्यञ्जना ही रसना कही जाती है) की स्वरूप-मीमांसा का एक महान् और सफल परिश्रम है। इस पर काव्यप्रकाश के 'व्यञ्जना-प्रस्थापन'-प्रकरण की छाप अमिट रूप से पड़ी है। ३३८–३५८

षष्ठ परिच्छेद

षष्ठ परिच्छेद नाट्यशास्त्र के नाट्य-संबन्धी विषयों का एक विस्तृत सार-संक्षेप है। इसमें 'दशरूपक'कार की नाट्यसम्बन्धी मान्यतायें ही प्रायः प्रामाणिक रूप से प्रतिपादित की गयी हैं। ३५९-५५८

सप्तम परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद काव्यदोष-निरूपण का परिच्छेद है। इस पर काव्यप्रकाश का प्रभाव पड़ा है। ५५९-६४१

अष्टम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद गुण निरूपण करता है। इस परिच्छेद में साहित्यदर्पणकार की गुणविषयक अपनी मान्यतायें भी प्रकाशित की गयी हैं। ६४२-६५७

नवम परिच्छेद

नवम परिच्छेद में 'रीतितत्व' का निरूपण है। इसकी विचार-धाराओं के देखते यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि या तो विश्वनाथ कविराज को वक्रोक्तिजीवित का 'रीतिनिरूपण' चतुरस्र नहीं लगा या उन्होंने इस ओर दृष्टि भी नहीं घुमायी। ६५८-६६४

दशम परिच्छेद

दशम परिच्छेद अलङ्कार-निरूपण के लिए सुरक्षित है। इसमें रसध्वनिवादी विश्वनाथ कविराज ने 'अलङ्कारसर्वस्व' का आधार लिया है और आचार्य रुय्यक की भाँति एक आध नये अलङ्कारों का भी आविष्कार और रूपनिर्देश किया है। 'रसवत्' आदि को रसध्वनिवाद की दृष्टि से भी अतिरिक्त अलङ्कार सिद्ध करने में विश्वनाथ कविराज ने आचार्य जयरथ (अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनीकार) का सहारा लिया है और आचार्य मम्मट की मान्यताओं को तिलाञ्जलि दे दी है। ६६५-८९२

(इस प्रकार साहित्यदर्पण की रचना काव्यप्रकाश की ही भाँति १ से १० परिच्छेद पर्यन्त चलती है किन्तु काव्यप्रकाश की अपेक्षा अधिक साहित्यिक विषयों पर प्रकाश डालती है।)



भूमिका

साहित्यदर्पण : विवेच्य विषय

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'

'साहित्यदर्पण'कार की काव्य-परिभाषा है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'। इसमें काव्य का लक्षण नहीं अपितु काव्य की प्रशस्ति है। जब कभी हम पढ़ते हैं—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' तो ऐसा ही अनुभव करते हैं मानो हम किसी विशिष्ट काव्य-कृति की अनुभूतियों के आनन्द का प्रकाशन कर रहे हों। जैसे किसी सुन्दर दृश्य के देखने अथवा मधुर ध्वनि के सुनने से 'ओह' अथवा 'अहो' का विस्मयाभिव्यंजक शब्द निकल पड़ता है वैसे ही 'रामायण' और 'रघुवंश', 'महाभारत' और 'किरातार्जुनीय' आदि सुन्दर और सुमधुर कृतियों के अनुभव से 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का 'अहो'कार हो उठता है। इसमें सन्देह नहीं कि जिसे वस्तुतः 'काव्य' अथवा 'कविता' कहते हैं उसकी आनन्दात्मक अनुभूति के देखते 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा उपनिषद्-वाक्य सी लगती है। इसमें काव्य की रहस्यमयी भावनाएं छिपी हैं, कवियों की कला के रहस्य का संकेत छिपा है, सहृदयों की सहृदयता की कसौटी छिपी है और अन्त में विश्वनाथ कविराज की वह रसमयी काव्य-संवेदना छिपी है जो बताना तो चाहती है कि 'काव्य क्या है ?' किन्तु यह न बताकर कविता पर 'कविता' करने लगती है। यदि हम विश्वनाथ कविराज के काव्य-लक्षण को 'काव्य'विषय का 'ध्वनि'काव्य कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं।

इसकी सबसे पहली ध्वनि है—

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि।' (काव्यप्रकाश : १-४)

कैसे ? ऐसे—यहाँ कहा गया है—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अर्थात् 'काव्य' वह वाक्य है जो रसात्मक हो अथवा जिसका अन्तस्तत्त्व 'रस' हो। किन्तु ऐसा कहने से यह जिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है कि 'वाक्य' क्या वस्तु है जिसमें 'रस' रूप आत्मा का अस्तित्व रहा करता है। कहना पड़ेगा कि 'वाक्य' वह पदकदम्ब है जिसमें आकांक्षा, योग्यता और आसत्ति के तत्त्व विराजमान रहा करते हैं (वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः—साहित्यदर्पण २-१)। 'वाक्य' की इससे विशद परिभाषा क्या होगी ? यह 'वाक्य' जब रसात्मक हो तो 'काव्य' है। इस प्रकार का 'वाक्य' कैसे 'रसात्मक' हो ? यह एक समस्या है। 'वाक्य' अपने आप 'रसात्मक' नहीं हो सकता चाहे वह कैसे भी साकांक्ष, योग्य और आसत्तिमय पदों का सन्दर्भ अथवा समूह क्यों न हो। 'वाक्य' में 'रस'रूप आत्मतत्त्व का आधान भी कवि का ही काम है। कवि ही 'वाक्य' बनाता है और वही उसमें 'रस'रूप अनुभव-परमार्थ का आधान करता है जो कि अन्त में सहृदय के रसानुभव का स्रोत बन जाता है। जब तक कवि वाक्य-रचना न करे तब तक अपनी रसरूप आत्मा को कहाँ बैठावे ! कहाँ ले जाय ? इसलिए कवि को 'वाक्य' तो बनाना ही पड़ेगा। कवि का काम प्रतिदिन के व्यवहारवाले 'वाक्य' की रचना नहीं अपितु ऐसे 'वाक्य' की रचना है जो कि 'रस'रूप आत्मतत्त्व का 'दिव्यमंगलविग्रह' बन जाय, ऐसा बन जाय, जिसे कम से कम, 'रस'रूप राष्ट्रपति का धर्मासन कहा जाय। ऐसा वाक्य कवि कैसे बनाता है ? यह तो एक अलग प्रश्न है।

किन्तु जब कवि ऐसा 'वाक्य' बना लेता है तब उसके विश्लेषण में यही पता चलता है कि ऐसे 'वाक्य' अथवा 'पदकदम्ब' में अदोषता, सगुणता और औचित्यपूर्ण अलंकारयोजना के काव्यात्मक तत्त्वों का हाथ अवश्य है। तात्पर्य यह है कि अदोष, सगुण और समुचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-युगल ही वह 'वाक्य' है जो कि 'रस'रूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जन का साधन हो सकता है अथवा जिसमें कवि 'रस' का आधान किया करता है। 'रसात्मक' होने के लिए, 'रस'रूप आन्तर तत्त्व का आधार होने के लिए, वाक्य को केवल साकांक्ष, योग्य और संसृष्ट पदों का 'कदम्ब' होना अपेक्षित नहीं अपितु अदोष, सगुण और सुरुचिपूर्ण ढंग से अलंकृत होना अपेक्षित है। निष्कर्ष यही निकलता है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्य-परिभाषा से 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का काव्य-लक्षण ध्वनित होता है जिसमें कवि की कृति के रूप में 'काव्य' का रहस्य निर्दिष्ट है।

कवि की कृति में ही 'रसयोग' की भी कला का स्थान है क्योंकि 'रसयोजना' के अभाव में वाक्य का रसात्मक होना असंभव है। हम जिसे 'रसात्मक' मान बैठें वह वाक्य काव्य हो या न हो किन्तु कवि जिस वाक्य में 'रसयोजना' करता है वह वाक्य 'रसात्मक' अवश्य है और 'रसात्मक' होने के नाते 'काव्य' तो है ही। वस्तुतः कवि वही है जो 'रससमाहितचित्त' हुआ करता है और 'रससमाहितचित्त' होकर ही शब्दार्थ-रचना में तत्पर हुआ करता है। 'रससमाहितचित्त' रचनाकार की रचना सर्वत्र अलंकार योजना को अनावश्यक समझती है। माधुर्य आदि गुण तो कवि की 'रससमाधि' के कारण उसकी रचना में अवश्यम्भावी हैं, जिन्हें रस के अपकर्षकारक दोष कहते हैं वे या तो कवि की शक्ति अथवा उसकी रससमाधि के प्रभाव से उसकी रचना के पास फटकते ही नहीं या यदि यदा-कदा लुकते-छिपते आ भी जायँ तो उनका पता नहीं चलता और इसलिए वे खटकते भी नहीं। फिर कवि की 'शक्ति' में 'व्युत्पत्ति' को भी तो वश में करने की शक्ति निहित है।

कहने का अभिप्राय यह है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्य-परिभाषा अपनी उस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संकेत करती रहती है जिसमें काव्य अदोष, सगुण और उचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-सन्दर्भ के रूप में दिखायी देता है।

इस काव्य-परिभाषा की दूसरी ध्वनि है—**'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** (रस-गंगाधर : काव्य-लक्षण)) यह ध्वनि वस्तुतः इस काव्य परिभाषा के ऐतिहासिक विकास की सूचना है। बात यह है कि जब रसात्मक 'वाक्य' को काव्य कहा जाय तब 'वाक्य' के रचनात्मक उपकरण तक पहुँचना आवश्यक हो जाता है। 'रस' से बढ़कर रमणीय अर्थ और क्या हो सकता है ? यह रमणीय अर्थ, जिसे 'रस' कहते हैं, काव्य की आत्मा है। इसलिए 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहने से यही अभिप्राय निकलता है कि 'रमणीयार्थप्रतिपादक वाक्य' काव्य है। यह 'वाक्य' पद-समूह है किन्तु समूह तो 'पद' का ही समूह है इसलिए यदि रमणीय अर्थ के प्रतिपादक 'पद' को काव्य कहा जाय तो आपत्ति क्या ? और यदि 'पद' के बदले 'शब्द' कहा जाय, जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा ही है, तब तो सोने में सुगन्ध आ गयी। 'पद' से वर्णध्वनियों के उस संहतक्रम-स्वरूप का अभिप्राय है जो कि अर्थ-प्रतिपादक हुआ करता है किन्तु 'शब्द' में उन वर्ण ध्वनियों की संगीत-माधुरी और चित्र-वैचित्री का भी रहस्य छिपा है जिसमें रसाभिव्यञ्जन की तन्मात्रायें रहा करती हैं। और सभी कवि अथवा काव्यालोचक यही मानते हैं कि काव्य का परमाणु शब्द अथवा वर्णध्वनि है जिसके आधार पर रसानुकूल पदरचना अथवा शब्दार्थ-योजना

की जाया करती है और जिसके विश्लेषण में, कविता में सङ्गीतात्मकता अथवा चित्रात्मकता की विशेषताओं का विश्लेषण किया जा सकता है।

'रसात्मकता' का विश्लेषण कीजिए। क्या कीजियेगा ? यही कहियेगा कि 'विभावादियोजना' की गयी है। 'विभावादियोजना' किस साधन से की गयी ? 'पद' के द्वारा की गयी। 'पद' एक दृष्टि से अर्थ का प्रतिरूप है और दूसरी दृष्टि से वर्ण-ध्वनियों और उनकी विशेषताओं का आधार है, शब्द है। अब यह स्पष्ट है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की समीक्षा करते करते 'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के निष्कर्ष तक पहुँच गये। किन्तु क्या काव्य का यही लक्षण किया जाय कि 'काव्य रसात्मक वाक्य है' ? रसिकों की रस संवेदना की दृष्टि से तो यही काव्य-लक्षण चतुरस्र लगता है। किन्तु कवि की रस-योजना की दृष्टि से इसे समञ्जस नहीं माना जा सकता। कवि की रस-योजना की दृष्टि से तो 'तददोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' को ही काव्य का निर्दुष्ट लक्षण मानना पड़ जाता है और यदि दोनों दृष्टियों की समन्वयात्मक दृष्टि अपनायी जाय तब 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के काव्य-लक्षण में ही पूर्णता प्रतीत होती है। वैसे तो भगवान् विष्णु को 'शब्दमूर्तिधर' कहा गया है किन्तु कविजन शब्दमूर्तिधर विष्णु की उपासना के रूप में काव्य नहीं रचा करते। कविजन की देवी वाग्देवता सरस्वती है और उसकी सबसे बड़ी विशेषता 'वीणा-सङ्गीत' हैं। यह 'वीणा-सङ्गीत' वर्णध्वनियों की मधुरता और ओजस्विता एवं प्रसन्नता का एक 'रूपक' है। सरस्वती की कृपा से ही, जैसा कि कवियों का विश्वास है, कविता रची जाती है। सरस्वती की सबसे बड़ी कृपा यही हो सकती है कि वह किसी कवि को अपनी वीणा सुना दे। वैसे तो सरस्वती की वीणाझङ्कार सर्वत्र हो रही है और सदा से हो रही है किन्तु उसे सुन सकने का भाग्य विरलों का ही है। किन्तु जो कवि उसे सुना करता है उसका ध्यान पदों की अपेक्षा वर्णध्वनियों पर ही अधिक जमा रहा करता है। सरस्वती की शब्द-वीणा सुनकर कवि उसका स्वयं अभ्यास करता है और उसकी कविता में उसकी शब्दवीणा की ऐसी झङ्कार पैदा हो जाती है जो 'रस' के अवतार की 'माङ्गल्य शङ्ख-ध्वनि' सी लगा करती है।

इसमें सन्देह नहीं कि 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' में कवि की उस शब्दवीणा का संकेत किया जा रहा है जो कि 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' की परिभाषा के रूप में झलक उठता है अथवा शब्दवीणा की उस वादन-शैली की सूचना दी जा रही है जिसे 'तददोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' के मन्त्र की साधना के रूप में समझा जा सकता है।

खास बात तो यह है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्य-लक्षण कुछ ऐसा विचित्र है कि जब तक इसका भावनात्मक निरूपण करते रहिये तब तक तो बड़ा भावपूर्ण और अर्थ-निर्भर लगता रहेगा किन्तु जब बौद्धिक विश्लेषण के अणुवीक्षण-यन्त्र से देखिये तब इसके तत्त्व कपूर की भाँति उड़ते दिखायी देने लगेंगे। कारण यह है कि यह 'काव्य'लक्षण काव्य के उपकरण-तत्त्वों, जैसे कि अलङ्कार, गुण, दोषाभाव और रीति को वाक्य की 'रसात्मकता' का उपकरण नहीं सिद्ध करता अपितु 'रसात्मक वाक्य' का उत्कर्षाधायक मात्र मान बैठता है—'दोषास्तस्यापकर्षकाः। उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः'—साहित्यदर्पण १-३। अलङ्कार, गुण और रीति को यदि रसात्मक वाक्य अथवा 'काव्य' का उत्कर्षाधायक तत्त्व ही माना जाय तब 'प्रतिभा' को भी तो काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व ही मानना पड़ेगा न कि उत्पादक तत्त्व अथवा परम तत्त्व ! यह तो 'कविप्रतिभा' ही जो क्या शब्दग्राम, क्या अर्थसार्थ, क्या अलङ्कारतन्त्र और क्या उक्तिमार्ग—सब कुछ को कवि हृदय में प्रतिभासित किया करती है—

'या शब्दग्राममर्थमलङ्कारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव, प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते, केचन महाकवयोऽपि देशद्वीपान्तरकथापुरुषादिदर्शनेन तत्रत्यां व्यवहृतिं निबध्नन्तिस्म।' (राजशेखर : काव्यमीमांसा : ४ थे अध्याय)

यह कैसा काव्यलक्षण जिससे कविप्रतिभा भी काव्य का उत्कर्षाधायक तत्त्व बना दी जाय?

इतना ही क्यों? इस काव्यलक्षण से काव्य के भेदों का निष्कर्ष निकालना असम्भव है। 'लक्षण' ऐसा होना चाहिये जिससे वस्तु का सामान्य स्वरूप पहचान लिया जाय और जो वस्तु के विशेषों अथवा भेदों में भी अनुगत हो सके। यह काव्यलक्षण 'काव्यसामान्य' का लक्षण कदापि नहीं हो सकता क्योंकि इसमें 'काव्यविशेष' की ही पहचान दी हुई है। यह काव्यविशेष और कोई काव्य नहीं अपितु रसध्वनिकाव्य ही अथवा रसादिध्वनिकाव्य ही हो सकता है। तब 'काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्' (साहित्यदर्पण ४. १) कैसे कह दिया गया? बात यह है कि पहला काव्यप्रकार अर्थात् रसादिध्वनिरूप काव्यप्रकार तो लक्षण में ही आ गया है। उसे लक्षण से बाहर कैसे किया जा सकता है और दूसरे काव्यप्रकार अर्थात् 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'रूप काव्यप्रकार को 'रसात्मक वाक्य'रूप भी एक साँस में कैसे कहा जा सकता है। 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' काव्य का वह भेद और वस्तुतः उस भेद का भी एक अंश ही रसात्मक कहा जा सकता है जिसे 'इतराङ्ग' व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य कहा गया है—

(इतराङ्गमितरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम्, यथा—

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीविविस्रंसनः करः॥'

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्—साहित्यदर्पण : ४. १३)।

फिर कवि-परम्परा से चल आते शब्दचित्र और अर्थचित्र की रचनाओं को कहाँ रखा जायगा? इन्हें काव्य तो कहा नहीं जा सकता क्योंकि ये ऐसे वाक्य हैं जो रसात्मक नहीं प्रतीत हुआ करते। इनके लिये अकाव्य की एक नयी श्रेणी बनानी पड़ेगी। यदि यह कहा जाय कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' में ही यह भी कह दिया गया है कि 'वाक्यमरसात्मकमकाव्यम्' और इसलिये 'चित्रकाव्य' के लिये कोई चिन्ता नहीं, तब भी इतना तो पूछना ही पड़ेगा कि बड़े-बड़े आलङ्कारिक क्योंकर शब्दचित्र और अर्थचित्र की रचनाओं को 'कविकृति' मानते आये हैं? 'कवेः कर्म काव्यम्'—काव्य वह है जो कवि की कृति है अथवा कविता-कला द्वारा उत्पाद्य कलात्मक वस्तु है। कविकृति के रूप में जैसे 'रसात्मक वाक्य' की पहचान काव्यमर्मज्ञता की एक परीक्षा है वैसे ही 'चित्रात्मक वाक्य' की भी पहचान काव्यमर्मज्ञता की दूसरी परीक्षा है। जो आलंकारिक दूसरी परीक्षा में उत्तीर्ण हो सकता है वही पहली परीक्षा में बैठ सकता है। दूसरी परीक्षा में बैठना ही 'आलङ्कारिकता' का पहला अभ्यास है। इसमें बैठने का अर्थ यह नहीं कि इसे तुच्छ समझा जाय अपितु यह है कि इसकी उपयोगिताओं का पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय। तभी तो काव्यप्रकाशकार ने अवर, मध्यम और उत्तम काव्य का श्रेणीविभाग मन में रखते 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' के लक्षण में काव्य-सामान्य का स्वरूप-निर्देश किया है। और चलिये—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' अवश्य कहिये किन्तु फिर 'साक्षात् रसात्मकम्' और 'परम्परया रसात्मकम्' का भी अभिप्राय मन में

रखिये, नहीं तो, इस काव्यलक्षण से 'रसध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य'रूप काव्य-विशेषों अथवा काव्य-भेदों की सङ्गति कैसे बैठ पायेगी ? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्यलक्षण 'ध्वनि'काव्य से तो सर्वथा संगत कदापि माना नहीं जा सकता क्योंकि 'ध्वनि'काव्य का लक्षण है—

'वाच्यातिशयिनी व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्। वाच्यादधिकचमत्कारिणी व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् !

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥'

(साहित्यदर्पण : ४, १-२)

और इसमें 'रसात्मकता' का सम्बन्ध केवल अभिधामूलक ध्वनिकाव्य से ही जुड़ पाता है न कि लक्षणामूलक ध्वनिकाव्य से भी। अब जब कि 'काव्य' अथवा 'रसात्मक वाक्य' का पहला ही भेद ऐसा है जिसमें केवल रसात्मकता ही नहीं अपितु वस्तु और अलङ्कार आदिरूप ध्वन्यात्मकता भी है तब यह कैसे मान लिया जाय कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का काव्यलक्षण बड़ा सुन्दर है, बड़ा मार्मिक और बड़ा युक्तिपूर्ण है। यह काव्यलक्षण तो गड़बड़ सा लगता है। अच्छा है इसे काव्य का लक्षण न माना जाय।

फिर 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का क्या किया जाय ? अलङ्कारशास्त्र में इसे स्थान दिया जाय या नहीं ? इतना तो निश्चित है कि अलङ्कारशास्त्र में 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' ने अपना एक स्थान बना लिया है और यह स्थान एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस 'काव्यलक्षण' के महत्व के कई एक कारण हैं। सबसे पहला कारण यह है कि इसमें आनन्दवर्धनाचार्य की 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की विचारधारायें केन्द्रित दिखायी दिया करती हैं। आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' की उक्ति में काव्य का लक्षण नहीं किया क्योंकि उनका कार्य काव्य का लक्षण-निर्माण नहीं अपितु कलाकृति के रूप में 'काव्य' का रचनात्मक और रसनात्मक विश्लेषण था। यह महान् कार्य जब हो चुका और अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में 'ध्वनिवाद' एक 'काव्यवाद' के बदले 'काव्यदर्शन' और 'काव्यसाधना' के रूप में प्रतिष्ठित हो गया तब उसकी मान्यताओं के स्पष्टीकरण में, एक काव्य-लक्षण का निर्माण, एक ऐतिहासिक आवश्यकता बन गया। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की सर्वप्रथम पहचान विश्वनाथ कविराज ने ही की और अपनी साहित्यिक प्रवृत्तियों और संवेदनाओं के आधार पर, इसकी पूर्ति का भी सर्वप्रथम भगीरथ-प्रयत्न उन्हीं का कार्य है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के रूप में विश्वनाथ कविराज ने केवल अपने युग की ही साहित्यिक संवेदनाओं की सूचना नहीं दी अपितु बाद के युगों की साहित्यिक संविदाओं को भी पर्याप्त रूप से प्रेरित किया।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की काव्य-परिभाषा के महत्त्व का दूसरा कारण यह है कि इससे इस बात की पुष्टि हो जाती है कि 'काव्य' की कोई भी परिभाषा काव्य का चतुरस्र लक्षण नहीं बना सकती। काव्य की कोई भी परिभाषा न बन पाय—यह तो काव्य का सौभाग्य है, दुर्भाग्य नहीं। प्रत्येक आलङ्कारिक अपने अपने युग की काव्यात्मक चेतनाओं को काव्यलक्षण के रूप में प्रकट किया करता है। उसका काव्य-लक्षण उसके युग के लिये ठीक है किन्तु सभी युगों के लिये वही एक आदर्श हो ऐसी बात ठीक नहीं मानी जा सकती। विश्वनाथ कविराज के समसामयिक काव्यरसिक 'रस' की आलोचना-प्रत्यालोचना में आनन्द किया करते थे। ये काव्यरसिक काव्यमर्मज्ञ भी थे। इन काव्यमर्मज्ञों में कुछ की विचारधाराओं से हम परिचित भी हैं। जैसे कि विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह ही 'विस्मय' की 'अनुभूति' को 'रसानुभूति' के रूप में सिद्ध करने में दत्तचित्त थे—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।'

(साहित्यदर्पण : तृतीय परिच्छेद)

अथवा जैसे कि विश्वनाथ कविराज के सगोत्र, कविपण्डितमुख्य श्री चण्डीदास ने काव्य में 'रसास्वाद' की अवस्था में 'रसध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के विवेक की असंभावना का सिद्धान्त स्थापित किया था—

'काव्यार्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यस्य तन्मयीभावेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्ताव-न्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तु-मीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात्।'

(साहित्यदर्पण : चतुर्थ परिच्छेद)

'रस' की इन विचारधाराओं में जिसका हृदय डूबता-उतराता हो, उसके लिए 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अतिरिक्त और काव्यलक्षण क्योंकर अभिप्रेत हो? इस काव्यलक्षण में वही काव्य-विषयक रहस्य निर्भिन्न अथवा अनिर्भिन्न पड़ा है जिसे रसविषयक विचार-विमर्श में देखा जा सकता है।

विश्वनाथ कविराज की काव्य-परिभाषा के महत्त्व के तीसरे कारण के रूप में जो बात दिखायी देती है वह यह है कि इसी परिभाषा के द्वारा 'रसात्मक वाक्य और रसात्मक महावाक्य' अथवा 'महाकाव्य की रसात्मक एकवाक्यता' का सिद्धान्त सबसे पहले प्रवर्तित हुआ। विश्वनाथ कविराज के पहले के सभी आलङ्कारिक 'महाकाव्यप्रबन्ध' की दृष्टि से काव्य-लक्षण न कर काव्यवाक्य की दृष्टि से ही काव्यलक्षण किया करते थे। वैसे 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' का काव्य-लक्षण भी महाकाव्य-प्रबन्ध की दृष्टि से काव्यलक्षण माना जा सकता है क्योंकि अदोष, सगुण और औचित्य के साथ अलंकृत शब्दार्थयुगल समस्त महाकाव्य-प्रबन्धरूप शब्दार्थयुगल सिद्ध हो सकता है किन्तु 'महाकाव्य-प्रबन्ध' को केवल अदोष, सगुण और उचित रूप से अलंकृत 'शब्दार्थ-समुच्चय' कहना महाकाव्य-प्रबन्धविषयक अनभिज्ञता के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के काव्यलक्षण से ही विश्वनाथ कविराज की वह समीक्षादृष्टि परिष्कृत हुई जिसे हम उनकी निम्न महाकाव्य-प्रबन्ध भावना में स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित देख सकते हैं—

'ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषाञ्चिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेन्न। रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्।'

(साहित्यदर्पण : प्रथम परिच्छेद)

ऐसा लगता है जैसे अन्य आलङ्कारिकों ने 'मुक्तक' की दृष्टि से काव्य की परिभाषा की, और विश्वनाथ कविराज ही ऐसे सर्वप्रथम एक आलङ्कारिक हैं जिनकी दृष्टि 'महाकाव्यप्रबन्ध' के आधार पर 'काव्य'स्वरूप के निरूपण में प्रवृत्त हुई।

काव्यलक्षण करने में किस कवि अथवा रसिक के मन में उद्विग्नता नहीं पैदा होगी? ध्वनि-कार आनन्दवर्धन ने 'काव्यलक्षण' की ये संभावनायें निर्दिष्ट की थीं—

(१) **शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम्'** (ध्वन्यालोक : उद्योत १)। इस काव्यलक्षण में जो कमी थी उसे भी उन्होंने ही इस प्रकार निर्दिष्ट किया—

'तत्र च शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसंघटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः, ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ।'

यह काव्यलक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' (भामह) का संकेत करता है । इसमें काव्यशरीर का निरूपण अवश्य है और काव्यशरीर के सौन्दर्याधायक किंवा सौन्दर्यवर्धक तत्त्वों का भी संकेत निर्विवाद है किन्तु इसमें एक कमी है और वह है काव्य के 'आत्मतत्त्व' की कमी । इस काव्य-लक्षण पर चार्वाकदर्शन का प्रभाव स्पष्ट है किन्तु इसी की दृष्टि से 'काव्य' का स्वरूप परमार्थ नहीं बताया जा सकता ।

(२) 'सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्' (ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत) । किन्तु यहाँ भी सहृदयहृदय की आह्लादजनकता के रूप में शब्द और अर्थ के ही सौन्दर्य और वैचित्र्य का संकेत है न कि काव्य के किसी अन्तस्तत्त्व का ।

(३) 'काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः'''(ध्वन्यालोक : प्रथम उद्योत) । यह 'काव्यलक्षण' रसध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन को मान्य है क्योंकि इसमें 'साररूप से अवस्थित रसरूप आत्मतत्त्व के अभिव्यञ्जन के आधाररूप में' 'शब्दार्थयुगल' को 'काव्य' माना गया है । विश्वनाथ कविराज का काव्यलक्षण इन सम्भावनाओं को सामने रखकर चल रहा है । 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' और 'काव्यं हि ललितोचितसन्निवेशचारुसहृदयहृदयाह्लादिसाररूपरसात्मकं शब्दार्थयुगलम्' में तात्पर्यतः कोई भेद नहीं ।

'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सम्बन्ध में इतना अवश्य कहना पड़ता है कि यह काव्यलक्षण 'रस-ध्वनिप्रबन्ध' का ही लक्षण है न कि 'काव्यप्रबन्ध' का । ध्वनिकार के लिये तो 'रसध्वनिप्रबन्ध' का ही लक्षण आवश्यक था किन्तु साहित्यदर्पणकार के लिए काव्य-प्रबन्ध का ही लक्षण अपेक्षित प्रतीत होता है । इस दृष्टि से देखते इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'रसध्वनिप्रबन्ध' के लिए तो 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का लक्षण सर्वथा चतुरस्र है किन्तु इस लक्षण के साथ 'साहित्यदर्पण' के अनेक विवेच्य विषयों का सम्बन्ध टूटता दिखाई देता है । इसमें साहित्यदर्पणकार का दोष कम और 'काव्य' स्वरूप की स्वसंवेद्यता और अनिर्वचनीयता का गुण अधिक है ।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि । काव्यादेव''' ॥

सभी काव्य मर्मज्ञों ने 'काव्य' के प्रयोजन की चिन्ता और चर्चा की है । किन्तु 'अलङ्कारशास्त्र' के प्रयोजन की चिन्ता किसी को न हुई । विश्वनाथ कविराज ने ही सर्वप्रथम स्पष्टतया 'काव्य' और 'काव्यालोचना' अथवा 'कवि' और 'काव्यालोचक' के एकरस प्रयोजन अथवा उद्देश्य का विचार-विमर्श किया है । 'अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह' (साहित्यदर्पण : १म परिच्छेद) की भूमिका के साथ, काव्य-प्रयोजन के रूप में 'चतुर्वर्गप्राप्ति' की प्रतिष्ठा अलङ्कारशास्त्र अथवा साहित्यशास्त्र में एक महत्त्व रखती है । यशःप्राप्ति, अर्थलाभ, व्यवहारज्ञान, अमङ्गलनिवारण, रसास्वाद और सरसोपदेश के काव्य-प्रयोजनों को 'चतुर्वर्ग' अथवा 'पुरुषार्थचतुष्टय' में अन्तर्भूत करना एक आवश्यक काव्यविषयक विचार है । मनुष्य की सभी क्रियाएँ चतुर्वर्ग के भीतर समा जाती हैं । काव्य भी मनुष्य की क्रिया है और काव्यसमीक्षा

काव्य क्रिया का एक अङ्ग है—इस दृष्टि से काव्य और काव्यसमीक्षा का उद्देश्य वैयक्तिक और सामाजिक चतुर्वर्गप्राप्ति ही हो सकता है। वैसे 'वक्रोक्तिजीवितकार' आचार्य कुन्तक ने भी 'चतुर्वर्गप्राप्ति' को ही कवि और सहृदय के प्रयोजनरूप से माना है—

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः॥'

हृदयाह्लादकारकश्चित्तानन्दजनकः काव्यबन्धः सर्गबन्धादिर्भवतीति सम्बन्धः। कस्येत्याकांक्षायामाह—अभिजातानाम्। अभिजाताः खलु राजपुत्रादयः धर्माद्युपेयार्थिनो विजिगीषवः क्लेशभीरवश्च सुकुमाराशयत्वात्तेषाम्। तथा सत्यपि तदाह्लादकत्वे काव्यबन्धस्य क्रीडनकादिप्रख्यता प्राप्नोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः। धर्मादेरुपेयभूतस्य साधने सम्पादने तदुपदेशरूपत्वादुपायस्तत्प्राप्तिनिमित्तम्। तथापि तथाविधपुरुषार्थोपदेशपरैरपरैरपि शास्त्रैः किमपराद्धमित्यभिधीयते—सुकुमारक्रमोदितः। कुसुमारः सुन्दरः सहृदयहृदयहारी क्रमः परिपाटीविन्यासस्तेनोदितः कथितः सन्। अभिजातानामाह्लादकत्वे सति प्रवर्तकत्वात् काव्यबन्धो धर्मादिप्राप्त्युपायतां प्रतिपद्यते। शास्त्रेषु पुनः कठोरक्रमाभिहितत्वात् धर्माद्युपदेशो दुरवगाहः। तथाविधे विषये विद्यमानोऽप्यकिञ्चित्कर एव।...... तदेवं शास्त्रातिरिक्तं प्रगुणमस्त्येव प्रयोजनं काव्यबन्धस्य।' (वक्रोक्तिजीवित : १म उन्मेष)

किन्तु अलङ्कारशास्त्र के प्रयोजन के रूप में उन्होंने 'लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धि' का ही संकेत किया है। वक्रोक्तिजीवितकार ने 'चतुर्वर्गप्राप्ति' के बाद काव्य के 'लोकयात्राप्रवर्त्तननिमित्त' प्रयोजन और 'तदात्वरमणीय' प्रयोजन—क्योंकि चतुर्वर्गप्राप्तिरूप प्रयोजन समयान्तरभावी ही प्रयोजन हो सकता है—का अलग परिगणन किया है—

'व्यवहारपरिस्पन्द-सौन्दर्य-व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते॥

तदिदमुक्तं भवति—महतां हि राजादीनां व्यवहारे वर्ण्यमाने तदङ्गभूताः सर्वे मुख्यामात्यप्रभृतयः समुचितप्रातिस्विककर्त्तव्यव्यवहारनिपुणतया निबध्यमानाः सकलव्यवहारिवृत्तोपदेशतामापद्यन्ते। ततः सर्वः कश्चित् कमनीयकाव्ये कृतश्रमः समासादितव्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यातिशयः श्लाघनीयफलभाग् भवति।

योऽसौ चतुर्वर्गलक्षणः पुरुषार्थस्तदुपार्जनविषयव्युत्पत्तिकारणतया काव्यस्य पारम्पर्येण प्रयोजनमित्याम्नातः, सोऽपि समयान्तरभावितयातदुपभोगस्य तत्फलभूताह्लादकारित्वेन तत्कालमेव पर्यवस्यति। ततस्तद्व्यतिरिक्तं किमपि सहृदयहृदयसंवादसुभगं तदात्वरमणीयं प्रयोजनान्तरमभिधातुमाह—

चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥

योऽसौ चतुर्वर्गफलास्वादः प्रकृष्टपुरुषार्थतया स्वशास्त्रप्रयोजनत्वेन प्रसिद्धः सोऽप्यस्य काव्यामृतचर्वणचमत्कारकलामात्रस्य न कामपि साम्यकलां कर्तुमर्हतीति।......

'कटुकौषधवच्छास्त्रमविद्याव्याधिनाशनम्।
आह्लाद्यमृतवत्काव्यमविवेकगदापहम्॥'

(वक्रोक्तिजीवित : १म उन्मेष)

विश्वनाथ कविराज ने आचार्य कुन्तक से बहुत कुछ लिया है किन्तु 'चतुर्वर्ग' अथवा 'पुरुषार्थ-चतुष्टय' के बाहर 'लोकयात्राप्रवर्तन'रूप किसी अतिरिक्त काव्यप्रयोजन की मान्यता उन्हें खटक जाती है। विश्वनाथ कविराज 'रसास्वाद' को 'तदात्वरमणीय' काव्यप्रयोजन कैसे मान सकते हैं? उनके लिये काव्य 'रसात्मक वाक्य' है। सहृदय का रसास्वाद काव्य के स्वरूप की ही पहचान है। 'रसास्वाद' को पृथक् रूप से काव्य का प्रयोजन तो वह माने जो काव्य को अदोष, सगुण तथा समुचित रूप से अलंकृत शब्दार्थ-सन्दर्भ कहे। 'रसास्वाद'रूप काव्यप्रयोजन तो वस्तुतः काव्य-स्वरूप-संस्पर्शी प्रयोजन है। यह तो काव्य की एक अपनी विशेषता है। काव्य के प्रयोजन रूप से उसी का निर्देश आवश्यक है जो मानव जीवन का प्रयोजन है, मनुष्य की कृतियों का उद्देश्य है। यह उद्देश्य अथवा प्रयोजन 'पुरुषार्थचतुष्टय' की प्राप्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? 'पुरुषार्थचतुष्टय' में ही 'लोकयात्राप्रवर्तन' समा जाता है। इस दृष्टि से 'चतुर्वर्गप्राप्ति' को रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना, रसना और समीक्षा का समान प्रयोजन सिद्ध करना अत्यन्त उपयुक्त है।

'रामादिवद्वर्तितव्यम् न रावणादिवत्'—यह काव्य का प्रयोजन चतुर्वर्गप्राप्ति-रूप प्रयोजन का ही एक संकेत है। शास्त्र का भी प्रयोजन चतुर्वर्ग-प्राप्ति है किन्तु चतुर्वर्ग-प्राप्ति के लिये शास्त्रमार्ग का अवलम्बन कष्टकारक और आयासमय है। काव्य के द्वारा चतुर्वर्गप्राप्ति में सर्वसाधारण का अधिकार है क्योंकि काव्य के अधिकारी की योग्यता वर्णाश्रम-धर्म का अनुपालन नहीं अपितु सहृदयता की योग्यता है। विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है—

'चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव। ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वाच्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्।' (साहित्यदर्पण : १म परिच्छेद) अर्थात् शास्त्र से चतुर्वर्गप्राप्ति दुःखसाध्य है और सभी के लिये सम्भव नहीं। काव्य का स्वरूप ही आनन्दात्मक है जिसके कारण काव्य से चतुर्वर्गप्राप्ति सुखसाध्य है और मनुष्यमात्र के लिये सम्भव है। वेदादिशास्त्र तो मानव जीवन के ताप-संताप के निवारणार्थ 'कड़वी औषध' हैं किन्तु काव्य वह 'मीठी खांड़' है जिसके आस्वाद में ही ताप-संताप अनायास शान्त हो जाते हैं।

वैसे काव्य के इस सरस चतुर्वर्गप्राप्तिरूप काव्यप्रयोजन का निर्देश आचार्य रुद्रट का ही किया हुआ है—

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः॥'

जिसे आचार्य मम्मट ने इस उक्ति में दुहराया है—

'कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखीकृत्य रामादिवद् वर्तितव्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोगं कवेः सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्।'

(काव्यप्रकाश : १म उल्लास)

किन्तु विश्वनाथ कविराज की यहाँ एक और ही विशेषता दिखाई देती है और वह यह है कि उन्होंने कवि और सहृदय के अतिरिक्त आलङ्कारिक अथवा काव्यसमीक्षक के लिये भी, काव्य के प्रयोजनरूप से 'चतुर्वर्गप्राप्ति' का ही उल्लेख किया है।

कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में, काव्यकृति के हेतुरूप में, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के विचार-विमर्श की परिपाटी-सी चलती आयी है। साहित्यदर्पणकार की साहित्यिक समीक्षाओं के प्रेरक आचार्य मम्मट ने काव्य-हेतु के सम्बन्ध में कहा ही है—

'शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥' (काव्यप्रकाश : १. २)

साहित्यदर्पणकार ने इस विषय पर अपना कोई मत नहीं दिया। इसका कोई विशेष कारण समझ में नहीं आता। बहुत सम्भव है साहित्यदर्पणकार इस विषय में काव्य-प्रकाशकार से सहमत रहे हों और इसीलिए इस विषय पर अपना विशेष विचार छोड़ दिया हो। अथवा यह भी सम्भव है कि उन्होंने 'रसास्वाद' के लिये अपेक्षित 'इदानींतनी' और 'प्राक्तनी' वासना को ही रसात्मकवाक्यरूप काव्य के निर्माण का भी हेतु सोचा हो—

'न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्......

वासना चेदानींतनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि सा स्यात्, यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।' (साहित्यदर्पण : ३य परिच्छेद)

रत्यादिवासना-वासित कवि-हृदय ही रसात्मक वाक्य की रचना करने में समर्थ हो सकता है। विश्वनाथ कविराज ने वस्तुतः अपने समय के ही कुछ काव्यप्रेमियों को लक्ष्य में रखकर यह कहा है कि 'कुछ लोग ऐसे भी हुआ करते हैं जो इस जन्म में तो बड़े रागी दिखायी देते हैं किन्तु पूर्व जन्म के काव्यास्वाद के अभाव में इस जन्म में भी रसास्वाद से वञ्चित रह जाते हैं।' इससे यह निष्कर्ष अवश्य निकल जाता है कि विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में 'कवि' और 'काव्यरसिक' एक जन्म में कोई नहीं बन पाता। *कविता और रसिकता जन्म-जन्मान्तर से आने वाली—ईश्वरीय देन है।* कविता और रसिकता को विशिष्ट व्यक्तियों की आत्मिक शक्ति मानना ही ठीक है। इस मान्यता की ही पुष्टि के लिये विश्वनाथ कविराज ने अग्निपुराण की यह सूक्ति उद्धृत की है—

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥

जिसका अभिप्राय यह कि 'कई जन्मों में कोई प्राणी मानवशरीर धारण कर पाता है, मानव होने पर भी कई जन्म विद्याभ्यास के लिये बीत जाते हैं, कई जन्मों में कोई विद्वान् कविता कर पाता है और कवित्व शक्ति के लिये यदि और भी बीत जायँ तो सन्देह क्या?'

इस सूक्ति के बल पर विश्वनाथ कविराज ने काव्य की उपादेयता सिद्ध की है। 'काव्य की उपादेयता' का अभिप्राय प्रत्येक सहृदय को कवि बनने और कवित्व शक्ति की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होने का उपदेश है। साथ ही साथ यहाँ यह संकेत भी है कि केवल विद्या होने से ही 'कवित्व' कार्यकर नहीं हुआ करता। 'कवित्व' का कार्यकर होना 'कवित्वशक्ति' के हाथ में है। यह 'कवित्वशक्ति' क्या है? यह कवित्वशक्ति काव्य की उत्पत्ति का बीज है जैसा कि आचार्य मम्मट ने कहा है—

'शक्तिः कवित्वबीजभूतः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत्, प्रसृतं वोपहसनीयं स्यात्।' (काव्यप्रकाश : १म उल्लास)

विश्वनाथ कविराज इस 'शक्ति' को ही 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्य के निर्माण और समुल्लास का हेतु मान सकते हैं, और वस्तुतः इसी दृढ़ धारणा से उन्होंने काव्य-निर्माण के हेतु का अलग कोई विचार नहीं किया है। 'शक्ति' कविता के उद्भव में एकमात्र हेतु है और काव्यालोचना भी 'शक्ति' का ही कृपा-प्रसाद है। हृदय में काव्यतत्त्वों के अवभासन के लिए 'शरदिन्दुसुन्दररुचि' वाग्देवी की वन्दना का भी यही संकेत है कि 'वाग्देवी' ही कवित्व और रसिकत्व-शक्ति के प्रदान की अधिष्ठात्री देवी हैं।

तिस्रः शब्दस्य शक्तयः

ध्वनिवादी काव्याचार्यों की भाँति विश्वनाथ कविराज ने भी शब्द की तीन शक्तियों का स्वरूप-निरूपण किया है। शब्द की ये तीन शक्तियाँ उसकी तीन उपाधियाँ हैं जिन्हें 'अभिधा', 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' के रूप में पहचाना जा सकता है और जिनके कारण शब्द 'वाचक', 'लाक्षणिक' और 'व्यञ्जक' रूप से प्रतीत हुआ करता है—

'अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् त्रिविधो मतः।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा॥ (सा० द० : २. १९)

विश्वनाथ कविराज ने 'अभिधा' शक्ति को 'वाच्य-अर्थ की बोधिका' अग्रिमा शक्ति कहा है। (वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यः, अग्रिमाऽभिधा—साहित्यदर्पण : २. ३, ४)। काव्यप्रकाशकार भी 'अभिधा' को शब्द का 'मुख्य व्यापार' कह चुके हैं। दोनों में कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो कुछ भी थोड़ा भेद है वह अभिधा के प्रतिपादन प्रकार में है। काव्यप्रकाशकार ने 'संकेतग्रह' के उपायों में केवल 'वृद्धव्यवहार' का ही उल्लेख किया है जो कि अभिहितान्वय और अन्विताभिधान—दोनों वादों में समान रूप से मान्य है। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'वृद्धव्यवहार' के अतिरिक्त 'आप्तोपदेश' और 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार' को भी 'शक्तिग्रह' के उपाय रूप से प्रतिपादित किया है। यहाँ विश्वनाथ कविराज की दृष्टि वही है जो 'शक्तिग्रह' के उपाय-प्रतिपादक निम्नलिखित श्लोक-वाक्य में दिखायी देती है—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥'

काव्यप्रकाशकार ने उपाधि-शक्तिवाद के साथ-साथ जाति शक्तिवाद, जाति-विशिष्ट-व्यक्तिशक्तिवाद और साथ ही साथ अपोहशक्तिवाद का भी निर्देश कर दिया है जिससे काव्यशास्त्र के पाठक, शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में, इन विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं से परिचित रहें। किन्तु विश्वनाथ कविराज केवल उपाधि-शक्तिवाद का निरूपण करते हैं जो कि अलङ्कार शास्त्र के लिये विशेषरूप से उपयुक्त है।

'अभिधा' के बाद दूसरी शब्दशक्ति 'लक्षणा' है जिसके लक्षण में काव्यप्रकाशकार ने यह कहा है—

'मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिता क्रिया॥' (का० प्र० : २. ९)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'लक्षणा' के प्रयोजक-रूप से 'मुख्यार्थबाध', मुख्यार्थयोग', 'रूढि अथवा प्रयोजन' का स्पष्ट परिगणन किया हुआ है। किन्तु विश्वनाथ कविराज की इस 'लक्षणा'-परिभाषा अर्थात्—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (सा० द० : २.५)

में लक्षणा के जिन प्रयोजकों का निर्देश है उनमें 'मुख्यार्थबाध' और 'रूढि अथवा प्रयोजन' ही आते हैं। यहाँ यही प्रतीत होता है कि वह शब्द, जिसका मुख्य अर्थ अनुपपन्न होने लगता है रूढि अर्थात् प्रयोग-प्रवाह अथवा प्रयोजन-प्रतिपादन के कारण, अपने मुख्य अर्थ से, किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध एक अन्य अर्थ को देने लगता है और ऐसा करने में उसमे जो शक्ति उत्पन्न हो जाया करती है उसका नाम 'लक्षणा' है। 'अभिधा' तो शब्द की स्वाभाविक शक्ति है और लक्षणा आरोपित अथवा काल्पनिक शक्ति क्योंकि शब्द और उसके लक्ष्यार्थ के बीच अनुपपन्न मुख्यार्थ का व्यवधान अनिवार्य है।

वैसे काव्यप्रकाश के लक्षणा-लक्षण में 'मुख्यार्थबाध' और 'मुख्यार्थयोग'—दोनों को लक्षणा-प्रयोजक मानने में, गौरव होने पर भी, कुछ स्पष्टता अवश्य है किन्तु साहित्यदर्पण की लक्षणा-परिभाषा में 'मुख्यार्थबाध' होने पर, रूढि या प्रयोजनवश, मुख्यार्थ सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति को जो 'लक्षणा' माना गया है उसमें 'लाघव' होने पर भी कुछ क्लिष्टता दिखायी ही दे जाती है। 'लाघव' भी हो तो ऐसा हो जैसा 'रसगङ्गाधर'कार के लक्षणा-निरूपण में है—'शक्यसम्बन्धः लक्षणा'।

तस्याश्चार्थोपस्थापकत्वे मुख्यार्थतावच्छेदके तात्पर्यविषयान्वयितावच्छेदकताया अभावो न तन्त्रम्। शक्यतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यमाणस्य स्वीकारात्। किन्तु तात्पर्यविषयान्वये मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण मुख्यार्थप्रतियोगिकताया अभावो रूढिप्रयोजनयोरन्यतरच्च तन्त्रम्। मुख्यार्थान्वयानुपपत्तेः तन्त्रत्वे तु 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यत्र लक्षणोत्थानं न स्यात्। 'गङ्गायां घोष' इत्यत्र 'सामीप्यम्, 'मुखचन्द्रः' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेक-लक्षणायां विरोधः, 'आयुर्घृत'मित्यादौ कारणत्वादयश्च सम्बन्धा यथायोगं लक्षणा-शरीराणि।

(रसगङ्गाधर : २य आनन)

अर्थात् 'लक्षणा' के प्रयोजकरूप से मुख्यार्थबाध की मान्यता अनावश्यक है। कारण यह है कि 'गङ्गायां घोषः' आदि में 'शैत्य-पावनत्व' आदिरूप प्रयोजन की प्रतीति तभी मानी जा सकती है जब कि 'गङ्गा' आदि शब्दों के 'तटादि' अर्थों को 'मुख्यार्थतावच्छेदक' रूप से प्रतीत माना जाय अर्थात् यह समझा जाय कि 'तटादि'रूप अर्थ मुख्यार्थ (गङ्गात्व अथवा प्रवाह) के बाधक नहीं है। लक्षणा का प्रयोजक तो रूढि अथवा प्रयोजन में किसी एक को माना जाना चाहिये या यह माना जाना चाहिये कि 'लक्षणा' में मुख्यार्थ अन्वित होने पर भी मुख्यार्थरूप से अन्वित नहीं होता, क्योंकि यदि मुख्यार्थ की अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का प्रयोजक माना जाय, तब 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' में लक्षणा नहीं मानी जा सकती, जिसे माना जाया करता है क्योंकि 'काक' पद का मुख्यार्थ 'दधि' की रक्षण-क्रिया में बाधित नहीं, अपितु अबाधित ही प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज ने 'लक्षणा' के सम्बन्ध मे कतिपय ऐसी बातों का भी निर्देश किया है जिन्हें 'काव्यप्रकाश'कार ने सोच-समझकर छोड़ दिया है। जैसे कि 'काव्यप्रकाश'कार ने व्यङ्ग्यार्थ-

गर्मता के आधार पर लक्षणा के दो ही भेद गिनाये हैं—(१) गूढव्यङ्ग्या और (२) अगूढव्यङ्ग्या। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने इनमें भी प्रयोजन के 'धर्मिगत' और 'धर्मगत' भेद निर्दिष्ट कर दिये हैं जिससे प्रयोजनवती लक्षणा की भेद संख्या बढ़ गयी है। यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा की भेद-संख्या के घटने-बढ़ने का कोई विशेष महत्त्व नहीं, यहाँ तो 'लक्षणा' और 'व्यञ्जना' की स्वरूप-सङ्कीर्णता का प्रश्न है। विश्वनाथ कविराज ने निम्न सूक्ति अर्थात्—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव॥'

में प्रयुक्त 'राम' शब्द में, धर्मिगत प्रयोजनवती गूढव्यङ्ग्या लक्षणा का और 'गङ्गायां घोषः' के 'गङ्गा'पद में, धर्मगत प्रयोजनवती गूढव्यङ्ग्या लक्षणा का स्वरूप देखा है। 'स्निग्धश्यामल' आदि सूक्ति का 'राम' पद ध्वनिकार, लोचनकार और काव्यप्रकाशकार की भी दृष्टि में 'व्यञ्जक' पद है। यह अवश्य है कि इस पद की व्यञ्जना 'अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यव्यञ्जना' है। लोचनकार का स्पष्ट निर्देश है—

'रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्'''।

(ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

अर्थात् 'कठोरहृदय' पद का प्रयोग 'राम' शब्द के द्वारा उन-उन अर्थों की व्यञ्जना में बड़ा उपकारक है। वस्तुतः इसी दृष्टि से लोचनकार ने यह भी कहा है—

'रामशब्देनानुपयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरं प्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेण शक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति।

यथोक्तम्—

'उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत्तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद्ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत्॥'

(ध्वन्यालोकलोचन : २ य उद्योत)

ऐसी परिस्थिति में, 'राम' पद को व्यञ्जक मानने से इस रसात्मक वाक्यरूप काव्य का स्वरूपविमर्श किया जा सकता है या 'लाक्षणिक' मानने से? विश्वनाथ कविराज भी यहां यही कहेंगे कि 'राम' पद व्यञ्जक है। फिर 'धर्मिगत प्रयोजनवती लक्षणा' की मान्यता यहां किस काम की? 'गङ्गायां घोषः' से भी लक्षणीय अर्थ और व्यञ्जनीय प्रयोजन की प्रतिपत्ति लक्षणा द्वारा ही सम्भव नहीं मानी जाती। फिर 'गङ्गा' पद में 'धर्मगत प्रयोजनवती लक्षणा' के विमर्श का क्या रहस्य?

कहने का तात्पर्य यह है कि 'व्यञ्जना'वादी काव्याचार्यों के लिये 'लक्षणा'-निरूपण में बाल की खाल निकालना अपेक्षित नहीं क्योंकि तब तो 'व्यञ्जना' का बहुत बड़ा क्षेत्र इसी में समा जायगा!

अस्तु, विश्वनाथ कविराज का 'व्यञ्जनाशक्ति'-निरूपण बड़ा सुबोध और सारगर्भित बन पड़ा है। इस एक श्लोक में 'वाच्य' और 'व्यङ्ग्य' अर्थों का परस्पर विवेक कितना स्पष्ट और सुन्दर है—

'बोद्‌धृ-स्वरूप-संख्या-निमित्त-कार्य-प्रतीति-कालानाम् ।
आश्रय-विषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः ॥' (सा० द० : ५-२)

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थों में आकाश-पाताल का अन्तर है—वाच्यार्थ के बोद्धा पद-पदार्थवित् हो सकते हैं किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोद्धा सहृदय हुआ करते हैं; वाच्यार्थ यदि कहीं विधिरूप होता है तो वहीं व्यङ्ग्यार्थ 'निषेध'रूप हो जाया करता है; वाच्यार्थ यदि एक है तो व्यङ्ग्यार्थ अनेक—अनन्त रूपों का हुआ करता है; वाच्यार्थ का बोध शब्दोच्चारण-मात्र से संभव है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के बोध के लिए भावयित्री प्रतिभा की अपेक्षा हुआ करती है; वाच्यार्थ से 'प्रतीति' उत्पन्न होती है और व्यङ्ग्यार्थ से चमत्कार; वाच्यार्थ आपात में प्रतीत होता है और व्यङ्ग्यार्थ अन्त में; वाच्यार्थ का आश्रय शब्द हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का शब्द के अतिरिक्त वर्ण, अर्थ, रचना आदि-आदि और इतना ही क्यों वाच्यार्थ का विषय कुछ हुआ करता है और व्यङ्ग्यार्थ का कुछ ।

काव्य के परम रमणीय अर्थ-रस, भाव आदि 'तट' आदि रूप अर्थों की भांति पूर्वसिद्ध नहीं, जिससे, व्यञ्जना के माने बिना भी, लक्षण से काम चल जाय ।

रसभावादिरूप व्यङ्ग्य अर्थ न तो 'अनुमेय'रूप अर्थ है और न 'स्मृति'रूप अर्थ जिससे अनुमान अथवा स्मृति में ही व्यञ्जना अन्तर्भूत कर दी जाय । 'व्यञ्जना' को तो मानना ही पड़ेगा चाहे इसके न मानने के लिए जितनी दूर भी जाया जाय और जितनी भी कष्ट कल्पना की जाय—

'वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥' (सा० द० : ५-१)

रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्

पूरी कारिका है—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥' (सा० द० : ३)

इस कारिका में विश्वनाथ कविराज का 'रसध्वनि-वाद' स्पष्ट रूप से झलक रहा है । विश्वनाथ कविराज का यह 'रसमत' रसध्वनिवादी काव्याचार्यों की रसविषयक मान्यताओं का सारसंक्षेप और पुष्टिकरण है । यहाँ यह स्पष्ट है कि 'विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव' तथा 'स्थायी-भाव' में व्यङ्ग्यव्यञ्जक-संबन्ध माना गया है । विभावादि वर्ग से स्थायीभाव की अभिव्यक्ति, दूध से दही की निष्पत्ति अथवा अभिव्यक्ति-सी मानी जा सकती है न कि दीप से घट की अभिव्यक्ति-सी । वैसे 'घटप्रदीपन्याय' भी व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव में लागू है जैसा कि ध्वनिकार का कथन है—

न, च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः । यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति कैश्चिद्-विद्वद्भिरास्थितम् यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घट-तदुपादानकारण-न्यायोऽभ्युपगन्तव्यः । यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्तथैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पद-तदर्थानाम् , तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत् । न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः । न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरी-भवति, वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात् । तस्माद् घट-प्रदीपन्यायस्तयोः । यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतौ उत्पन्नायां न प्रदीप-प्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ

वाच्यावभासः। यत्तु प्रथमोद्योते—'यथा पदार्थद्वारेण' इत्याद्युक्तम्, तदुपायत्वमात्रात् साम्यविवक्षया।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्यरूप दार्ष्टान्तिक की सिद्धि के लिए 'पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय' अथवा 'पदार्थ और वाक्यार्थ का दृष्टान्त' ठीक नहीं। वाच्य और व्यङ्ग्यरूप दार्ष्टान्तिक के लिए तो 'घट-प्रदीप-न्याय' अथवा 'प्रदीप और घट का ही दृष्टान्त' ठीक है। जैसे प्रदीप के द्वारा घट के साक्षात्कार होने पर प्रदीप का प्रकाश विद्यमान रहा करता है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होने पर वाच्यार्थ का अवभास निवृत्त नहीं हुआ करता। किन्तु 'घटप्रदीपन्याय' से 'विभावादिवर्ग और रसप्रतीति' का विश्लेषण विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में एक खटकनेवाली बात है। बात ठीक भी है क्योंकि जैसे 'घट' पूर्वसिद्ध वस्तु है वैसे 'रस' को पूर्वसिद्ध मानना रसध्वनिवाद को तिलाञ्जलि दे देने के बराबर ही है। 'रस' तो एकमात्र 'आस्वाद्य' अथवा 'प्रतीतिसार' है, 'रस' कोई ऐसी वस्तु नहीं जो पहले से हो और जिसे हम न जानते हों तथा जो विभावादि द्वारा प्रकाशित हो उठे। 'विभावादिवर्ग' और 'रस' में 'दधिन्याय' ही लागू हो सकता है। 'दधिन्याय' से 'रस' को समझाने का अर्थ यह है कि जैसे दूध का ही रूपान्तर-परिणाम दही है वैसे ही रत्यादिरूप स्थायीभाव का ही रूपान्तर-परिणाम शृङ्गारादि 'रस' है। रत्यादि स्थायी भाव का यह 'रस'रूप रूपान्तर-परिणाम 'दधिन्याय' से सरलता से समझाया तो जा सकता है किन्तु इस 'दधिन्याय' को आस्वादमात्र सार 'रस' तक नहीं खींचा जा सकता। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने इसीलिए कहा है कि 'रस' एक अलौकिक और सहृदयमात्र संवेद्य काव्यार्थतत्त्व है। इसे एक 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय', 'वेद्यान्तरसंस्पर्शशून्य', 'ब्रह्मास्वादसहोदर', 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' किंवा 'आत्मस्वरूप से अभिन्न' आनन्दानुभव ही माना जा सकता है। (साहित्यदर्पण ३. २–३)

'रस' की प्रतीति का हेतु 'सत्त्वोद्रेक' है। 'सत्त्व' का अभिप्राय 'रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन' का अभिप्राय है। रजस् और तमस् से अस्पृष्ट मन आत्मरत हुआ करता है, बाह्यमय पदार्थों के प्रति विमुख रहा करता है। अलौकिक काव्यार्थ का परिशीलन करनेवाले सहृदय सामाजिक के हृदय में यह 'अनन्योन्मुखता'—यह 'सत्त्वोद्रिक्तता' स्वभावतः उत्पन्न होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ जिस रसानुभवप्रक्रिया का विश्लेषण किया है उसमें काश्मीर के शैवदर्शन की विचारधारा की कोई झलक नहीं अपितु सांख्य और अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों का आधार झलकता है।

कवि-वर्णित विभावादि के 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव'रूप संयोग से रत्यादिभावों का यह रूपान्तर-परिणाम 'चिदानन्दचमत्कार'–स्वरूप होता है और इसीलिए इसे 'रस' कहते हैं। यह रत्यादि-भाव जो कि 'चिदानन्दचमत्कार'रूप से परिणत होता है, काव्य-पुरुष अथवा नाटक-पुरुष का रत्यादिभाव नहीं, अपितु 'साधारणीकृत' रत्यादिभाव है—

'व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।
उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः॥
नृणामपि समुद्रादिलंघनादौ न दुष्यति।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते॥'

(सा० द० : ३. ९-११)

अर्थात् ऐसा रत्यादिभाव है जिसे सहृदय सामाजिक की वासना में विराजमान रत्यादि-भाव कहा करते हैं। (सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो रत्यादिर्भावः—काव्यप्रकाश, ४र्थ उल्लास)

यह 'रस' अनुकार्यगत नहीं अर्थात् जैसा कि भरत-भाष्यकार आचार्य लोल्लट का कथन है। उसके अनुसार 'रस' को लोकजीवन के राम आदि का 'रस' नहीं कहा जा सकता—

'पारिमित्याल्लौकिकत्वात् सान्तरायतया तथा।
अनुकार्यस्य रत्यादेस्तद्बोधो न रसो भवेत्॥' (सा० द० : ३. १८)

कारण यह है कि काव्य-नाट्य का जो 'रस' है वह तो असंख्य सामाजिकों का 'आस्वाद्य' है और राम आदि का 'रस' रामादिगत ही लौकिक सुख दुःख का अनुभवरूप हो सकता है। काव्य-नाट्य का 'रस' अलौकिक विभावादि के संयोग से अभिव्यक्त होता है जब कि रामादिगत रत्यादि-भाव की उत्पत्ति उन-उन लौकिक सीतादिरूप कारणों, कार्यों और सहकारी कारणों से हुआ करती है। काव्य-नाट्य के 'रस' के लिए काव्यश्रवण और नाट्यदर्शन की आवश्यकता है और रामादि के रत्यादिभाव के अनुमान के लिए रामादि का समकालीन होना अपेक्षित है। रामादि के रत्यादि-भाव के अनुभव से सहृदय सामाजिक में लज्जा-आतङ्क आदि उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु अपने वासनास्थित रत्यादिभाव के 'आस्वाद' में सहृदय चमत्कृत हुआ करता है।

यह 'रस' श्री शङ्कुक की मान्यता के अनुसार 'अनुकर्तृ'गत भी नहीं—

'शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥
काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्।' (सा० द० : ३. १९-२०)

कारण यह है कि अनुकर्ता अथवा नट तो अङ्ग, वाणी, वेश और सत्त्व के अभिनय की कला और अभ्याससिद्धि के ही द्वारा अपने आप को राम के 'सरूप' अथवा 'सदृश' दिखाया करता है, न कि विभावादि की भावना किया करता है। जो 'नट' अथवा अभिनेता विभावादि की भावना में बह जाय, वह अभिनय क्या करेगा? वह तो नाट्यप्रदर्शक न रह कर नाट्य-दर्शक बन जायगा।

इस 'रस' की निष्पत्ति-सिद्धि के लिये भट्टनायक की सी कल्पना भी अनावश्यक है। 'काव्य में भावकत्वव्यापार और भोगीकरण-व्यापार रहा करते हैं'—इसके बदले यही मानना युक्तियुक्त है कि 'काव्य में 'व्यञ्जना' शक्ति स्फुरित हुआ करती है'। वस्तुरूप और अलङ्काररूप व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा रसरूप काव्य-परमार्थ में आनन्दातिरेक के देखते इस 'व्यञ्जना' शक्ति को 'रसना' कहिये, कोई आपत्ति नहीं—

'तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रयाबोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम्। तत्किनामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥' (सा० द० परिच्छेद ५)

इस 'रस' के आस्वाद में विभाव आदि का पृथक्-पृथक् प्रतिभास उसी प्रकार नहीं हुआ करता जिस प्रकार प्रपाणक-रस के आस्वाद में शर्करा, मरिच, कर्पूर और आमिक्षा का पृथक्-पृथक् आस्वाद नहीं मिला करता। जैसे प्रपाणक-रस अपने निष्पादक तत्त्वों से निष्पन्न होने पर भी उनके पृथक्-पृथक् स्वाद से सर्वथा विलक्षण आस्वाद हुआ करता है वैसे ही काव्य अथवा नाट्य-रस भी विभा-

वादि तत्वों से अभिव्यक्त होने पर भी, उनकी पृथक् पृथक् अभिव्यक्ति से सर्वथा भिन्न एक अपूर्व 'अभिव्यक्ति' अथवा आस्वाद चमत्काररूप रहा करता है—

'यथा खण्डमरिचादीनां संमेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे संजायते, विभावादिसंमेलनादिहापि तथेत्यर्थः।' (साहित्यदर्पण : ३-१६)

विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद् व्यापारः

जब 'रस' स्वयंप्रकाश आनन्द-चैतन्य है तब इसकी व्यञ्जना का क्या अर्थ ? 'रस' की व्यञ्जना का अर्थ 'रस' का आस्वाद है। रसास्वाद का उपाय 'रसना' व्यापार अथवा 'आस्वादन' व्यापार है। यह 'आस्वादन'-व्यापार कोई अन्य वस्तु नहीं अपितु 'व्यञ्जना'-व्यापार है। यह एक अलौकिक व्यापार है जिसके लिये किसी भी लौकिक व्यापार का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। लोक की वस्तुओं में या तो 'कृति' रूप व्यापार देखा जा सकता है या 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार। विभावादि में 'कृति' रूप व्यापार नहीं जिससे 'रस' उत्पन्न हुआ करे। 'रस' तो 'विभावादि-समूहालम्बन' रूप आनन्दानुभव है। विभावादि में 'कृति' व्यापार तब कहीं माना जा सकता यदि 'रस' को उत्पन्न करने के बाद विभावादि का अस्तित्व नष्ट हो जाता अथवा यदि 'रस' ही विभावादिसमूह के अतिरिक्त अपना पृथक् अस्तित्व रख सकता। विभावादि में 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार भी नहीं माना जा सकता क्योंकि इनमें 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार मानने का अभिप्राय यह होगा कि विभावादि के द्वारा पूर्वसिद्ध 'रस' का ज्ञापन किया जाया करता है। 'रस' घट-पट आदि की भाँति कोई पूर्वसिद्ध वस्तु नहीं जो किसी अज्ञानावरण से प्रतीत न हो रही हो और प्रदीप की भाँति विभावादि रूप प्रकाशक के संयोग से प्रकट हो जाय। इस प्रकार विभावादि-प्रतिपादक काव्य में 'कृति' और 'ज्ञप्ति' रूप व्यापार की कल्पना असंभव प्रतीत होती है। वस्तुतः इसीलिये 'रस' को न तो 'कार्य' माना जाता है और न 'ज्ञाप्य'—

'नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।'

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः स सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति न ह्ययं तथा, प्रतीतिमन्तरेणाऽभावात्।

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः तस्मान्न कार्यः।

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्, ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्। कारणज्ञान-तत्कार्यज्ञानादीनां युगपददर्शनात्। न हि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानं चैकदा भवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणकत्वमित्यभिप्रायः।' (साहित्यदर्पण : ३-२०)

अर्थात् 'रस' न तो 'घट', 'पट' आदि की भाँति कोई 'कार्य' द्रव्य है और न 'ज्ञाप्य' द्रव्य। रस को 'कार्य' इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि को इसका 'कारण' कहना असंभव है।

ऐसा देखा जाता है कि लोक में कारण-वस्तु और कार्य-वस्तु का एककालिक ज्ञान नहीं हुआ करता। चन्दन के स्पर्श का अनुभव और चन्दनस्पर्शजन्य सुख का अनुभव—एक समय में असंभव है। किन्तु रसादि-प्रतीति विभावादि प्रतीति के साथ ही हुआ करती है। 'रस' रूप अलौकिक काव्यार्थ 'ज्ञाप्य' भी नहीं क्योंकि यदि यह 'ज्ञाप्य' होता तो 'घट', 'पट' आदि की भाँति हमारी अनुभूति के पहले भी अपना अस्तित्व रख सकता। रस तो प्रतीति-परमार्थ है, प्रतीति के अतिरिक्त, प्रतीति के पहले या पीछे इसका अस्तित्व नहीं रहा करता।

अन्ततः विभावादि में 'कृति' और 'ज्ञप्ति' के व्यापारों से सर्वथा विलक्षण व्यापार की मान्यता अनिवार्य हो जाती है। 'कृति' और 'ज्ञप्ति' से विलक्षण व्यापार एक अलौकिक व्यापार ही हो सकता है और इसीलिये इसे 'अभिव्यञ्जन' अथवा 'चर्वणा' कहा जाया करता है—

'अतश्चर्वणात्राभिव्यञ्जनमेव, न तु ज्ञापनम्, प्रमाण-व्यापारवत्। नाप्युत्पादनम्, हेतु-व्यापारवत्।

ननु यदि नेयं ज्ञप्तिर्न वा निष्पत्तिः तर्हि किमेतत्? नन्वयमसावलौकिको रसः। ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतुः उत कारकः? न ज्ञापको न कारकः, अपितु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र? यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्। नन्वेवं रसोऽप्रमाणः स्यात्? अस्तु, किं ततः? तच्चर्वणाद् एव प्रीतिव्युत्पत्तिसिद्धेः किमन्यदर्थनीयम्। नन्वप्रमाणकमेतत्? न, स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। ज्ञानविशेषस्यैव चर्वणात्मकत्वादित्यलं बहुना।'

(ध्वन्यालोकलोचन : प्रथम उद्योत)

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः

विभावादियोजनारूप काव्य में लोकविलक्षण किंवा शास्त्र-विलक्षण (वस्तुतः ललितकला से ही सम्बद्ध) एक 'शक्ति रहा करती है जिसका नाम 'भावकता' शक्ति है। सर्वप्रथम इस 'भावकता-शक्ति' का विश्लेषण करने वाले काव्याचार्य अथवा नाट्याचार्य 'भट्टनायक' हैं जिनके रसविषयक सिद्धान्त के संक्षेप में 'अभिनवभारती'कार आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा है—

'भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता, सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्, न च तत्त्वतो रामस्य स्मृतिः अनुपलब्धत्वात्; न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता, प्रत्यक्षादिव नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सा-स्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यग्रतया आभासत्वमथापि स्यात्; तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वं स्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यतापत्तिः। स्वगत-परगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्। तस्मात्काव्ये दोषाभाव-गुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलात् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति।' (अभिनवभारती : अध्याय ६)

अर्थात् काव्य-नाट्य में एक अलौकिक शक्ति है जिसे 'भावकत्व' व्यापार के रूप में देखा जा सकता है। इस 'भावकत्व' व्यापार की ही महिमा से सहृदय सामाजिक कविवर्णित विषयों के प्रति 'स्वगत-परगत' का भेदभाव भूल जाया करता है और कविवर्णित विषय सर्व-सहृदय-साधारण के विषय बना दिये जाया करते हैं। इस 'भावकत्व' व्यापार का स्वरूप 'विभावादि का साधारणीकरण' है। काव्य-नाट्य के 'भावकत्व' व्यापार से ही 'विभावादि के साधारणीकरण' होने पर, सहृदय सामाजिक का मनोमोह अथवा काव्यवर्णित विषयों के प्रति 'स्वता-परता' का भेद-भाव निवृत्त हो जाया करता है और सामाजिक हृदय में उस 'भोजकत्व-व्यापार' का आविर्भाव हो उठता है जिससे रसास्वाद का आनन्द मिलने लगता है।

यहाँ यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज ने क्या भट्टनायक-प्रतिपादित 'भावकत्व' व्यापार को विभावादि के व्यापाररूप में माना है या अभिनवगुप्त-वर्णित 'व्यञ्जना'-व्यापार को विभावादि का वह विलक्षण व्यापार माना है जिससे सहृदय सामाजिक काव्यवर्णित विभावादि को 'साधारणी-कृत' मानने लगता है। विश्वनाथ कविराज काव्य और रस में 'भाव्यभावकसम्बन्ध' नहीं मानते। उनकी दृष्टि से काव्य और रस में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकसम्बन्ध ही मान्य है। इसलिये यहाँ उन्होंने विभावादि में 'भावकत्व व्यापार' का प्रतिपादन नहीं किया है अपितु विभावादि के विभावनादि व्यापार का एक नाम रखा है जिसे 'साधारणीकरण' अथवा 'सधारणीकृति' कहा जा सकता है। किन्तु यह 'साधारणीकृति' 'व्यञ्जना'रूप ही विलक्षण व्यापार है न कि अन्य कुछ जैसा कि विश्वनाथ कविराज के इस 'रससिद्धान्त' से स्पष्ट है—

'विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम् ॥' (सा० द० : ३. १)

यह सब तो ठीक है किन्तु जैसे काव्य के रसविषयक व्यञ्जनाव्यापार को 'व्यञ्जना' के बदले 'रसना' कहने में विश्वनाथ कविराज को आनन्द मिलता है वैसे ही उसके साधारणीकरण व्यापार को 'व्यञ्जना' के बदले, 'भावना' (साधारणीकृति) कहने में भी वे मन ही मन पुलकित प्रतीत होते हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझना चाहिये कि विश्वनाथ कविराज रसप्रतीति की सिद्धि के लिये 'व्यञ्जना' के बदले भावना (साधारणीकृति) और 'भुक्ति' के व्यापार की रसध्वनि-विरोधी मान्यता का समर्थन कर रहे हैं। 'व्यञ्जना' पद में 'वस्तु' और 'अलङ्कार' की भी व्यञ्जना का अर्थ अन्तर्गर्भित है। रस 'वस्तु' और 'अलङ्कार' से सर्वथा विलक्षण व्यङ्ग्यार्थ है। इस विलक्षणता के ही प्रतिपादन के लिए विश्वनाथ कविराज ने काव्य के रसविषयक व्यञ्जनाव्यापार का नाम 'भावना' अथवा 'रसना' व्यापार रखा है जो कि उचित ही है।

सर्वत्राप्यद्भुतो रसः

रस का प्राण 'लोकोत्तरचमत्कार' है। यह 'लोकोत्तरचमत्कार' सहृदय सामाजिक के चित्त का विस्तार है। अलौकिक काव्यार्थ के परिशीलन से सहृदय सामाजिक के हृदय में एक ऐसी ज्ञान-धारा-सी प्रवाहित होने लगती है जिससे ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे हृदय विस्तृत हो गया है। यह हृदय का विस्तार ही 'चमत्कार' है जिसे हृदय की 'विस्मयाविष्टता' भी कह सकते हैं। यह 'चमत्कार' अथवा यह 'विस्मयावेश' अद्भुत रस का स्वरूप है। प्रत्येक रस के अनुभव में यह 'विस्मयावेश' हुआ करता है। इसलिये यदि यह कहा जाय कि अद्भुत रस ही समस्त शृङ्गारादि रसों की 'प्रकृति' है जिसकी अपेक्षा अन्य शृङ्गारादि रस 'विकृति' रूप हैं तो सर्वथा युक्तियुक्त ही होगा। विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डित नारायण की यही मान्यता थी कि—'चमत्कार' के ही रससर्वस्व होने के कारण अद्भुत रस को ही समस्त रसों की 'प्रकृति' मानना रसास्वाद का वास्तविक विश्लेषण है—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः ॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ।'

(सा० द० : परिच्छेद ३)

अर्थात् यदि रस का सार चमत्कार (हृदयविस्तार अथवा विस्मय) है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'चमत्कार' ही रस का सार है तब यह निःसंदिग्ध है कि समस्त रसों के अनुभवों में

'विस्मय' का ही अनुभव हुआ करता है और 'अद्‌भुत' ही वह रस है जिसे 'शृङ्गार' आदि सभी रसों का रस माना जा सकता है।

चित्त की 'द्रुति' और 'दीप्ति' के रूप में रसास्वाद का विश्लेषण है उसमें भी 'चित्तविस्तृति' अथवा 'विस्मय' के अनुप्राणन का विश्लेषण किया जा सकता है। शृङ्गार-करुण आदि में 'चित्तद्रुति' और वीर-रौद्र आदि में 'चित्तदीप्ति' वस्तुतः 'चमत्कार' का ही स्वरूप है अथवा 'विस्मय' का ही स्वभावपरिस्पन्द है। सभी रसों के आस्वाद में 'विस्मय' के इस अनुप्राणन के ही कारण, कविपण्डित नारायण ने 'अद्‌भुत' रस को समस्त रसों में अनुप्रविष्ट, समस्त रसों में अन्तर्व्याप्त, समस्त रसों का अन्तर्नियामक और समस्त रसों का सार माना है। संभवतः कविपण्डित नारायण की ही मान्यता का प्रभाव आलङ्कारिक भानुदत्त पर पड़ा है जिससे उन्होंने अपनी 'रसतरङ्गिणी' (७म) में, शृङ्गारादि रसों के आनन्दचमत्कार में, 'चित्तविस्तृति' अथवा 'विस्मय' को ही अंगरूप से स्वीकार किया है—

'शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद् यत्र मनोविस्तृतिरङ्गतया भासते तत्र शृङ्गारादयो रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्‌भुत एव रसः।'

विश्वनाथ कविराज ने यद्यपि स्पष्टतया यह नहीं कहा कि 'अद्‌भुत' ही सभी रसों का 'प्रकृति'भूत रस है किन्तु जिस उल्लास से उन्होंने अपने प्रपितामह द्वारा प्रतिपादित, समस्त रसों में 'चमत्कार' और 'अद्‌भुतानुप्राणन' के सिद्धान्त का उल्लेख किया है उसे देखते यह कहना असंगत नहीं कि विश्वनाथ कविराज भी इसी सिद्धान्त के समर्थक अथवा पक्षपाती हैं।

नाट्यशास्त्र के रससिद्धान्त के प्रवर्तनकाल से ही रसों के 'प्रकृतिविकृतिभाव' पर नाट्याचार्यों का विचार-विमर्श चलता आ रहा है। महाकवि लोग नव रसों में एकरसता की सूक्ष्म सूचना देते आ रहे हैं। महाकवि भवभूति ने आनन्दातिरेक के साथ 'करुण' को ही कूटस्थ रस और अन्य रसों को 'करुण' का 'विवर्त' माना है—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समस्तम्॥' (उ० रा० : ३. ४७)

इस सूक्ति की 'वीरराघव'रचित व्याख्या यह है—

'एक इति। रस्यते स्वाद्यते इति रसः काव्यानुशीलनाभ्यासवशविशदीभूतवर्णनीय-तन्मयीभवनयोग्यसामाजिकमनोमुकुरभाव्यमानतया निर्भरानन्दसंविद्रूपः। करुण इष्ट-जनवियोगजन्यदुःखातिशयः। एक एव सन्नपि निमित्तभेदाद्व्यञ्जकविभावादिविच्छित्ति-विशेषाद् भिन्नः विलक्षणः। पृथक्पृथग्विवर्तान् परस्परविलक्षणशृङ्गाराद्यात्मना परि-णामान्। 'व्यस्तपरिणामः स्याद् विवर्तः' इति कपिलः। श्रयते भजते...। इदमत्र कवेर्मतम्—यद्यपि शृङ्गार एव एको रस इति शृङ्गारप्रकाशकारादिमतम् तथापि प्राचुर्या-द्रागिविरागिसाधारण्यात् करुण एक एव रसः, अन्ये तु तद्विकृतमया' इति।

इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि महाकवि भवभूति के अनुसार शृंगारादि रस एक करुण रस के ही 'विवर्त' हैं और उसी प्रकार 'विवर्त' हैं जिस प्रकार बुद्‌बुद-तरङ्ग आदि एक सलिलरूप तत्त्व के 'विवर्त' हुआ करते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार प्रकृतिभूत 'रस' शान्त है और शृंगारादि रस शान्त के ही 'विकृति' रूप हैं। भरतनाट्यशास्त्र की ये पंक्तियाँ भी इसी ओर निर्देश करती हैं—

'भावा विकारा रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शान्ते एवोपलीयते॥'

(नाट्यशास्त्र : ६. ३३५-३३६, गायकवाड संस्करण, प्रथम)

इन कारणों के ही कारण आचार्य अभिनवगुप्त ने यह कहा है—

'तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादः, विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या।'

(अभिनवभारती : अध्याय ६)

किन्तु शृङ्गारप्रकाशकार भोजराज ने 'करुण' और 'शान्त' को रस-'प्रकृति' न मानकर शृंगार को ही रसों का प्रकृतिभूत एक रस माना है—

'आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः
साहङ्कृतौ हृदि परं स्वदते रसोऽसौ॥'

अर्थात् रति, हास आदि तो 'भाव'रूप हैं जो सहृदय सामाजिक की भावना में भावित हुआ करते हैं और जो 'रस' है वह इन भावों और इनकी भावनाओं से परे, उस 'अहंकार'रूप शृङ्गार का आस्वाद है जिसे एक कूटस्थ 'रस'बिन्दु कहा जा सकता है।

अग्निपुराण की ये पंक्तियाँ भी इसी शृङ्गाररूप प्रकृतिभूत रस का निर्देश करती हैं—

'अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्॥
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः।
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी।
व्यभिचार्यादिसामान्यात् शृङ्गार इति गीयते॥
तद्भेदाः काममितरे हास्याद्या अप्यनेकशः।
स्वस्वस्थायिविशेषोत्थपरिपोषस्वलक्षणाः॥'

(अग्निपुराण : अध्याय ३३९. १-५)

वस्तुतः विश्वनाथ कविराज के मन्तव्य में इस रसविषयक 'प्रकृतिविकृतिभाव' का विचारविमर्श स्पष्ट रूप से प्रवर्तित दिखाई देता है। विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह ने करुण, शान्त और शृङ्गार की अपेक्षा 'अद्भुत' में ही चमत्कार-रहस्य का दर्शन किया था और उसी को रसास्वाद की कसौटी माना था जो कि क्या चित्त की द्रुति और क्या चित्त की दीप्ति—दोनों में अन्तर्व्याप्त देखा जा सकता है।

सम्भवतः 'अद्भुतदर्पण' के रचयिता कवि महादेव (१७ वीं शताब्दी) की यह सूक्ति कवि-पण्डित नारायण के 'अद्भुत'-रहस्य का ही उन्मीलन करती प्रतीत होती है—

'यथा धर्माभिनः सर्वैरिन्द्रियैरिन्द्रजालवत्।
अद्भुतैकरसाद्विरन्तर्भाव्यतीव माम्॥' (काव्यमाला : ५९. ४. ८)

'एकरसवाद' की यह मर्यादा आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्ति से सर्वथा प्रमाणित है—

'ततश्च मुख्यभूतान्महारसात् स्फोटदृशीव असत्यानि वा, अन्विताभिधानदृशीव उभयात्मकानि सत्यानि वा, अभिहितान्वयदृशीव तत्समुदायिरूपाणि वा रसान्तराणि भागाभिनिवेशदृष्टानि रूप्यन्ते।' (अभिनवभारती १. पृष्ठ २६९)

करुणादिषु च सुखमयत्वमेव

'रस' आह्लाद अथवा आनन्दरूप है। रसों में 'करुण' की गणना आदिकाव्य रामायण की रचना के बाद से ही होती आ रही है। रामायण को आदिकवि वाल्मीकि की करुणवेदिता का शब्दावतार माना जाता है, महाकवि कालिदास ने स्वयं कहा है—

'निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थश्श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः।'

(रघुवंश : १४. ७०)

अर्थात् क्रौञ्चद्वन्द्व के वियोग के दुःखद दृश्य से उत्पन्न महर्षि वाल्मीकि का शोक ही रामायण की कविता बन गया। महाकवि कालिदास की रस धारणा के समान ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन की भी धारणा रही है—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ शोकः श्लोकत्वमागतः॥' (ध्वन्यालोक : १. ५)

अर्थात् 'रस' ही सहृदय-हृदय-संवेद्य काव्य का सारतत्त्व है। महाकवि वाल्मीकि के रामायण काव्य का जो 'करुण'रूप परमार्थ है वही उसका 'रस' अथवा आह्लाद अथवा आनन्द है।

किन्तु तब भी 'करुण' की रसरूपता अथवा आह्लादमयता के सम्बन्ध में दो प्रकार की विचार-धारायें प्रवर्तित हुई हैं। पहली तो वह है जिसे हम आचार्य आनन्द-वर्धन की विचारधारा रूप में ऊपर देख चुके हैं और दूसरी वह जिसकी प्राचीन परम्परा इन उक्तियों में परिपुष्ट प्रतीत होती है—

(१) 'सुखदुःखात्मको रसः' (अर्थात् रसों में 'करुण' की गणना के देखते यह मानना आवश्यक है कि 'रस' केवल सुखात्मक नहीं अपितु दुःखात्मक भी है।)

(नाट्यदर्पण : पृष्ठ १५८)

(२) द्रवीभावस्य सत्त्वधर्मत्वात्, तं विना च स्थायिभावासम्भवात्, सत्त्वगुणस्य च सुखरूपत्वात्, सर्वेषां भावानां सुखमयत्वेऽपि रजस्तमोंऽश-मिश्रणात् तारतम्यमवगन्तव्यम्। अतो न सर्वेषु रसेषु तुल्यसुखानुभवः।'

(अर्थात् वैसे समस्त रत्यादि स्थायी भावों का आस्वाद सुखास्वाद है किन्तु शोक आदि कतिपय स्थायी भावों के आस्वाद में सुख का किञ्चिन्मात्र न्यूनत्व अवश्य मानना चाहिये)। (मधुसूदन-सरस्वती : भक्तिरसायन : पृष्ठ २२)

विश्वनाथ कविराज आचार्य आनन्दवर्धन की मर्यादा के मानने वाले हैं। साथ ही साथ दशरूपककार की यह 'करुण' समीक्षा उनके लिये इस बात का प्रमाण है कि 'करुण' आह्लादमय है, दुःखात्मक नहीं—

'ननु च युक्तं श्रृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु वाक्यार्थसम्भेदादानन्दोद्भव इति' करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ (आनन्दः) प्रादुष्यात्? तथा हि तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद्दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्म-

कत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्।······तस्माद्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।' (दशरूपक : ४र्थ प्रकाश)
अर्थात् वैसे तो लोगों ने 'शृङ्गारादि' को प्रमोदात्मक और 'करुण' को दुःखात्मक मान रखा है किंतु बात वस्तुतः यह है कि 'करुण' भी शृङ्गारादि रसों की ही भाँति 'प्रमोदात्मक' अथवा आनन्दसार रस है। जिन लोगों ने 'करुण' में दुःखात्मकता मान ली है उन्होंने लौकिक 'करुण' से काव्य-नाट्य के 'करुण' का स्पष्टतया विवेक नहीं किया है। यदि काव्य-करुण आनन्दमय न होता तो आदिकाव्य रामायण के प्रति कौन सहृदय सामाजिक उन्मुख होता? 'करुण' रस है और 'करुण' को लेकर रस की 'दुःखात्मकता' की मान्यता अनुचित है।

विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये कहा है—

'करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्॥
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्।
किं च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः॥

न हि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता।

···ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्॥
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः।
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात्॥
सुखं संजायते तेभ्यस्सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः।

(साहित्यदर्पणः ३. ४–८)

तात्पर्य यह है कि जो काव्य-मर्मज्ञ 'करुण' को आनन्दात्मक नहीं मानते वे या तो 'करुण' के आनन्दचमत्काररूप अनुभव से वंचित हैं या 'करुण' के विभावादि में विभावनादि-व्यापार के बदले कारणत्वादि का ही व्यापार मान लेते हैं जो कि सर्वथा अनुचित है। लोक के 'शोक' से दुःख होना स्वाभाविक है किन्तु काव्य-नाट्य के 'शोक' से तो सुख का ही संवेदन संभव है जिसमें सहृदयों का हृदय साक्षी है और रामायण आदि महाकाव्य का आनन्द-चमत्कार प्रमाण है।

'करुण' की आह्लादात्मकता की इस परम्परागत प्रबल धारणा का प्रवाह 'रसगङ्गाधर'कार की इस उक्ति में दिखाई दे रहा है—

'नन्वेवमपि रतेरस्तु नाम दुष्यन्त इव सहृदयेऽपि सुखविशेषजनकता, करुणरसादिषु तु स्थायिनः शोकादेर्दुःखजनकतया प्रसिद्धस्य कथमिव सहृदयाह्लादहेतुत्वम्। प्रत्युत नायक इव सहृदयेऽपि दुःखजननस्यैवौचित्यात्। न च सत्यस्य शोकादेर्दुःखजनकत्वं क्लृप्तं न कल्पितस्येति नायकानामेव दुःखं, न सहृदयस्येति वाच्यम्। रज्जुसर्पादेर्भयकम्पाद्युत्पादकतापत्तेः। सहृदये रतिरपि कल्पितत्वेन सुखजनकतानुपपत्तेश्चेति चेत्।

सत्यम्। शृङ्गारप्रधानकाव्येभ्य इव करुणप्रधानकाव्येभ्योऽपि यदि केवलाह्लाद एव सहृदयहृदयप्रमाणकस्तदा कार्यानुरोधेन कारणस्य कल्पनीयत्वाल्लोकोत्तरकाव्यव्यापारस्यैवाह्लादप्रयोजकत्वमिव दुःखप्रतिबन्धकत्वमपि कल्पनीयम्। अथ यथाह्लाद इव दुःखमपि प्रमाणसिद्धं तदा प्रतिबन्धकत्वं न कल्पनीयम्। स्व-स्वकारणवशाच्चोभयमपि भविष्यति। अथ तत्र कवीनां कर्तुम्, सहृदयानां च श्रोतुं कथं प्रवृत्तिः? अनिष्टसाधनत्वेन निवृत्तेरुचितत्वादिति चेत्। इष्टस्याधिक्यादनिष्टस्य च न्यूनत्वाच्चन्दनद्रवलेपनादाविव प्रवृत्तेरुपपत्तेः। केवलाह्लादवादिनां तु प्रवृत्तिरप्रत्यूहैव। अश्रुपातादयोऽपि तत्तदानन्दानुभवस्वाभाव्यात्, न तु दुःखात्। अत एव भगवद्भक्तानां भगवद्वर्णनमाकर्णनादश्रुपातादय उपपद्यन्ते। न हि तत्र जात्वपि दुःखानुभवोऽस्ति। न च करुणरसादौ स्वात्मनि शोकादिमद्दशरथादितादात्म्यारोपे यथाह्लादस्तदा स्वप्नादौ संनिपातादौ वा स्वात्मनि तदारोपेऽपि स स्यात्, आनुभविकं च केवलं तत्र दुःखमितीहापि तदेव सुखमिति वाच्यम्। अयं हि लोकोत्तरस्य काव्यव्यापारस्य महिमा, यत्प्रयोज्या अरमणीया अपि शोकादयः पदार्था आह्लादमलौकिकं जनयन्ति। विलक्षणो हि कमनीयः काव्यव्यापारज आस्वादः प्रमाणान्तरजादनुभवात्।'
(रसगङ्गाधर : १म आनन)

अर्थात् 'करुण' रस है—यह मान्यता ही 'लोक' और 'काव्य' के वैलक्षण्य का एक प्रबल प्रमाण है। लोक के 'दुःष्यन्तादि' के हृदय में, इष्टजन के नाश के कारण उत्पन्न 'शोक' भले ही दुःखात्मक हो, जैसा कि हुआ ही करता है, किन्तु काव्य-नाट्य के दुःष्यन्तादि के हृदय के जिस 'शोक' का अभिव्यञ्जन कवि करता है वह प्रमोदात्मक ही हो सकता है। काव्य-नाट्य की लोकोत्तर शक्ति की ही यह महिमा है कि लोक के दुःखात्मक शोकादिरूप पदार्थ भी काव्य-नाट्य में अवतीर्ण होकर आह्लादात्मक ही प्रतीत होने लगते हैं। भगवद्गुणकीर्तन से साधु-सन्तों की आँखों से आंसू बह निकलते हैं किन्तु ये आंसू दुःख के आंसू नहीं अपितु आनन्दातिरेक के आंसू हुआ करते हैं। 'करुण'-काव्य के श्रवण अथवा 'करुण'-नाट्य के दर्शन से भी सहृदय सामाजिकों के हृदय और नेत्र आर्द्र हो जाते हैं किन्तु इनकी यह आर्द्रता दुःख के कारण नहीं अपितु सुख के ही कारण हुआ करती है। 'करुण' रस है, आनन्दानुभवरूप काव्यार्थ है। जो कारण को रस अथवा आनन्द-चमत्कार न मान सके वह कला और काव्य के क्षेत्र में विचरण करने का अधिकारी नहीं। जो 'करुण' में दुःख मानता है उसे 'कविता' और 'कला' की कोई पहचान नहीं।

शान्तः शमस्थायिभावः

विश्वनाथ कविराज शान्तरस के समर्थक काव्याचार्यों में हैं। आचार्य मम्मट भी शान्तरस का समर्थन कर चुके हैं। किन्तु दोनों आचार्यों में शान्तरस के स्थायीभाव के संबन्ध में मतभेद है। आचार्य मम्मट के अनुसार शान्तरस का स्थायीभाव 'निर्वेद' है—

'निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।' (काव्यप्रकाश : ४र्थ उल्लास)

आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्त का स्थायीभाव इसलिये माना है क्योंकि नाट्याचार्य भरत ने अमङ्गलास्पद भी 'निर्वेद' शब्द से ३३ व्यभिचारिभावों की गणना प्रारम्भ की थी और ऐसा करने में उनका यही उद्देश्य था कि 'निर्वेद' स्थायीभाव के भी रूप में अभिव्यक्त हो सकता है और जिसे शान्त रस के रूप में नवम रस माना जाया करता है वह यही अभिव्यक्त स्थायीरूप 'निर्वेद' है।

आचार्य मम्मट की इस मान्यता का आधार अभिनवभारती की यह उक्ति है—

'तत्त्वज्ञानजो निर्वेदोऽस्य स्थायी। एतदर्थमेव उभयधर्मोपजीवित्व (स्थायित्वव्यभिचारित्वरूपधर्मोपजीवित्व) स्थापनाय अमङ्गलभूतोऽप्यसौ पूर्वं निर्दिष्टः।'

(अभिनवभारती : पृष्ठ २६९-७०)

जिसे अभिनवभारती (पृष्ठ ३३४) की यह उक्ति और भी स्पष्ट कर रही है—

'या चासौ तथाभूता (मोक्षरूपपरमपुरुषार्थोचिता) चित्तवृत्तिः सैवात्र (शान्तरसे) स्थायिभावः। एतत्तु चिन्त्यम्–किन्नामाऽसौ? तत्त्वज्ञानोत्थितो निर्वेद इति केचित्। तथा हि दारिद्र्यादिप्रभवो यो निर्वेदः ततोऽन्य एव, हेतोस्तत्त्वज्ञानस्य वैलक्षण्यात्। स्थायिसंचारिमध्ये च एतदर्थमेवायं पठितः, अन्यथा माङ्गलिको मुनिस्तथा न पठेत्।'

किन्तु विश्वनाथ कविराज 'निर्वेद' के स्थान पर 'शम' को ही शान्तरस का स्थायीभाव मानने के पक्षपाती हैं—

शान्तः शमस्थायिभावः उत्तमप्रकृतिर्मतः॥' (साहित्यदर्पण : ३य. परिच्छेद)

विश्वनाथ कविराज के सामने 'अभिनवभारती' का वह उल्लेख प्रमाण है जिसमें कतिपय नाट्याचार्यों की मान्यता के अनुसार, शान्तरस के स्थायीभाव के रूप में, 'शम' भी प्रतिपादित किया गया है—

'शमशान्तयोः पर्यायत्वं तु हासहास्याभ्यां व्याख्यातम्। सिद्धसाध्यतया लौकिकालौकिकत्वेन साधारणासाधारणतया च वैलक्षण्यं शमशान्तयोरपि तुल्यमेव।' (अभिनवभारती : पृष्ठ ३३६)

किन्तु इससे भी बढ़कर प्रमाण दशरूपककार का यह 'शान्त-विमर्श' है जिसमें 'शम' शान्त के स्थायी रूप से निरूपित किया गया है—

'निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।'(द० रू० : ४. ३६)
'शमप्रकर्षोऽनिर्वाच्यो मुदितादेस्तदात्मता।' (द० रू० : ४. ४५)

यद्यपि विश्वनाथ कविराज 'शान्तरस के सम्बन्ध में' दशरूपककार के इस मत का खण्डन करते हैं कि शान्त नाट्य का रस नहीं अपितु काव्य का ही 'यथाकथञ्चित' रस हो सकता है किन्तु 'निर्वेद' के बदले 'शम' को शान्तरस का स्थायीभाव मानने में उन्होंने दशरूपककार का अनुसरण भी किया है।

'अस्तु, यहाँ यह देखना है कि 'शम' और 'निर्वेद' में, शान्तरस के स्थायी भाव के रूप में कौन अधिक मान्य है। 'निर्वेद' का अभिप्राय, साधारणतया, 'स्वावमानन' हुआ करता है। दशरूपककार ने इसीलिये कहा है—

'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
तत्र चिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वासदीनताः॥' (दशरूपक : ४. ९)

विश्वनाथ कविराज भी दशरूपककार का ही अनुसरण करते हुए कहते हैं—

'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत्॥' (सा० द० : ३. १४२)

और आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार भी 'निर्वेद' की उत्पत्ति में 'तत्त्वज्ञान' के अतिरिक्त दारिद्र्य आदि ही कारणरूप से रहा करते हैं—

'तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्यव्याध्यवमानाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोगतत्त्वज्ञानादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।' (अभिनवभारती : १ भाग, पृष्ठ ३५७)

किन्तु आचार्य मम्मट ने जिस 'निर्वेद' को शान्त का स्थायीभाव माना है वह 'स्वावमानन' नहीं हो सकता, क्योंकि उनके उद्धृत उदाहरण—

'अहौ वा हारे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा
मणौ वा लोष्टे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्ति दिवसाः
क्वचित् पुण्यारण्ये शिव शिव शिवेति प्रलपतः॥'

(काव्यप्रकाश : ४ र्थ उल्लास)

में 'स्वावमानन' का कोई अभिप्राय प्रकट नहीं होता। यहाँ तो 'आत्मानात्मविवेक' से भी ऊंची भूमिका में स्थित तत्त्वज्ञानी की वह भावना अभिव्यक्त हो रही है जो सर्वत्र शिवाद्वैत का दर्शन कर रही है। यह शिवाद्वैत की भावना सर्वत्र 'समदर्शिता' का प्रतीक है। 'तत्त्वज्ञान' और 'समदर्शिता' में यहाँ उस एकरसता का अभिप्राय प्रकट हो रहा है जो कि श्रीमद्भगवद्गीता की इस सूक्ति से प्रमाणित है—

'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥'
'इहैव तैर्जितस्सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता : ५. १८, १९)

जहाँ 'पण्डितत्व' का अभिप्राय 'आत्मयाथात्म्यवेदन' अथवा 'ज्ञान के द्वारा आत्मविषयक अज्ञान का नाश' है और 'समदर्शिता' का अभिप्राय 'एक अविक्रिय ब्रह्म का दर्शन' है जैसा कि श्रीभगवत्पाद शङ्कर का मत है अथवा 'प्रकृति के विषम आकारों से विलक्षण ज्ञानैकाकाररूप एक आत्मा का दर्शन है जैसा कि श्री भगवद्रामानुजाचार्य का सिद्धान्त है और जहाँ 'आत्मसाम्य में स्थिति का अभिप्राय ब्रह्म में स्थिति का अभिप्राय है जो कि संसार विजय के समान है।'

अब, यदि यह निर्वेद 'स्वावमानन'रूप नहीं तब इसका क्या स्वरूप है? वैसे आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का लक्षण नहीं किया है किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि शान्तरस का स्थायी यह 'निर्वेद' दारिद्र्य-व्याधि-अवमान-अधिक्षेप-इष्टजनवियोग आदि-आदि कारणों से उत्पन्न 'निर्वेद' नहीं अपितु तत्त्वज्ञानसम्भूत ही 'निर्वेद' हो सकता है। किन्तु 'तत्त्वज्ञान' से होनेवाला 'निर्वेद' स्वावमानरूप नहीं हुआ करता। यह 'निर्वेद' अभावरूप नहीं अपितु एक भावरूप पदार्थ है। समदर्शी पुरुष ब्रह्मभूत हुआ करते हैं। समदर्शिता ब्रह्मभाव है जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समस्सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥'

(श्रीमद्भगवद्गीता : १८. ५४)

इस 'निर्वेद' का ही नामान्तर 'तृष्णाक्षयसुख' है जिसका उल्लेख आचार्य आनन्दवर्धन ने किया है—

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव । तथा चोक्तम्—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥' (ध्व० लो० उद्योत ३)

इस 'निर्वेद' और 'तृष्णाक्षयसुख' का समीकरण आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में इस प्रकार है—

'तृष्णानां विषयाभिलाषाणां यः क्षयः सर्वतो निवृत्तिरूपो निर्वेदस्तदेव सुखं तस्य स्थायिभूतस्य यः परिपोषः रस्यमानताकृतस्तदेव लक्षणं यस्य स शान्तो रसः ।' (ध्वन्यालोकलोचन : ३. २६)

इस प्रकार शान्त के स्थायी भाव के रूप में आचार्य आनन्दवर्धन का 'तृष्णाक्षयसुख' के प्रति पक्षपात और आचार्य मम्मट का 'निर्वेद' के प्रति पक्षपात—एक ही तत्त्व के प्रति पक्षपात है । 'तृष्णाक्षयसुख' के स्थान पर आचार्य मम्मट ने 'निर्वेद' का नाम इसलिये लिया है क्योंकि 'निर्वेद' नाट्यशास्त्र में परिगणित ४९ भावों में आता है किन्तु आचार्य मम्मट का निर्वेद 'न शोचति न कांक्षति' अथवा 'तृष्णाक्षयसुख' का ही अभिप्राय रखता है । ध्वनिकार ने 'निर्वेद' के अभिप्राय के प्रकाशनार्थ 'तृष्णाक्षयसुख' का उल्लेख किया है । जोकि सर्वथा युक्तियुक्त है, जैसा कि लोचनकार की उपर्युक्त धारणा से स्पष्ट है ।

अब यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज ने जिस 'शम' को शान्त का स्थायी माना है वह 'शम' क्या है ? विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'शम' का अभिप्राय 'निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्' का अभिप्राय है न कि 'वैराग्य आदि के द्वारा निर्विकारचित्तता' का । यह 'शम' आत्म-स्वभावरूप है, तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञानरूप है और निर्वेदरूप है जैसा कि आचार्य अभिनवगुप्त का कथन है—

'शम आत्मस्वभावः स शमशब्देन मुनिना व्यपदिष्टः । यदि तु स एव शमशब्देन व्यपदिश्यते, निर्वेदशब्देन वा, तत्र कश्चिद् बाधः ।...तदिदमात्मस्वरूपमेव तत्त्वज्ञानं शमः तथा च यत्कालुष्योपरागविशेषा एवात्मनो रत्यादयः ।...तत्त्वज्ञानलक्षणस्य च स्थायिनः समस्तोऽयं लौकिकालौकिकचित्तवृत्तिकलापो व्यभिचारितामभ्येति ।...तत्रा-स्वादोऽस्य कीदृशः ? उच्यते—उपरागदायिभिः उत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोभिमतरलान्तरालनिर्भासमानसिततरसूत्रवद् आभातस्वरूपं सकलेषु रत्यादिषु-उपरञ्जकेषु तथाभावेनापि सकृद् विभातोऽयमात्मेति न्यायेन भासमानं पराङ्मुखतात्मक-सकलदुःखजालहीनं परमानन्दलाभसंविदेकत्वेन काव्यप्रयोगप्रबन्धाभ्यां साधारणतया निर्भासमानं अन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानन्दानयनं तथाविधहृदयं विधत्ते इति । (अभिनवभारती)

यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने 'शम' और 'निर्वेद' का भी समीकरण स्थापित किया है क्योंकि जैसे 'शम' आत्मस्वभाव है वैसे ही 'निर्वेद' भी आत्मस्वभाव-रूप ही है ।

श्रीमद्भगवद्गीता (२. ५२) की इस सूक्ति अर्थात्—

'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥'

की व्याख्या में श्री आचार्य आनन्दतीर्थ ने भी 'निर्वेद' का अभिप्राय 'नितरां लाभ' अथवा 'निरति-शयलाभ' ही लिया है । यह 'निरतिशयलाभ' आत्मारामता-रूप महालाभ है ।

इन उपर्युक्त विचारधाराओं के देखते 'निर्वेद' अथवा उसके समानार्थक 'शम' या 'तृष्णाक्षय-सुख' या 'आत्मज्ञान' आदि को शान्तरस के स्थायी मानने में कोई तात्त्विक भेद नहीं अपितु अन्ततोगत्वा शब्द-भेद ही प्रतीत होता है।

इस 'शम' के 'दृश्य' अथवा 'श्रव्य' काव्य के बन्ध से अभिव्यञ्जन में कोई वैषम्य नहीं जैसा कि विश्वनाथ कविराज ने स्पष्ट कहा है—

'युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन् संचार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा॥

यच्चास्मिन् सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः।'

(साहित्यदर्पण : ३. २५०)

विशिष्टाद्वैतदर्शन के आचार्य वेदान्तदेशिक भी यही मानते हैं कि 'शम' के अभिनय अथवा वर्णन में कोई भेद नहीं और न कोई अनुपपत्ति ही है—

'असभ्यपरिपाटिकामधिकरोति शृङ्गारिता
परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदलमल्पसारैः परैः
शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः॥

न हि वयमवधूतनिखलधर्माणामलेपकानां मतमभिनेष्यामः।...सन्ति खलु भगवता गीताचार्येण सहस्रशः प्रतिपादिताः सात्त्विकेन त्यागेन परिकर्मिता निवृत्तिधर्मपद्धति-नियता विविधा व्यापाराः यदभिनयेन रंगोपजीविनामाजीवावकाशः।'

(सङ्कल्पसूर्योदय : १. १९)

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः

काव्यप्रकाशकार ने 'वत्सल' रस का स्वरूपनिर्देश इसलिये नहीं किया क्योंकि उनकी दृष्टि में पुत्रादिविषयक रतिभाव की अभिव्यक्ति रसध्वनि नहीं अपितु भावध्वनि है। साहित्यदर्पणकार ने केवल काव्यप्रकाशकार से नवीनता के प्रदर्शनार्थ 'वत्सल' रस का उल्लेख नहीं किया है अपितु अपने समय के सहृदयों की विचारधाराओं के अनुमोदन में 'वात्सल्य' की अभिव्यक्ति को 'वत्सल' रस माना है। नव रसों के अतिरिक्त 'वत्सल' को भी रस मानने की एक प्राचीन ही परम्परा है जिसका उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने स्वयं इस प्रकार किया है—

'अथ मुनीन्द्रसम्मतो वत्सलः,
स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥...'

(साहित्यदर्पण : ३. २५१)

'वत्सल' रस मुनीन्द्रसम्मत रस है—यह बात नाट्यशास्त्र की इस उक्ति से ही प्रमाणित है—

'तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः, वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः, करुणवात्सल्य-भयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयति।'

(नाट्यशास्त्र : काव्यमालासंस्करण : पृष्ठ १२७)

'वत्सल' रस का एक क्रमिक इतिहास भी है जिसे देखते वत्सल रस के प्रति विश्वनाथ कविराज का अभिनिवेश उचित ही लगता है। कतिपय प्राचीन काव्याचार्य रतिभाव में 'सांप्रयोगिक' और 'असांप्रयोगिक' भेद मानकर, सांप्रयोगिक रति की 'अभिव्यक्ति' में 'शृङ्गार' की भाँति, 'असांप्रयोगिक' रति की अभिव्यक्ति में 'प्रेयान्' को भी रसरूप में मान चुके हैं जिसका स्थायीभाव 'स्नेह' है। 'स्नेह' रूप स्थायीभाव का अभिप्राय 'सुहृत्प्रेम' है। रामायण में राम और सुग्रीव का 'स्नेह' अथवा मुद्राराक्षस में राक्षस और चन्दनदास का 'सुहृत्प्रेम' सांप्रयोगिक रति नहीं अपितु इससे सर्वथा विलक्षण प्रेमभाव है जिसकी पूर्णाभिव्यक्ति को पृथक् 'रस' मानना आवश्यक है। इसी प्रकार 'वत्सलता' भी सांप्रयोगिक रतिभाव से एक विलक्षण भाव है जिसकी अभिव्यक्ति 'वात्सल्य' रस के रूप में स्वाभाविक है। नृपविषयक अथवा गुरुविषयक रतिभाव को सांप्रयोगिक रति कैसे माना जाय ? इसे 'प्रीति' कहना अधिक उपयुक्त है। इसी भाँति भगवद्विषयक रतिभाव को 'भक्ति' कहना उचित है।

रतिभाव के इन विलक्षण रूपों के अभिव्यंजन में भिन्न-भिन्न रसों की मान्यता की आलोचना भी होती आयी है जैसा कि अभिनवभारती की इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'आर्द्रतास्थायिकः स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्गः। स च सर्व्वोऽत्साहादावेव, पर्यवस्यति। तथा हि बालस्य मातापित्रादौ स्नेहो भये विश्रान्तः, यूनोः मित्रजने रतौ भ्रातरि धर्मवीर एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्।'

(अभिनवभारती : १. ३४२)

जिसका तात्पर्य यह है कि वात्सल्य आदि को पृथक् रस न मानकर शृङ्गारादि में ही अन्तर्भूत मानना नाट्यशास्त्र की मर्यादा का अनुसरण है।

काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र का भी यही मत है—

'स्नेहो भक्तिर्वात्सल्यमिति हि रतेरेव विशेषाः। तुल्ययोः या परस्परं रतिः स स्नेहः। अनुत्तमस्य उत्तमे रतिः प्रसक्तिः सैव भक्तिपदवाच्या। उत्तमस्य अनुत्तमे रतिः वात्सल्यम्। एवमादौ च विषये भावस्यैवास्वाद्यत्वम्।'

'संगीतरत्नाकर'कार श्री शार्ङ्गदेव भी उपर्युक्त मत के ही समर्थक हैं—

'भक्तिं स्नेहं तथा लौल्यं केचित् त्रीन् मन्वते रसान्।
श्रद्धार्द्रताभिलाषांश्च स्थायिनस्तेषु ते विदुः॥
तदसत्, रतिभेदौ हि भक्तिस्नेहौ नृगोचरौ।
व्यभिचारित्वमनयोः, नृनार्योः स्थायिनौ तु तौ॥'

किन्तु इन विचार-धाराओं के रहते हुए भी अनेक काव्यमर्मज्ञ 'वात्सल्य' आदि को पृथक् रसरूप में ही मानना उचित मानते हैं। इन काव्यमर्मज्ञों में विश्वनाथ कविराज 'वात्सल्य' रस को दशम रस मानने के पक्षपाती हैं। विश्वनाथ कविराज के अनुसार 'वात्सल्य' का स्थायी वत्सलतारूप स्नेह है। किन्तु 'कारुण्य' को 'वात्सल्य' का स्थायी मानने वाले भी लोग हैं। 'मन्दारमरन्दचम्पू' के रचयिता ने 'कारुण्य' को वात्सल्य का स्थायी कहा है—

'अन्ये तु करुणास्थायी वात्सल्यं दशमोऽपि च।'

(मन्दारमरन्दचम्पू : पृष्ठ १००)

कवि कर्णपूर के अनुसार 'वात्सल्य' का स्थायी 'ममकार' है। चाहे 'वात्सल्य' के स्थायी के नामों में विवाद क्यों न हो किन्तु विश्वनाथ कविराज द्वारा प्रतिपादित 'वात्सल्य' रस दसवें रस के रूप में मान्य अवश्य है।

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः

रसध्वनिवादी काव्याचार्य 'रस'-'भाव' और 'रसाभास'-'भावाभास' का विवेक आवश्यक मानते हैं। आनन्दवर्धनाचार्य ने ही इस 'विवेक' का निर्देश किया है—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥' (ध्वन्यालोक)

अर्थात् 'रसभङ्ग' का एक ही कारण है और वह 'अनौचित्यप्रवृत्ति' है। औचित्य का अनुसरण तो रसयोजना की सफलता का रहस्य है। किन्तु यह 'अनौचित्य' क्या है जो 'रसभङ्ग' का कारण है? विश्वनाथ कविराज ने, जैसा कि प्राचीन आलङ्कारिकपरम्परा है, रसभाव के अनौचित्यप्रवृत्त होने से 'रसाभास' और 'भावाभास' की सिद्धि की है—**'अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः'** (साहित्यदर्पण : ३. २६१) किन्तु साथ ही साथ यह भी कहा है कि रसनात्मकता की दृष्टि से रसाभास और भावाभास—सभी उपचारतः 'रस'रूप हैं **'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ। सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥ रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।'** (साहित्यदर्पण : ३. २६०) किन्तु क्या इसका यह भी अभिप्राय है कि रसनधर्म के योग से, औचित्य और अनौचित्य-प्रवृत्त काव्यरचनायें 'रसात्मक वाक्य' में ही उपचारतः अन्तर्भूत हैं ? यहाँ सबसे पहले यह देखना है कि रसभङ्ग का कारणभूत 'अनौचित्य' और 'रसाभास-भावाभास' का कारणभूत 'अनौचित्य' एक ही वस्तु है या भिन्न-भिन्न। विश्वनाथ कविराज ने 'रसाभास-भावाभास'सम्बद्ध 'अनौचित्य' का यह स्वरूप-परिष्कार किया है—

'अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे त्वेकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम्। तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते—

**उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते।
शृङ्गारेऽनौचित्यं रौद्रे गुर्वादिगतकोपे॥
शान्ते च हीननिष्ठे गुर्वाद्यालम्बने हास्ये।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे॥
उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र।'**

(साहित्यदर्पण : ३. २६३-२६६)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'आभास' का अभिप्राय वही लिया गया है जिसे ध्वनिकार ने माना है। ध्वनिकार के अनुसार 'आभास' का अभिप्राय 'अनुकृति' अथवा 'अमुख्यता' का अभिप्राय है। शुक्ति में रजत के 'आभास' की भाँति हास्य में शृङ्गार का 'आभास' स्वाभाविक है। विभावाद्याभास से रत्याद्याभास की अभिव्यक्ति और उसकी चर्वणाभास में विश्रान्ति जहाँ भी हो, 'रसाभास' ही है।

रसाभास-भावाभास का कारण यह अनौचित्य विभावादि के बदले विभावाभास आदि के उपनिबन्ध से ही सम्बद्ध प्रतीत होता है। विश्वनाथ कविराज ने नायक-नायिकादि-निरूपण तथा रसों के वर्ण-दैवतादिनिरूपण का यही अभिप्राय लिया है कि इनके अनुसरण से काव्यरचना होने पर 'विभावाद्याभास' से बचा जा सकता है। यह 'अनौचित्य' रसभङ्ग का कारण नहीं अपितु 'रसाभास' का कारण है। 'रसभङ्ग' का कारण जो अनौचित्य है वह 'ध्वनिकार' के अनुसार

अनुचित विभावादि की योजना से ऐसी रसाभिव्यञ्जना में देखा जा सकता है जो 'ग्राम्य' सी प्रतीत होती हो और ऐसी लगती हो जिसमें कवि की 'अशक्ति' का पता चल जाय—

'रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः। तथा हि अधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धे का भवेन्नोपहास्यता······तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्। तथैवोत्तमदेवतादिविषयम्। यत्त्वेवंविधविषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव। स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् लक्ष्यत इत्युक्तमेव।······तथा हि महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वात् ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम्।' (ध्वन्यालोक : ३य उद्योत)

यहाँ यह स्पष्ट निर्देश है कि 'रसाभास' तो क्षम्य है किन्तु 'रसभङ्ग' नहीं। 'रसाभास' और 'भावाभास' में रसभङ्ग नहीं होता। रसभङ्ग वहाँ होता है यहाँ असभ्यता सी प्रतीत होती है। और रस-प्रतीति में सहृदय-हृदय उद्विग्न हो उठता है। रसाभास और भावाभास में 'रसना' हुआ करती है जिससे यहाँ रसभङ्ग का प्रश्न नहीं उठता। रसाभासात्मक, भावाभासात्मक काव्य भी 'रसात्मक वाक्य' हैं, अरसात्मक नहीं। किन्तु जहाँ 'रसभङ्ग' हो वह काव्य नहीं अपितु काव्याभास हो जायगा। विश्वनाथ का यही मत है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिविपर्ययो दोषः। यथा धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः। यथा वा कुमारसम्भवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः सम्भोगशृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः सम्भोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचित' मित्याहुः। अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद् वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्यासत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकारासम्भवः।' (साहित्यदर्पण : ७म परिच्छेद)

किन्तु यहाँ विश्वनाथ कविराज ने 'कुमारसंभव' के पार्वतीपरमेश्वर-संभोग-वर्णन में 'प्रकृतिविपर्यय' का ही दर्शन किया है जिससे यहाँ रसभंग की ही मान्यता सिद्ध होती है। किन्तु ध्वनिकार ने इस संभोगवर्णन को 'अग्राम्य' और 'कविशक्तितिरस्कृत' कहा है क्योंकि यहाँ 'रसभंग' नहीं होता और न 'रसाभास' ही संभव है।

'रसाभास' के उदाहरणों में, जिन्हें विश्वनाथ कविराज ने उद्धृत किया है, यह स्पष्ट नहीं है कि 'अनौचित्य' पुरुषार्थचतुष्टय का विपर्यय है या और कुछ। जिस 'अनौचित्य' से पुरुषार्थचतुष्टय के प्रति सहृदय सामाजिक की भ्रान्त धारणा संभव है उसका कारण विश्वनाथ कविराज ने 'प्रकृतिविपर्यय' माना है जो कि रसभंग और काव्य की 'असत्यता' में परिणत हो जाता है। इससे यह अनुमान संभव है कि विश्वनाथ कविराज के अनुसार रसाभास-भावाभासविषयक 'अनौचित्य' 'असत्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य नहीं अपितु 'अयोग्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य है। 'असत्यत्व'-प्रतिपादक अनौचित्य का संबन्ध 'रसभंग' से ही है न कि रस-भावाभासात्मक रचनाओं से।

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम्

विश्वनाथ कविराज ने अपने काव्य-लक्षण—वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—की दृष्टि से 'चित्र'काव्य को काव्यभेद न मान कर 'ध्वनि' और 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' को ही काव्य-भेद माना है। इनकी दृष्टि में ध्वनिकाव्य का स्वरूप यह है—

'वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम्।

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम्।' (सा० द० : ४. १)

अर्थात् 'ध्वनि' वह काव्य है जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यरूप अर्थ अतिशय चमत्कारजनक प्रतीत हुआ करता है। यह काव्य ही 'उत्तम' काव्य है।

यहां यदि 'ध्वनि' से 'रसादि' रूप व्यङ्ग्यार्थ का अभिप्राय लिया जाय, क्योंकि सर्वाधिक चमत्कारपूर्ण अर्थ रसादिरूप ही व्यङ्ग्यार्थ हुआ करता है, तब तो, उसमें 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का सामान्य लक्षण अनुगत हो जाता है, किन्तु यदि इसका वही अभिप्राय लिया जाय जो कि काव्यप्रकाशकार की इस कारिका अर्थात्—

'इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिः कथितः।'(का० प्र० १. ४)

का अभिप्राय है, तब यह स्पष्ट है कि यहां वस्तु और अलङ्कृतिरूप व्यङ्ग्यार्थ भी अभिप्रेत हैं जो कि वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारजनक हुआ करते हैं। वस्तुतः विश्वनाथ कविराज भी ऐसा ही मानते हैं—

'वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा।' (सा० द० ४. ७)

किन्तु तब यह मानना आवश्यक हो जाता है कि विश्वनाथ कविराज का यह काव्यलक्षण तो 'रसध्वनि' काव्य का ही लक्षण है और ध्वनि अथवा उत्तम काव्य के भेदप्रभेद के निरूपण में, उन्होंने 'न्यग्भावित-वाच्यव्यञ्जनक्षम शब्दार्थयुगल' (काव्यप्रकाश : १. ४) को काव्य का लक्षण मान कर काम चलाया है।

'रसात्मक वाक्य काव्य है' यह काव्यलक्षण गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक मध्यम काव्य की दृष्टि से तो और भी अधिक अनुपयुक्त और अनुपपन्न लगता है। कारण यह है कि रस का संस्पर्श तो केवल अपराङ्ग अथवा इतराङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के एक रूप के ही साथ दिखाई देता है और काकाक्षिप्त, वाच्यसिद्ध्यङ्ग, संदिग्ध-प्राधान्य, तुल्यप्राधान्य, अस्फुट, अगूढ आदि गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य-भेद ऐसे हैं जिनमें रसरूप व्यङ्ग्यार्थ के गुणीभाव का अभिप्राय घटित ही नहीं हो सकता।

ऐसा लगता है जैसे 'साहित्यदर्पण' के शरीरसंस्थान में कुछ कमी रह गयी है। विश्वनाथ कविराज की यह कृति अलङ्कारशास्त्र में एक अपूर्व महत्त्व रखती यदि इसके उपक्रम और उपसंहार में सामञ्जस्य रहता। किन्तु ऐसा नहीं हो पाया। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के उद्घोष के साथ साहित्यदर्पण प्रारम्भ हुआ, किन्तु कुछ ही दूर आगे चलने पर, इसका यह उद्घोष 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' के रूप में परिणत हो गया।

'रसात्मक वाक्य' को 'काव्य' मानकर चलने से, काव्य के भेद-प्रभेदों में, दसों रसों के अभिव्यञ्जक दस प्रकार के 'वाक्य' और इनके समुच्चयरूप 'दस महाकाव्य' का विचार-विमर्श ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यह काव्यालोचन-प्रक्रिया अपनायी जा सकती थी किन्तु इसके अपनाने, पर 'वस्तु-ध्वनि' और 'अलङ्कार-ध्वनि' का क्षेत्र अछूता रह जाता और जब तक इन्हें न अपनाया जाता, तब तक 'ध्वनि' काव्य का स्वरूप-निरूपण भी कैसे किया जाता? वस्तुतः यही सोचकर ध्वनिकार ने काव्य के सामान्य लक्षण के रूप में 'ललितोचितसंनिवेश-विशिष्ट-शब्दार्थयुगल' का निरीक्षण किया है और विशेष-लक्षण के रूप में 'रसादिध्वन्यात्मक शब्दार्थयुगल' का दर्शन किया है। यही बात 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि' के रूप में काव्यलक्षण बनाने वाले

आचार्य मम्मट की भी है। इस लक्षण के आधार पर काव्य-कृतियों के तारतम्य का अनुशीलन और उसके आधार पर उनकी विभाग-व्यवस्था संगत बैठ जाती है।

अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्

विश्वनाथ कविराज ने, रसभावादिरूप परम काव्यार्थ के अवबोधन में जिस 'तुर्या' अथवा 'चतुर्थी' वृत्ति या शक्ति का निर्देश किया है वह वृत्ति या शक्ति क्या है? यहाँ यही कहा जा सकता है कि यह वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति है क्योंकि विश्वनाथ कविराज की इस उक्ति अर्थात्—

'वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधा-तात्पर्य-लक्षणाख्यानाम्।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम्॥ (सा० द० : ५.१)

का और कोई स्वारस्य क्या हो सकता है? रसादिबोध में 'अभिधा' व्यापार का प्रवेश असंभव है, क्योंकि रसादिरूप अर्थ सामयिक अथवा संकेतित जात्यादिरूप चतुर्विध अर्थों से सर्वथा विलक्षण प्रकार का ही हुआ करता है। यदि शब्द और रसादिरूप अर्थ में वाच्यवाचकभावसंबन्ध हो सकता तब तो रामायणादि महाकाव्यों में 'करुणरसोऽयम्' का उल्लेख अनिवार्य रूप से रहा करता! किन्तु रसादिरूप अर्थ ऐसा कहाँ कि 'करुण' आदि शब्दों के प्रयोग से प्रतीत हो जाय! 'अभिधा' की भाँति, अभिहितान्वयवादी मीमांसकों अथवा उनके अनुयायी आलङ्कारिकों की मान्यता की 'तात्पर्य-वृत्ति' भी रसादिरूप रम्य काव्यार्थ के अवबोध में असमर्थ ही दिखाई देती है। अभिहितान्वयवादी लोगों की तात्पर्यवृत्ति केवल अन्वयबोध में ही सारी शक्ति समाप्त कर देती है। रसादिरूप अर्थ और अन्वयबोध में क्या संबन्ध! जिन्हें अन्वयबोध हो सकता है वे रसादिरूप अर्थ की पहचान नहीं रखा करते। 'लक्षणा' शक्ति के साथ भी रसादिरूप रम्य काव्यार्थों का कोई संबन्ध नहीं क्योंकि न तो रसादिरूप रम्य काव्यार्थ की प्रतीति में शब्दों के मुख्यार्थ-बाध की ही कोई संभावना हुआ करती है और न शब्दों के मुख्यार्थ और रसादिरूप रम्य अर्थों में सामीप्य, सादृश्य, वैपरीत्य आदि-आदि सम्बन्ध ही दिखायी दिया करते हैं। रसादिरूप अर्थों के प्रतिपादन में शब्द की न तो कोई रूढि है और न प्रयोजन। रूढि और प्रयोजन तो व्यावहारिक जीवन के शब्द-प्रयोगों के प्रयोजक हैं और रसादिरूप अर्थ कलात्मक जीवन की प्राप्ति है जिसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति से उत्तीर्ण आह्लाद अथवा आनन्द ही लक्ष्यरूप से प्रतीत होता है।

'शब्द' और 'रस' के संबन्ध में यह समस्या एक बहुत प्राचीन समस्या है। इस समस्या के समाधान में ही ध्वनिदर्शन का जन्म हुआ। विश्वनाथ कविराज एक ध्वनिदार्शनिक काव्याचार्य हैं। उन्होंने ध्वनिकार की मान्यता के प्रमाण पर काव्यरूपशब्द और रसादिरूप अर्थों के संबन्ध का निर्धारण किया है। ध्वनिदर्शन की दृष्टि से काव्य और रसादिरूप अर्थों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव-रूप संबन्ध ही सर्वतोभद्र प्रतीत होता है। इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने इस संबन्ध को न मानने वाले आचार्यों की तीव्र आलोचना भी की है जिनमें 'दशरूपककार' का उल्लेख स्पष्टतया किया हुआ है। दशरूपककार यह मानते हैं—

'काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशय-सुखास्वाद-व्यतिरेकेण प्रतिपाद्य-प्रतिपादकयोः (स्थायिविभावाद्ययोः) प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दो-द्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते, तदनुभूतिनिमित्तत्वञ्च विभावादिसंसृष्टस्य स्थायिन एवाव-गम्यते, अतो वाक्यस्याभिधानशक्तिस्तेन तेन रसेनाकृष्यमाणा तत्तत्स्वार्थापेक्षितावान्तर-

विभावादिप्रतिपादनद्वारा स्वपर्यन्तसायितामानीयते, तत्र विभावादयः पदार्थस्थानीयास्तत्संसृष्टो रत्यादिर्वाक्यार्थः। तदेतत् काव्यवाक्यं यदीयं ताविमौ पदार्थवाक्यार्थौ।'

(दशरूपक : ४. ३७)

अर्थात् काव्यशब्दों का प्रयोजन एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति का उत्पादन है। यह प्रवृत्ति सहृदय-हृदय का आह्लाद है जो कि विभावादि-संसृष्ट रत्यादिरूप स्थायीभावों का कार्य है। काव्य-वाक्य के विश्लेषण में यही दिखायी दे सकता है कि विभावादि पदार्थरूप हैं और रत्यादिरूप स्थायीभाव, वाक्यार्थरूप। इस दृष्टि से काव्यवाक्य और रस अथवा आह्लाद में, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव नामक नये संबन्ध की कल्पना अनावश्यक है क्योंकि यहाँ भाव्यभावकभावरूप संबन्ध से ही कार्य चल जाता है जैसा कि नाट्यशास्त्र का संकेत है—

'भावाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः॥'

विश्वनाथ कविराज ने इस उपर्युक्त मान्यता का युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। इनका कहना यह है कि 'यदि रसादिबोधविषयक वृत्ति को तात्पर्यवृत्ति कहा जाय, तब, यह तो कहा नहीं जा सकता कि यह 'तात्पर्यवृत्ति' अभिहितान्वयवादी मीमांसकों की मान्यता की वृत्ति है, इसलिये अन्ततोगत्वा इसे या तो 'भावना' (भट्टनायक की भावकता) कहना पड़ेगा या 'व्यञ्जना' कहना पड़ेगा। ऐसी परिस्थिति में भावना-व्यञ्जना और रसादि-विषयक तात्पर्यवृत्ति एक ही वृत्ति के तीन नाम होंगे, जिसमें, व्यञ्जनावाद को कोई आपत्ति नहीं। यहाँ दूसरी बात यह भी है कि 'रसभावादि' रूप अर्थ प्रवृत्त्यात्मक नहीं अपितु ऐसे अर्थ हैं जिनके संबन्ध में 'प्रवृत्ति' की चर्चा ही असंगत है। रसभावादिरूप अर्थ यदि प्रवृत्त्यात्मक माने गये तो काव्य और शास्त्र का भेद ही मिट गया! रसभावादि को विलक्षण प्रवृत्ति भी मानना असंभव है क्योंकि रसभावादि के 'आस्वाद' में 'प्रवृत्ति' भी विश्रान्त हो जाती है। रस अथवा आह्लाद तो ब्रह्मास्वादसविध तत्त्व है जिसमें 'प्रवृत्ति' का प्रवेश ही असंभव है।

यह तुर्या अथवा चतुर्थी वृत्ति 'व्यञ्जना' वृत्ति ही है जिसे विशेषतः रसानुभव की दृष्टि से 'रसना' भी कहा गया है। नाम के सम्बन्ध में विवाद का कोई महत्त्व नहीं। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'तस्मादभिधा-तात्पर्य-लक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन-द्योतन-व्यञ्जन-प्रत्यायन-अवगमनादि-सोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।'

(ध्वन्यालोक : १. ४)

और रसानुभव की दृष्टि से भी व्यञ्जना के विविध नामों का उल्लेख कर दिया है—

'अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः।'

'यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी, आगमोत्था, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु।...सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव।' (ध्वन्यालोकलोचन : २य उद्योत)

बोध की दृष्टि से जैसे व्यञ्जना और रसना एकरूप हैं वैसे ही व्यापार की दृष्टि से भी इनमें एकरूपता ही रहा करती है। ध्वनिवादी आलङ्कारिक 'चतुर्थी वृत्ति' की मान्यता को अनिवार्य

मानते हैं न कि इस वृत्ति के 'नाम' पर उनका कोई वादविवाद अथवा आग्रह है। यह एकदूसरी बात है कि कुछ लोग वस्तुरूप और अलङ्काररूप प्रतीयमान अर्थों की प्रतिपत्ति के लिये, जिनमें रसभावादिरूप अर्थों की अपेक्षा चमत्कार की न्यूनता स्वाभाविक है, इस चतुर्थी वृत्ति को व्यञ्जना कहें और रसभावादिरूप निरतिशय-सुखास्वादमय काव्यार्थ के लिये, इसे ही 'रसना' कहें—

'सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः॥' (सा० द० ५. ५)

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः स चतुर्विधः

'दृश्य' काव्य को 'अभिनेय' काव्य कहा जाता है और 'अभिनेय' काव्य को 'रूपक'। 'दृश्य' 'अभिनेय' और 'रूपक' शब्दों में एक ही वस्तु के तीन दृष्टिकोणों से देखे जाने के अभिप्राय अन्तर्भूत हैं। 'दृश्य' शब्द से सामाजिक द्वारा नाट्यरूप वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष का अभिप्राय निकलता है, 'अभिनेय' शब्द से यह पता चलता है कि नाट्यरूप वस्तु नट की कला के प्रदर्शन का विषय है और 'रूपक' शब्द से यह संकेत होता है कि नाट्यरूपवस्तु की सृष्टि तभी होती है जब कि कवि नट पर रामादि का अभेदारोप कर दे। चाहे नाट्यरूप वस्तु 'दृश्य' हो या 'अभिनेय' हो या 'रूपक' हो या भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखी गयी एक ही वस्तु हो, जो कि वह वस्तुतः है, इतना निश्चित है कि विना 'अभिनय' के उसका अस्तित्व असंभव है। यह 'अभिनय' क्या है ? विश्वनाथ कविराज ने 'अभिनय' को 'अवस्थानुकार' कहा है—

'भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः' (सा० द० ६. २)

यह 'अवस्थानुकार' क्या है ? 'अवस्थानुकार' का अभिप्राय राम-युधिष्ठिर आदि के साथ नट की 'तादात्म्यापत्ति' है जिसका साधन, अङ्ग, वाणी, वेश और सत्त्व का अभिनयचतुष्टय है जो कि नट की कला है। अङ्ग-वाणी-वेश और सत्त्व के अभिनयचतुष्टय का नाम क्रमशः आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक अभिनय है—

'.................................स चतुर्विधः।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा॥' (सा० द० : ६. २)

इनमें पहला अर्थात् 'आङ्गिक' अभिनय वह है जिसमें नट अपने सिर, हाथ, उरः-स्थल, पार्श्व, कटि और पैर-इन ६ अङ्गों तथा नेत्र, भ्रुकुटि, नासिका, अधर, कपोल और चिबुक-इन ६ उपाङ्गों द्वारा रामादि के साथ 'तादात्म्य' अथवा 'अभेद' का अनुसंधान किया करता है। नाट्यशास्त्रकार ने स्पष्ट कहा है—

'अभिपूर्वस्तु णीञ्धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये।
यस्मात् पदार्थान्नयति तस्मादभिनयः स्मृतः॥
विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः।
शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृतः॥' (ना० शा० : ८. ६, ७)

दूसरे अभिनय-प्रकार अर्थात् 'वाचिक' अभिनय का तात्पर्य 'संगीतचूडामणि' के अनुसार यह है—

'रामाद्युपज्ञं यद् वाक्यं नाट्ये तद् वाचिकं स्मृतम्।'

अर्थात् वाचिकाभिनय वह अभिनय है जिसमें नट, रसोचित राग-लय आदि से समन्वित, 'वाणी' द्वारा, रामादि के साथ तादात्म्यारोप से, सहृदय-हृदय में विभावादि की अभिव्यञ्जना किया करता है।

तीसरा अभिनय-प्रकार 'आहार्याभिनय' है जिसका साधारण लक्षण यह है—

'आहार्याभिनयो नाट्योचितालङ्कारधारणम्।'

अर्थात् आहार्याभिनय वह अभिनय है जिसमें नट, वेशभूषा के द्वारा, रामादि के साथ, अपने तादात्म्यारोप को सामाजिकों पर अभिव्यक्त किया करता है।

चौथा अभिनय-प्रकार 'सात्त्विक' अभिनय है। नाट्याचार्य भरत ने 'सत्त्व' को इस प्रकार समझाया है—

किमन्ये भावाः सत्त्वेन नाभिधीयन्ते येनैते सात्त्विका उच्यन्ते? अत्रोच्यते—इह हि सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते। मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिर्वृत्तिरिति। तस्य योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवादिकृतः स न शक्यतेऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्तः? इह हि नाट्यधर्मप्रवृत्ताः सुखदुःखकृतो भावास्तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्या यथा सरूपा भवन्ति। दुःखं नाम रोदनात्मकम् तत्कथमदुःखितेन, सुखं च प्रहर्षात्मकं तत् कथं दुःखितेनाभिनेयम्। एतदेवास्य सत्त्वं यद् दुःखितेन सुखितेन वाऽश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्याविति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभिव्याख्याता।'

जिसके देखते 'सात्त्विक' अभिनय में 'स्तम्भ', 'स्वेद' आदि के प्रदर्शन द्वारा, नट में, रामादि के तादात्म्यारोप की संपन्नता का अभिप्राय लिया जाया करता है।

विश्वनाथ कविराज ने इस 'अभिनय'-चतुष्टय का संकेतमात्र किया है क्योंकि उनका उद्देश्य केवल इतना बताना है कि 'अभिनय' रूपक अथवा दृश्यकाव्य के विभावादि के 'अभिनयन' अथवा 'अभिव्यञ्जन' में समर्थ अभिनेता अथवा नट की कला है।

सर्गबन्धो महाकाव्यम्

आचार्य दण्डी ने भी 'महाकाव्य' की परिभाषा की है। उसके अनुसार महाकाव्य का स्वरूप यह है—

'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णव-शैलर्तु-चन्द्रार्कोदय-वर्णनैः।
उद्यान-सलिलक्रीडा-मधुपान-रतोत्सवैः॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्र-दूत-प्रयाणाजि-नायकाभ्युदयैरपि॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।

सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः ॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ॥'

(काव्यादर्श : १. १८-१९)

अलङ्कार-वाद के आचार्य दण्डी के लिये, 'महाकाव्य' के लक्षणों में, इन सभी विशेषताओं का निर्देश कर देना स्वाभाविक है जो कि 'रघुवंश' आदि सर्गबन्धात्मक रचनाओं की विशेषतायें हैं। किन्तु रसध्वनिवादी कविराज विश्वनाथ ने, अपने महाकाव्यलक्षण में उन बातों का भी निर्देश कर दिया है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से ही महाकाव्य में देखी जा सकती हैं। 'रसध्वनि'-वाद की दृष्टि से ही, विश्वनाथ कविराज ने, महाकाव्य के लिये, शृङ्गार, वीर और शान्त में से किसी एक को अङ्गी और दूसरे रसों को अङ्गरूप से निर्दिष्ट किया है—

'शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः ....।'

(सा० द० : ६. ३१७)

विश्वनाथ कविराज का 'महाकाव्य'लक्षण कई बातों में सर्वमान्य हो चुका है। केवल कुछ थोड़ी सी बातें रह गयी हैं जिनका निर्देश संभवतः इसलिये नहीं किया जा सका, क्योंकि प्राचीन, अलङ्कारशास्त्र का प्रभाव रसध्वनिवादी आलङ्कारिकों पर भी प्रायः जमा ही रहा। ये थोड़ी सी बातें वे हैं जिन्हें ध्वनिकार आनन्दवर्धन की इन उक्तियों में देखा जा सकता है—

'संधिसंध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्र-स्थितिसंपादनेच्छया ॥
अलंकृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥'

(ध्वन्यालोक : ३. १२, १४)

अर्थात् दृश्य अथवा श्रव्य काव्य में संधि-संध्यङ्ग-घटना का अभिप्राय शास्त्राज्ञा का पालन नहीं होना चाहिये। संधि-संध्यङ्ग-घटना का प्रयोजन तो रसभाव की अभिव्यञ्जना है। इस दृष्टि से उतनी ही संधियों और उतने ही संध्यङ्गों की योजना अपेक्षित है जिससे रसभाव की अभिव्यक्ति में सहायता मिले। इसके अतिरिक्त अलंकृति-योजना में भी रसाभिव्यञ्जन की ही अपेक्षा नियामक रूप से रहनी चाहिये।

इस कमी के रहने पर भी, विश्वनाथ कविराज का महाकाव्य-लक्षण, ऐसे महाकाव्यलक्षण से कई गुना उत्तम और उपादेय है जिसे इन पंक्तियों में देखा जा सकता है—

'नगरार्णव-शैलर्तु-चन्द्रार्कोदय-वर्णनम् ।
उद्यान सलिल क्रीडा-मधुपान-रतोत्सवाः ॥
विप्रलम्भो विवाहश्च कुमारोदयवर्णनम् ।
मन्त्रद्यूतप्रयाणानि नायकाभ्युदया अपि ॥
एतानि यत्र वर्ण्यन्ते तन्महाकाव्यमुच्यते ।'

(विद्याधर : प्रतापरुद्रीय : काव्यप्रकरण)

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यम्

विश्वनाथ कविराज ने 'गद्य' को 'वृत्तगन्धोज्झित' रचना कहा है। ध्वनिकार भी 'गद्य' को 'छन्दोनियमवर्जित' रचना कह चुके हैं। गद्य को 'अपाद-पदसंतान' कहने का भी अभिप्राय यही है कि गद्य कवियों का वह प्रबन्ध-प्रस्थान है जो 'वृत्त' अथवा 'छन्दोबन्ध' से भिन्न प्रकार का हुआ करता है। किन्तु इतने से ही 'गद्यकाव्य' का स्वरूप-निरूपण संभव नहीं। 'गद्यकाव्य' के स्वरूप-निरूपण के लिये तो ध्वनिकार की इस मान्यता का निर्देश करना आवश्यक था—

> 'रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता।
> रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद्विभेदवत्॥

'अथवा पद्यवद्गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भवति। तत् विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति, न तु सर्वाकारम्। तथा हि गद्यबन्धेऽप्यतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते।···विषयापेक्षे त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च। तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा।'

(ध्वन्यालोक : ३. ९)

जिसका अभिप्राय यह है कि 'गद्य' और 'पद्य' तो काव्य के माध्यम हैं। गद्यकाव्य में भी रसबन्ध-विषयक उसी औचित्य का अनुसरण आवश्यक है जो कि पद्यकाव्य के लिये अपेक्षित है। यहाँ भी एक रस की अङ्गीरूप से अभिव्यक्ति और उसके उपस्कारक रसों की योजना का वही स्थान और महत्त्व है जो कि पद्यकाव्य में रहा करता है। गद्यकाव्य के विषयों अर्थात् कथा-आख्यान-आख्यायिका आदि-आदि भेदों की दृष्टि से कुछ थोड़ा रचना-परिवर्तन यदि हो भी तो भी कोई आपत्ति नहीं।

'गद्य' के चार भेद, जिन्हें मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक कहा गया है, गद्यकाव्य के भेद नहीं अपितु गद्यबन्ध के भेद हैं। ध्वनिकार ने तो 'दीर्घसमासा', 'अल्पसमासा' और 'असमासा' रचना को ही गद्य के भेदरूप से निर्दिष्ट किया था, किन्तु बाद की गद्यकाव्यात्मक प्रवृत्तियों के देखते, 'वृत्तगन्धि' बन्ध भी गद्य के एक प्रकाररूप में मान लिया गया जिसका विश्वनाथ कविराज ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

> '··········गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
> भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकं च चतुर्विधम्॥ (सा० द० : ६. ३३०)

रसापकर्षका दोषाः

विश्वनाथ कविराज का दोष-स्वरूप-निरूपण उनके काव्य-स्वरूप-निरूपण से संगत हो जाता है 'रसात्मक वाक्य' काव्य है और जिसे उसका 'दोष' कहते हैं वह रसरूप आत्मतत्त्व के अपकर्ष का हेतु है। किन्तु इस दृष्टि से तो उन्हीं दोषों का निरूपण किया जा सकता है जो रसापकर्षक दोष हैं। रसापकर्षक दोषों में विशेषतया इन्हीं की गणना है—

> 'रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि।
> परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः॥
> आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः।
> अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः॥

'अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ।
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ॥
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥'

(साहित्यदर्पण : ७. १२-१५)

ऐसी परिस्थिति में, पद, पदांश, वाक्य और अर्थ-दोषों का विवेक, जिसे साहित्यदर्पणकार ने किया है, किस प्रकार समञ्जस हो सकता है ? क्या यहाँ आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा का प्रभाव नहीं दिखायी देता ? किन्तु यहाँ यह बात भी है कि जब पद, पदांश, वाक्य और अर्थ के दोषों से 'वाक्य' दूषित हो जाय तब 'रस' रूप आत्मतत्त्व के समीचीन अभिव्यञ्जन में भी तो कमी आ ही जायगी। इसलिये पञ्चविध दोषतत्त्व के निरूपण में कोई अनुपपत्ति नहीं। इन दोषों में, कुछ इसलिये 'रसविघातक' हैं क्योंकि उनके द्वारा 'रसादि की प्रतीति' में रुकावट पड़ जाती है, कुछ इसलिये वर्जनीय हैं क्योंकि वे 'रसादि-प्रकर्ष की प्रतीति' में बाधक हैं और कुछ इसलिये रसापकर्षक हैं क्योंकि वे 'रसादि-प्रतीति' में विलम्ब लगा दिया करते हैं।

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता

विश्वनाथ कविराज ने 'कविसमय' का भी निरूपण किया है। 'कविसमय' का विशद विचार सर्वप्रथम कविराज राजशेखर का किया हुआ है। राजशेखर ने 'कविसमय' का अभिप्राय यह बताया है—

'अशास्त्रीयमलौकिकञ्च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः। 'नन्वेष दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः'? इत्याचार्याः। 'कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः' इति यायावरीयः। 'निमित्तं तर्हि वाच्यम्?' इति आचार्याः। 'इदमभिधीयत' इति यायावरीयः। पूर्वे हि विद्वांसः सहस्रशाखं साङ्गं च वेदमवगाह्य, शास्त्राणि चावबुध्य, देशान्तराणि द्वीपान्तराणि च परिभ्रम्य, यानर्थानुपलभ्य प्रणीतवन्तस्तेषां देशकालान्तरवशेनान्यथात्वेऽपि तथात्वेनोपनिबन्धो यः स कविसमयः। कविसमयशब्दश्चायं मूलमपश्यद्भिः प्रयोगमात्रदर्शिभिः प्रयुक्तो रूढश्च। तत्र कश्चिद्यशस्त्वेन व्यवस्थितः कविसमयेनार्थः, कश्चित् परम्परोपक्रमार्थं स्वार्थाय धूर्तैः प्रवर्तितः। स च त्रिधा स्वर्ग्यो भौमः पातालीयश्च। स्वर्ग्यपातालीययोः भौमः प्रधानः। स हि महाविषयकः। स च चतुर्धा जाति-द्रव्य-गुण-क्रियारूपार्थतया। तेऽपि प्रत्येकं त्रिधा—असतो निबन्धनात्, सतोऽप्यनिबन्धनात्, नियमतश्च'। (काव्यमीमांसा : १४वाँ अध्याय)

इससे यह स्पष्ट है कि राजशेखर के पहले 'कविसमय' की मीमांसा समीचीन नहीं हो पायी थी। 'कविसमय' को 'कविपरम्परा' कह सकते हैं। कवि-परम्परा लोक और शास्त्र के अनुसार भी हो सकती है और विरुद्ध भी। लोक अथवा शास्त्र के अनुसार चलने वाली कवि-परम्परा 'कविसमय' में नहीं आती। 'कविसमय' के भीतर अलौकिक और अशास्त्रीय पदार्थ-वर्णन ही आता है। अशास्त्रीय और अलौकिक पदार्थ-वर्णन काव्यरचना को सुविधा प्रदान करता है। 'कविसमय' में कुछ बातें तो 'प्राचीन व्यवस्था' वाली हैं और कुछ ऐसी भी हैं जिन्हें 'नवीन व्यवस्था' कह सकते हैं, जिनका प्रवर्तन-प्रामाणिक नहीं। स्वर्ग, पाताल और भूलोक के देखे-अनदेखे पदार्थ-सार्थ का उपनिबन्ध लोकावेक्षण और शास्त्रावेक्षण का परिणाम नहीं, अपि तु काव्यावेक्षण का परिणाम हो

सकता है। ऐसे पदार्थवर्णन में वस्तुसत्ता और वस्तु-स्वभाव का विपर्यय स्वाभाविक है। नदियों में नीलकमल, जलमात्र में हंस, पर्वतमात्र में रत्न-सुवर्ण आदि-आदि का वर्णन 'असत्' का उपनिबन्ध है किन्तु परम्परा से चला आ रहा है, इसलिये इसका अनुसरण काव्य-दोष नहीं अपि तु 'गुण' है। इसी प्रकार वसन्त में मालती के न खिलने, चन्दन वृक्ष में फल-फूल के न होने आदि का वर्णन 'सत्' का भी अवर्णन अथवा अनिबन्धन है। 'नियमतः उपनिबन्ध' भी कतिपय वस्तुओं का देखा जाता है जैसे कि मकर का वर्णन समुद्र-वर्णन में ही हुआ करता है, मौक्तिक का वर्णन ताम्रपर्णी नदी के वर्णन-प्रसङ्ग में ही किया जाता है आदि-आदि।

विश्वनाथ कविराज के समय तक 'कविसमय' का अनुपालन कविजन का कर्तव्य हो चला था। विश्वनाथ कविराज के लिये 'कविसमय' आलोच्य विषय नहीं अपि तु 'प्रतिपाद्य' विषय है। 'कविसमय' के देखते 'ख्यातविरुद्धता' का दोष 'दोष' नहीं अपि तु 'गुण' हो जाया करता है—इस सिद्धान्त के समर्थन में विश्वनाथ कविराज ने 'कविसमय' का निर्देश किया है। वैसे काव्यप्रकाशकार ने भी 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' दोष के निदर्शन में यह कहा है—

'सुसितवसनालङ्कारायां कदाचन कौमुदी-
महसि सुदृशि स्वैरं यान्त्यां गतोऽस्तमभूद्विधुः।
तदनु भवतः कीर्तिः केनाप्यगीयत येन सा
प्रियगृहमगान्मुक्ताशङ्का क्व नासि शुभप्रदः॥

अत्रामूर्ताऽपि कीर्तिः ज्योत्स्नावत् प्रकाशरूपा कथितेति लोकविरुद्धमपि कविप्रसिद्धेर्न दुष्टम्।' (काव्यप्रकाश : ७म उल्लास)

किन्तु इसमें 'कविसमय' का कोई पता नहीं चलता। 'कविप्रसिद्धि' ही रूढमूल होकर 'कविसमय' बन जाती है—इतना निष्कर्ष यहाँ अवश्य निकल जाता है।

यहाँ यह देखना है कि विश्वनाथ कविराज के 'कविसमय' और 'रसात्मक वाक्यरूप काव्य' में परस्पर क्या संबन्ध हो सकता है। विश्वनाथ कविराज ने 'लोकशास्त्रादि के अवेक्षण से उत्पन्न व्युत्पत्ति अथवा निपुणता' को काव्योत्पत्ति के हेतुरूप में कहीं नहीं बताया। आचार्य मम्मट के लिये तो 'कविप्रसिद्धि' भी 'व्युत्पत्ति' का ही परिणाम मानी जा सकती है। किन्तु केवल 'शक्ति' को रसमयी रचना के हेतुरूप में मानने वाले आचार्य के लिये 'कविसमय' की मान्यता का क्या अर्थ? ऐसा लगता है कि रसवाद की स्थापना के बाद, कविजन, विभावादियोजना के लिये, 'सत्' और 'असत्' के उपनिबन्ध में कोई भेदभाव करना उचित नहीं समझते होंगे। नदियों और समुद्रों में कमलों और कुमुदों का वर्णन, प्राकृतिक दृश्य के वर्णन की दृष्टि से तो महान् अनर्थ सा ही लगता है किन्तु यदि इसमें उचित रस-भाव की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य है तब यह सब उपादेय है अनुपादेय नहीं। कवियों का रस और भाव जब तक नाट्यशास्त्र का ही रस-भाव न मान लिया जाय तब तक 'कविसमय' की मान्यता समझ में नहीं आती। जो कवि अपनी आँखों से प्रकृति दर्शन करें अथवा अपनी भावना से वस्तु-स्वभाव का सौकुमार्यपरिस्पन्द देखे वह 'कविसमय' का अनुमोदक कदापि नहीं हो सकता। 'कविसमय' का अनुमोदन तो 'शास्त्र-स्थिति-संपादनेच्छया' ही हो सकता है और वही कवि कर सकता है जो नाट्यशास्त्र और अलङ्कारशास्त्र के अध्ययन से रसात्मक वाक्यों की रचना करे। सत्कवि-प्रबन्धों में व्योम की कालिमा अथवा पाप की कालिमा, यश की शुभ्रता

अथवा हास की शुभ्रता आदि को 'कविप्रौढोक्ति' क्यों न माना जाय ? हाँ, यदि इसका अनुकरण होने लगे तब 'कविप्रसिद्धि' से 'कविसमय' का अद्भुत जीव अवश्य उत्पन्न हो जाता है और इसके रहते 'रसात्मक वाक्य' भी वस्तुतः काव्य नहीं हो सकते, चाहे प्रत्येक पद-पदार्थ रसाभिव्यञ्जक ही क्यों न प्रतीत हों ? जब कि रसवाद के अनुसार लोक के ही कारण-कार्य और सहकारी तत्त्व, जो लोकगत चित्तवृत्तियों के उत्पादन में समर्थ हुआ करते हैं, काव्य में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के रूप में प्रतीत हुआ करते हैं, तब 'कविसमय' कहाँ से उत्पन्न हो जाता है ? यह 'कविसमय' यदि ऐसे 'काव्यलोक' की कल्पना कराता है जिसमें कुछ भी कुछ हो सकता है तब 'लोक' और 'काव्य' में संबन्ध कहाँ और रसभाव की अभिव्यञ्जना के लिये, लोकजीवन के स्पर्श का क्या अवसर ? रसध्वनिवादी आचार्य के लिये तो 'कविसमय' की आलोचना अपेक्षित थी क्योंकि 'रसयोजना' और 'प्रकृत्याद्यौचित्य' का संबन्ध अटूट रहा करता है। प्रकृत्याद्यौचित्य के सिद्धान्त के देखते 'कविसमय' की मान्यता को प्रोत्साहित करना उचित नहीं लगता।

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा। गुणाः......

सभी रसध्वनिवादी आलङ्कारिकों की भाँति विश्वनाथ कविराज भी माधुर्य, ओज और प्रसाद को 'रसमात्रधर्म' मानते हैं। इन गुणों को 'शब्दार्थधर्म' मानना, जैसा कि रीतिवादी काव्याचार्यों का कथन है, ठीक नहीं। 'रसात्मकता' में 'गुणात्मकता' समन्वित है क्योंकि माधुर्य आदि गुणत्रय रसों के स्वरूपविशेष हैं। 'रसात्मक' अथवा रसभावाभिव्यञ्जक पद-संदर्भ काव्य है और माधुर्य आदि गुणत्रय साक्षात् रस के उत्कर्षवर्धक होने से, परम्परया, रसात्मक वाक्य अथवा रसाभिव्यञ्जक पदकदम्ब के उत्कर्षवर्धक माने जा सकते हैं।

माधुर्यादि गुणत्रय के स्वरूप-निरूपण में विश्वनाथ कविराज अन्य ध्वनिवादी काव्याचार्यों के साथ मतभेद रखते प्रतीत होते हैं। आचार्य मम्मट के अनुसार 'माधुर्य' करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रसों में उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रूप से अनुभव किया जाया करता है। इन रसों का स्वरूप यह 'माधुर्य' एक 'आह्लाद'—विशेष है जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में 'द्रुति' उत्पन्न होती है अर्थात् सहृदय सामाजिक का चित्त एक अलौकिक आनन्द से पिघल सा पड़ता है—

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्।
करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्॥'

(काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

यही 'माधुर्य'-स्वरूप ध्वनिकार को भी अभीष्ट है। वैसे ध्वनिकार की दृष्टि में इसके उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अनुभव का क्रम बदला हुआ है—

'शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः॥' (ध्वन्या० : २. ८)

विश्वनाथ कविराज के मत में 'आह्लाद' और 'चित्त का द्रवीभाव' एक ही वस्तु है न कि भिन्न-भिन्न, जिससे इनमें कार्यकारणभाव की कल्पना, जिसे ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार ने की है, असंगत मानी जानी चाहिये। विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में माधुर्य की अनुभूति का प्रकर्षतारतम्य भी भिन्न है क्योंकि उनके अनुसार संभोगशृङ्गार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्तरस के आस्वाद में 'माधुर्य' अथवा 'चित्तद्रुति' का उत्तरोत्तर उत्कर्ष-क्रम अधिक उचित है—

'चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥' (सा० द० : ८. २)

यही बात 'ओज' के स्वरूप के संबन्ध में भी दिखायी देती है। आचार्य आनन्दवर्धन और काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'ओज' का तात्पर्य 'दीप्ति' है जिसे वीरादि रसों के अनुभव में अनुभव किया जाया करता है और जिसके द्वारा सहृदय सामाजिक अपने 'चित्त-विस्तार' का अनुभव किया करता है—

'दीप्त्याऽऽत्मविस्तृतेहेतुरोजो वीररसस्थिति।' (काव्यप्रकाश : ८म उल्लास)

किन्तु विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में 'चित्तविस्तार' ही ओज है और 'दीप्ति' और 'चित्तविस्तार' में कार्यकारणभाव-संबन्ध की मान्यता असंगत है—

'ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु॥' (सा० द० : ८.४)

'ओज' के उत्तरोत्तर अनुभव-प्रकर्ष के संबन्ध में भी ध्वनिकार और काव्यप्रकाशकार तथा साहित्यदर्पणकार में मतभेद है। ध्वनिकार के अनुसार रौद्ररस ओजस्वी है किन्तु उसकी अपेक्षा वीर अधिक ओजस्वी है, काव्यप्रकाशकार ने वीर को ओजस्वी और उसकी अपेक्षा बीभत्स और रौद्र को अधिक ओजस्वी माना है। विश्वनाथ काव्यप्रकाशकार की इस मान्यता से सहमत हैं।

'प्रसाद' गुण के स्वरूप-दर्शन में साहित्यदर्पणकार और काव्यप्रकाशकार में मतभेद नहीं दिखायी देता। काव्यप्रकाशकार के अनुसार 'प्रसाद' का स्वरूप यह है—

'शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत् सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत् प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः॥' (का० प्र० : उल्लास ८)

और साहित्यदर्पणकार के अनुसार यह—

'चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥' (सा० द० : ८.७, ८)

तात्पर्य यह है कि दोनों काव्याचार्यों के मत में 'प्रसाद' एक समस्तरससाधारण 'धर्म' है जिससे कि उन-उन रसों के आस्वाद में सहृदय सामाजिक का हृदय प्रसन्न तथा निर्मल अथवा तन्मय बना रहा करता है।

अन्त में निष्कर्ष यह निकलता है कि रसध्वनिवाद के अनुसार माधुर्य और ओजरूप गुणद्वय का रहस्य शृङ्गार और वीर आदि रसों की चर्वणा के द्वारा उत्पन्न सहृदय सामाजिक की 'चित्त-द्रुति' और 'चित्तदीप्ति' का रहस्य है और 'प्रसाद' सभी रसों में सहृदय सामाजिक के हृदय के 'विकास' अथवा 'तन्मयीभवन' से संबद्ध है जिसके बिना न तो 'द्रुति' संभव है और न 'दीप्ति'।

यहाँ पण्डितराज जगन्नाथ ने कुछ और ही मर्म प्रकाशित किया है। उनका कहना यह है कि जब कि मधुर और ओजस्वी 'शृङ्गार' और 'वीर' ही 'चित्तद्रुति' और 'चित्तदीप्ति' के कारणरूप से दिखायी देते हैं तब 'द्रुति' और 'दीप्ति' के कारणरूप से 'माधुर्य' और 'ओज' की मान्यता अनावश्यक मानी जानी चाहिये (**प्रातिस्विकरूपेणैव रसानां कारणतोपपत्तौ गुणकल्पने गौरवात्**—रसगङ्गाधर : १म आनन)। साथ ही साथ 'माधुर्य' को 'द्रुति' और 'ओज' को 'दीप्ति' का कारण मानना भी ठीक नहीं क्योंकि मधुरतरता को द्रुततरता और मधुरतमता को द्रुततमता तथा ओजस्वितरता को दीप्ततरता और ओजस्वितमता को दीप्ततमता का भी पृथक् रूप से कारण मानना पड़ जाता है जिसमें 'गौरव' स्पष्ट है। शृङ्गार को मधुर और वीर को ओजस्वी मानने का अर्थ शृङ्गार के अनुभव में चित्त की द्रुति और वीर के अनुभव में चित्त की दीप्ति का अनुभव है। अन्ततोगत्वा

र्थ में भी द्रुति और दीप्ति की मान्यता औपचारिक नहीं अपि तु वास्तविक ही मानी । जब तक शब्द और अर्थ में द्रुति और दीप्ति की प्रयोजकता न मानी जाय तब तक र्थ द्वारा अभिव्यङ्ग्य रस में द्रुति और दीप्ति की प्रयोजकता कैसे मानी जा सकती है ?

पदसंघटनारीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत्

थ कविराज के अनुसार ध्वनिवाद में 'रीतितत्त्व' का भी निरूपण आवश्यक है । 'रीति' माधुर्यादि गुण के अभिव्यञ्जक पदविन्यास का अभिप्राय है । माधुर्यादि गुण का करनेवाली पदरचना इसलिये 'रीति' है क्योंकि इसी पदरचना से माधुर्य आदि का जाना जाया करता है । रीतितत्त्व के सम्बन्ध में महाकवि राजशेखर ने इसीलिये

'सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥'

ते' ही वह काव्य-तत्त्व है जिसमें रस-प्रवाह का सामर्थ्य रहा करता है । शब्द और अर्थ व्यरूप काव्य के 'अङ्ग' रूप हैं और शब्दार्थ-संघटना अथवा रीति काव्य का शरीर-जिसमें 'रस'रूप आत्मतत्त्व का स्फुरण सम्भव है । काव्यप्रकाशकार ने 'वैदर्भी' का तो नहीं किया किन्तु 'माधुर्य' के अभिव्यञ्जन के साधनरूप से असमासा अथवा मधुर 'घटना' को अवश्य माना है—

'मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू ।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा ॥' (का० प्र० : उल्लास ८)

कविराज ने इसी 'घटना' को 'वैदर्भी' रीति के नाम से स्पष्ट निर्दिष्ट किया है—

'माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णै रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥' (सा० द० : ९. २)

र जिस 'घटना' को काव्यप्रकाशकार ने ओजस्विता का अभिव्यञ्जक माना है—

'योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः ।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि ॥' (का० प्र० : उल्लास ८)

हित्यदर्पणकार के मत में 'गौडी' रीति है—

'ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ।
समासबहुला गौडी········· ॥' (सा० द० : ९. ३)

प्रकाशकार के अनुसार प्रसाद गुण का अभिव्यञ्जन करनेवाली 'घटना' कोई अलग घटना के 'प्रसाद' गुण समस्त प्रकार की संघटना का गुण है । विश्वनाथ कविराज भी यही —

'स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥' (सा० द० : ८. ८)

ाली' और 'लाटी' रीतियों की मान्यता का क्या आधार है ? इनमें प्रसाद गुण का न सामर्थ्य तो माना नहीं जा सकता क्योंकि प्रसाद तो सर्वसंघटनासाधारण गुण है ।

इसीलिये विश्वनाथ कविराज ने 'पाञ्चाली' रीति को वैदर्भी और गौडी का सम्मिश्रण और 'लाटी' रीति को वैदर्भी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण माना है। यहाँ यह स्पष्ट है कि यह रीति-निरूपण रीतिवादी आचार्यों के रीति-निरूपण का अनुसरण कर रहा है क्योंकि 'पाञ्चाली' और 'लाटी' को किसी रसविशेष का अभिव्यञ्जन करनेवाली 'पदसंघटना' नहीं माना गया। रसध्वनिवाद और रीतिवाद के समन्वय की इन कठिनाइयों के ही कारण काव्यप्रकाशकार ने रसाभिव्यञ्जक तत्त्व के रूप में 'रीति' का विवेचन नहीं किया। विश्वनाथ कविराज ने आधा समन्वय किया और आधा वे न कर सके। जब तक कोई रसध्वनिवादी आलङ्कारिक यह न कहे कि पञ्चाली रीति शृङ्गारादि मधुररस और वीरादि दीप्त रसों के 'संकर' का अभिव्यञ्जन साधन है तब तक 'पञ्चाली' रीति और 'रस' का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो जाय। कोई भी रसध्वनिवादी काव्याचार्य शृङ्गार और वीर का साङ्कर्य नहीं मान सकता और इसलिये रसध्वनिवाद में पाञ्चाली की मान्यता भी निरर्थक सिद्ध हो जाती है। लाटी रीति में तो रसाभिव्यञ्जन की चर्चा और भी असम्भव है क्योंकि यह रीति वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली का सम्मिश्रण है। जब तक मधुर और दीप्त और मधुर-दीप्त रसों का एकत्र सम्मिश्रण असम्भव है तब तक 'लाटी' रीति की कल्पना रसध्वनिवाद के सर्वथा विपरीत ही मानी जायगी।

यहाँ स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज रसवाद और रीतिवाद का समन्वय करने चले हैं किन्तु उनके लिये यह कार्य अशक्य हो गया है। विश्वनाथ कविराज का यह 'रस-रीति'समन्वय-प्रयास रसगङ्गाधरकार की इस कल्पना को जन्म देता है कि 'रचनाविशेष को रसाभिव्यञ्जक मानना एक गौरव है और अप्रामाणिक भी है' ('वर्णरचनाविशेषाणां माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकत्वमेव न रसाभिव्यञ्जकत्वम् , गौरवान्मानाभावाच्च' रसगङ्गाधर : १म आनन)।

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः । रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्काराः···

अलङ्कारवाद के अनुसार काव्य में अलङ्कारतत्त्व का महत्त्व सर्वाधिक है। आचार्य भामह ने स्पष्ट कहा है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम् ।' (काव्यालङ्कार : १. १३)

अर्थात् जैसे किसी रमणी का सुन्दर भी मुख विना अलङ्कार के मनोरम नहीं प्रतीत होता वैसे ही सुन्दर भी कविता बिना अलङ्कार के मनोहर नहीं लगती। किन्तु रीतिवादी आचार्य वामन ने इसमें कुछ परिवर्तन किया है—

'युवतेरिव रूपमङ्गकाव्यं स्वदते शुद्धगुणं तदप्यतीव ।
विहितप्रणयं निरन्तराभिः सदलङ्कारविकल्पकल्पनाभिः ॥
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो वपुरिव यौवनवन्ध्यमङ्गनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं नियतमलङ्करणानि संश्रयन्ते ॥'

(काव्यालङ्कार : ३. १. २)

अर्थात् जैसे लावण्य आदि गुणों से विशिष्ट रमणी का रूप कटक-कुण्डल आदि अलङ्कारों की सुन्दर योजना से और भी चमक उठता है वैसे ही माधुर्य आदि गुणों से युक्त कविता का स्वरूप अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कारों की समुचित योजना से और भी मनोरम बन जाता है। कविता के माधुर्य आदि गुण तो रमणी के लावण्य आदि गुणों की भांति हैं जिनके अभाव में अनुप्रास-उपमा आदि अलङ्कार वैसे ही निःश्रीक प्रतीत होते हैं जैसे कि लावण्य आदि के अभाव में रमणी के कटक-कुण्डल आदि अलङ्कार हतप्रभ लगा करते हैं।

आचार्य वामन ने, रीतिवाद, में, अलङ्कार-प्राधान्य के स्थान पर गुण-प्राधान्य की जो धारणा प्रवर्तित की यह क्रमशः ध्वनिवाद में, अलङ्कारों की अप्रधानता के सिद्धान्त में परिणत हो गयी। ध्वनिकार की दृष्टि में काव्य के लिये 'अलङ्कार' का महत्त्व यह है—

'तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥' (ध्वन्या० : २. ७)

काव्यप्रकाशकार ने इसी का अनुमोदन किया है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥
उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः॥' (का० प्र० : ८. १-२)

विश्वनाथ कविराज की भी यही दृढ़ धारणा है कि 'गुण' तो रसरूप काव्यात्मतत्त्व के 'स्थिर' धर्म हैं और जिन्हें 'अलङ्कार' कहा जाता है वे रसरूप काव्यात्मतत्त्व के आधारभूत शब्दार्थशरीर के 'अस्थिर' धर्म हैं।

यहाँ एक बात विचारणीय है और वह यह है कि काव्यप्रकाशकार ने तो काव्यसाहित्य की सूक्तियों के विचार-विमर्श से यह स्पष्ट कर दिया है कि अलङ्कार क्योंकर काव्य में 'चलस्थिति' (अस्थिर) हैं अथवा सर्वदा और सर्वथा, उपादेय नहीं हुआ करते। 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' (शब्दार्थौ काव्यम्) की मान्यता रसध्वनिवादी काव्यालोचना की एक महत्त्वपूर्ण मान्यता है। किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि (शब्दार्थौ काव्यम्)' का खण्डन किया है और जिस 'यः कौमारहरः' आदि रचना को, काव्यप्रकाशकार ने, 'स्फुटालङ्कारविरह' में भी (स्पष्ट रूप से कवि द्वारा किसी अलङ्कार की योजना के अभाव में भी) रसमयी कविता के रूप में देखा है, वहीं उन्होंने, दो-दो अलङ्कारों अर्थात् 'विभावना' और 'विशेषोक्ति' के परस्पर सङ्कर द्वारा अलङ्कृत होने पर ही 'कविता' के रूप में देखे जाने का संकेत किया है। विश्वनाथ कविराज की इस धारणा से क्या निष्कर्ष निकल सकता है? यहाँ तो ऐसा समझने के लिये हम विवश हो जाते हैं कि 'अलङ्कार' काव्य के अस्थिर धर्म नहीं अपि तु स्थिर धर्म हैं। विश्वनाथ कविराज ने एक भी ऐसी सूक्ति नहीं उद्धृत की जिसमें यह दिखायी दे सके कि अलङ्कार काव्य के 'अस्थिर' धर्म हैं।

वैसे काव्यप्रकाश पर भी यह आक्षेप किया जा सकता है कि यदि अलङ्कार काव्य के 'चलस्थिति' धर्म हैं तो दशम उल्लास में अलङ्कारविचार का इतना विस्तार क्यों किया गया। काव्यप्रकाश के दशम उल्लास के देखने से ध्वनिकार की इस धारणा की पुष्टि नहीं होती कि—

'रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत्।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः॥
विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कथञ्चन।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम्।
रूपकादेरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्॥' (ध्वन्या० : उद्योत २)

किन्तु तब भी काव्यप्रकाशकार के लिये विशद अलङ्कारविचार आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि उनका कार्य ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्ररूप से त्रिविध काव्य का स्वरूपनिरूपण है। विश्वनाथ

कविराज की दृष्टि में 'चित्र' काव्य नहीं। फिर दशम परिच्छेद में शब्दचित्र और अर्थचित्ररूप काव्यप्रकार की विविध रूपरेखाओं के प्रदर्शन का क्या अभिप्राय? साहित्यदर्पण के दशम परिच्छेद की विचारधारायें इस ओर भी संकेत नहीं करतीं कि जिन-जिन अलङ्कारों का विचार-विमर्श किया गया है उन-उन के द्वारा 'रसात्मक वाक्य' की शोभा कैसे बढ़ती दिखायी देती है। यहाँ तो वस्तुतः ऐसा लगता है कि 'ध्वनि' के 'सिद्धान्त' और व्यवहार में कोई संबन्ध नहीं।

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज ने, जेसा कि 'अलङ्कार-सर्वस्वकार' के प्रति उनके पक्षपात के देखते स्वाभाविक प्रतीत होता है, अपने अलङ्कार-परिच्छेद में, अलङ्कारों की विभाग-व्यवस्था का कोई संकेत नहीं किया है। 'अलङ्कारसर्वस्वकार ने अर्थालङ्कारों की यह विभाग-व्यवस्था की थी —

(१) **सादृश्यमूलक अर्थालङ्कार** (उपमा, रूपक आदि)
(२) **विरोधमूलक अर्थालङ्कार** (विरोध, विभावना आदि)
(३) **काव्यन्यायमूलक अर्थालङ्कार** (पर्याय, परिवृत्ति आदि)
(४) **लोकन्यायमूलक अर्थालङ्कार** (प्रत्यनीक, मीलित आदि)
(५) **शृङ्खलाबन्धमूलक अर्थालङ्कार** (कारणमाला, एकावली आदि)
(६) **तर्कन्यायमूलक अर्थालङ्कार** (काव्यलिङ्ग, अनुमान आदि)
(७) **गूढार्थप्रतीतिमूलक अर्थालङ्कार** (व्याजोक्ति, सूक्ष्म आदि)

यह विभाग-व्यवस्था ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र के लिए अत्यन्त उपयोगी है क्योंकि इसके द्वारा अर्थालङ्कारों में यथास्थान और यथासंभव 'अलङ्कार'रूप प्रतीयमान अर्थ का विवेक सरलता से किया जा सकता है। काव्यप्रकाशकार भी इस विषय में चुप हैं। सम्भवतः काव्यप्रकाशकार के अनुसरण में ही विश्वनाथ कविराज ने इस विषय में चुप्पी साध ली है।

विश्वनाथ कविराज ने 'शब्द-अर्थ' और 'अलङ्कार' में आचार्य रुय्यक के 'आश्रयाश्रयिभाव'रूप संबन्ध का भी उल्लेख कर दिया है और आचार्य मम्मट के 'अन्वयव्यतिरेकभाव'रूप संबन्ध का भी निर्देश कर दिया है। दोनों में भेद है। दोनों का एक साँस में मानना ठीक नहीं। वैसे रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानने वाले आलङ्कारिक आचार्य के लिये कुछ इस प्रकार की अर्थालङ्कार-व्यवस्था का प्रतिपादन अधिक अपेक्षित था—

अर्थालङ्कारों का वर्गत्रयविभाग :—

(१) **प्रतीयमानवस्तुरूप अर्थालङ्कार,** जिस श्रेणी में समासोक्त पर्यायोक्ति-आक्षेप-व्याजस्तुति आदि-आदि अर्थालङ्कार अन्तर्भूत दिखायी देते हैं।

(२) **प्रतीयमानौपम्यरूप अर्थालंकार,** जिस श्रेणी में रूपक, परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान् आदि-आदि समा जाते हैं। और—

(३) **प्रतीयमानरसभावरूप अर्थालंकार,** जिस श्रेणी में रसवत् , प्रेय आदि की गणना की जा सकती है।

अथवा आचार्य कुन्तक की मान्यता के अनुसार रसभावाद्यात्मक वाक्य के उत्कर्षाधायक उपमा आदि का ही 'रसवती उपमा' आदिरूप से प्रतिपादन अच्छा होता।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा॥

विश्वनाथ कविराज 'रसवत्' आदि अलङ्कारों को भी अतिरिक्त अलङ्कार रूप से प्रतिपादित करते हैं। आचार्य मम्मट ने प्राचीन आलङ्कारिकों के द्वारा प्रतिपादित इन 'रसवत्' आदि को

अलङ्कारश्रेणी में रखना 'रसध्वनिवाद' की दृष्टि से अनुचित और असंगत माना है क्योंकि 'रसवत्' आदि अलङ्कार नहीं अपितु अपराङ्गव्यङ्ग्य गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के रूप हैं। वैसे विश्वनाथ कविराज भी गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य के 'इतराङ्ग' (अथवा अपराङ्ग) नामक भेद के उदाहरण में 'रसवत्' आदि अलङ्कार-सूक्तिओं को ही उदाहृत करते हैं किन्तु तब भी 'रसवत्' आदि की अतिरिक्त अलङ्काररूप में मान्यता उन्हें अभीष्ट है। ऐसी बात क्यों ? ऐसा लगता है कि उन्होंने 'अलङ्कार-सर्वस्वकार' के अनुसरण अथवा अनुकरण में ही इन परस्पर विरुद्ध बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया और अपने नवीन मत के रूप में, 'रसवदादि' अलङ्कारों की मान्यता के लिये, ध्वनिकार को प्रमाणरूप से रख दिया—

'अभियुक्तास्तु—स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतैरङ्गभूतै रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते। समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य, तस्योपकारीतिविरहादिति मन्यन्ते। अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥' इति

(साहित्यदर्पण : १०–९६)

यहाँ यह देखना है कि ध्वनिकार की 'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे' आदि उक्ति का तात्पर्य क्या 'रसवत्' आदि अलङ्कारों की सिद्धि है या 'रसवत्' आदि अलङ्कारों में 'रसध्वनि' के अन्तर्भाव की असम्भावना की सिद्धि ? आचार्य मम्मट ने भी तो इस उक्ति पर कुछ सोचा ही होगा ? इस उक्ति के निष्कर्षरूप से ध्वनिकार ने यह कहा है—

'तस्माद् यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः, तस्योपमादयोऽलङ्काराः। यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते, स रसादेरलङ्कारताया विषयः।'

(ध्वन्यालोक : २.५)

यहाँ 'रसादेरलङ्कारताया विषयः' के व्याख्यान में 'लोचन'कार आचार्य अभिनवगुप्त का यह कथन है—

'रसादेरलङ्कारताया इति व्यधिकरणषष्ठ्यौ, रसादेर्याऽलङ्कारता तस्या स एव विषयः। एतदनुसारेणैव पूर्वत्रापि वाक्ये योज्यम्, रसादिकर्तृकस्यालङ्करणक्रियात्मनो विषय इति।'

इनके देखते तो यही प्रतीत होता है कि ध्वनिकार और 'लोचन'कार की दृष्टि में एक 'रस' के द्वारा दूसरे 'रस' के अलङ्कृत करने का अभिप्राय रसों के अङ्गाङ्गिभावरूप से अवस्थान-सौन्दर्य का अभिप्राय है। वाक्यार्थीभूत रस भाव के लिये पदार्थीभूत रसभाव को 'अलङ्कार' कहा जा सकता है किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से, पदार्थीभूत रस-भाव 'रसवदादि' अलङ्काररूप में, मान्य हैं। जब कि 'अलङ्कार' का वस्तुतः अभिप्राय काव्य के शब्दार्थरूप शरीर का शोभाधान है तब अङ्गभूत 'रस' को उपचारतः ही अलंकार माना जा सकता है, मुख्यतः नहीं। यही बात 'लोचन'कार की इस उक्ति में भी दिखायी देती है—

'ननु रसेन किं कुर्वता प्रकृतोऽर्थोऽलङ्क्रियते। तर्हि उपमयाऽपि किं कुर्वत्याऽलङ्क्रियते। ननु तयोपमीयते प्रस्तुतोऽर्थः। रसेनाऽपि तर्हि सरसीक्रियते सोऽर्थ इति स्वसंवेद्यमेतत्।' (ध्वन्यालोकलोचन : २.५)

और इस वृत्ति में भी—

'यस्मिन् काव्ये ते पूर्वोक्ता रसादयोऽङ्गभूता वाक्यार्थीभूतश्चान्योऽर्थः,...तस्य काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयोऽङ्गभूतास्ते रसादेरलङ्कारस्य रसवदाद्यलङ्कारशब्दस्य विषयाः, स एवालङ्कारशब्दवाच्यो भवति योऽङ्गभूतः नत्वन्य इति यावत्।' (ध्वन्यालोकलोचन : २.५)

तात्पर्य यह है कि ध्वनिकार का यह निर्देश कि 'रसादिध्वनि, रसवत् आदि अलंकार और उपमादि अलङ्कारों के विषय भिन्न-भिन्न हैं (एवं ध्वनेरुपमादीनां रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति—ध्वन्यालोकः २.५) 'इस निष्कर्ष में प्रमाण नहीं माना जा सकता कि ध्वनिकार ने मानशादिसम्मत 'रसवत्' आदि को अलङ्कार माना है।

विश्वनाथ कविराज ने 'रसवत्' आदि को अलङ्काररूप से मान्य होने के लिये जो यह कहा है कि 'रसवत्' आदि इसलिये अलङ्कार हैं क्योंकि ये अङ्गिभूत रस के वाच्यवाचकप्रपञ्च के उत्कर्षवर्धक हैं' यह भी सर्वथा चतुरस्र नहीं लगता। कारण यह है कि यदि 'अयं स रशनोत्कर्षी' आदि सूक्ति ही देखी जाय, जिसमें रसयोग के कारण 'रसवदलङ्कार (रसयोगाद्रसवदलङ्कारः—साहित्यदर्पण १०.९६) माना गया है, तो यहाँ यह बात तो समझ में आती है कि 'अङ्गरूप से अवस्थित शृङ्गार के द्वारा प्रधानतया शोकानुभाव करुण का सौन्दर्य बढ़ाया जा रहा है' किन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि अङ्गभूत शृङ्गार जो कि अपने वाच्यवाचकवर्ग से अभिव्यक्त हो रहा है, अङ्गीरूप से अभिव्यज्यमान करुण के वाच्यवाचकवर्ग का शोभावर्धन कर रहा है। यहाँ क्या अङ्ग और क्या अङ्गी—दोनों रसों के अभिव्यञ्जक वाच्यवाचकप्रपञ्च एक रूप ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं। फिर 'रस' को, चाहे वह अङ्गतया ही अभिव्यक्त क्यों न हो, अङ्गी रस के 'वाच्यवाचकवर्ग का अलङ्कार' मानना उस काव्याचार्य के लिये तो अनुचित ही है जो कि 'रस' को काव्य का आत्मतत्त्व मानता है। यदि सरस काव्य को 'रसवत्' आदि अलङ्कार माना जाय तब 'रसाभिव्यञ्जक वाक्य' को ही 'रसवत्' आदि अलङ्कार मानने में क्या आपत्ति ? किन्तु ऐसा मानने पर तो समस्त अनुप्रास-उपमादि शब्दार्थालङ्कारों को एक 'रसवत्' अलङ्कार में ही अन्तर्भूत करना उचित होगा। यह सब अनुपपत्ति तभी दूर हो सकती है जब कि या तो 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के 'अपराङ्ग' भेद में 'रसों के अङ्गभाव' का कोई अभिप्राय न लिया जाय या 'रसवत्' आदि को अलङ्कार न सिद्ध किया जाय।

साहित्यदर्पणमनु सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त।

विश्वनाथ कविराज उन आलङ्कारिकों में हैं जो 'अलङ्कारशास्त्र' को 'साहित्यशास्त्र' मानने के पक्षपाती हैं। 'साहित्यदर्पण' की रचना में उनका यही अभिप्राय है कि काव्यसाहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के लिये, सब को साहित्यशास्त्र का परिचय हो जाय। 'साहित्यदर्पण' में 'काव्यप्रकाश' की सी प्रौढ़ता भले ही न हो किन्तु लोकप्रियता अवश्य है। सरलता, सुबोधता और सरसता के साथ इस ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र के अनेकानेक विषय प्रतिपादित हैं। किन्तु क्या किसी आलङ्कारिक के लिये यह संभव है कि वह साहित्यशास्त्र के समस्त विषयों का एक ग्रन्थ में प्रतिपादन कर जाय ? विश्वनाथ कविराज ने इस दिशा में महान् प्रयास किया है और बहुत कुछ सफलता भी पाई है किन्तु यदि हम साहित्यशास्त्र के कतिपय निम्नलिखित विषयों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि 'साहित्यदर्पण' में कितने साहित्यतत्त्व अप्रतिपादित रह गये हैं—

(१) ध्वनिवादी अलङ्कारशास्त्र में 'काव्य-संवाद' अथवा 'कवियों की रचनाओं में परस्पर सादृश्य' एक ऐसा विषय है जो कि रसध्वनिवाद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस विषय की यहाँ कोई भी चर्चा नहीं हुई है।

(२) ध्वनिवादी आलङ्कारिक 'औचित्य'सिद्धान्त का प्रतिपादन करते रहे हैं। अलङ्कारयोजना में इस 'औचित्य' का नाम रसभावादिविषयक औचित्य है। साहित्यदर्पणकार ने इस विषय को अछूता छोड़ दिया है।

(३) 'रस'सिद्धान्त के साथ-साथ 'काव्य-पाक' का सिद्धान्त साहित्यशास्त्र का एक प्राचीन विषय है। कविराज राजशेखर की 'काव्यमीमांसा' इस पर प्रकाश डाल चुकी है। इस विषय का भी विश्वनाथ कविराज ने कोई संकेत नहीं किया है।

(४) प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में 'शब्दहरण' और 'अर्थहरण' (काव्य में शब्द की चोरी और अर्थ की चोरी) का एक महत्त्वपूर्ण विवेच्य विषय है। यह विषय भी यहाँ छोड़ दिया गया है।

विश्वनाथ कविराज ने इन्हें जान-बूझकर छोड़ा है क्योंकि उनके समय के कवि और रसिक इन विषयों के प्रति विशेष उन्मुख नहीं थे। 'अलङ्कार' और 'गुण', 'वृत्ति' और 'रीति', 'रस' और 'रसना', 'दोष' और 'अदोषता', 'काव्य' और 'नाट्य' आदि-आदि विषय साहित्यशास्त्र के लोकप्रसिद्ध विषय हैं जिनके प्रति साधारण सहृदय सामाजिक की उन्मुखता स्वाभाविक है। विश्वनाथ कविराज ने वस्तुतः इस दृष्टि से ही 'साहित्यदर्पण' की रचना की थी। 'साहित्यदर्पण' के रचना काल में, जैसा कि साहित्यदर्पण के संकेतों से स्पष्ट है, 'रस' और 'आस्वाद' विषय पर तथा काव्य-साहित्य की अन्य विविध मान्यताओं पर कई काव्याचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थ लिखे थे। किन्तु आज 'साहित्यदर्पण' को छोड़कर इन अन्य ग्रन्थों का कुछ पता नहीं चलता। 'साहित्यदर्पण' अपनी सबलता और प्राणशक्ति के कारण अभी भी जीवित-जागृत है और संस्कृत काव्य-साहित्य और संस्कृत के साहित्यशास्त्र के अध्ययन-अनुशीलन करने वालों के लिये मार्ग-प्रदर्शन का कार्य कर रहा है। विश्वनाथ कविराज की आशा और तदनुरूप सफलता का इससे बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि 'काव्यप्रकाश' के साथ-साथ 'साहित्य-दर्पण' भी अलङ्कारशास्त्र में अमर हो गया है।

'साहित्यदर्पण'कार विश्वनाथ कविराज : समयनिर्णय

विश्वनाथ कविराज का समयनिर्णय वस्तुतः निःसंदिग्ध है। विश्वनाथ कविराज को १३वीं-१४वीं शताब्दी का कवि और आलंकारिक माना गया है। एक सूक्ति है जिसको विश्वनाथ कविराज ने 'अस्फुट' व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य के स्वरूप-निरूपणार्थ उद्धृत किया है—

'सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अल्लावदीननृपतौ न संधिर्न च विग्रहः॥'

यह सूक्ति संभवतः विश्वनाथ कविराज के समय के किसी कवि की रचना है। यह इस बात का एक प्रबल प्रमाण है कि विश्वनाथ कविराज का युग १३वीं-१४वीं शताब्दी का पूर्ववर्ती युग नहीं हो सकता। एक और भी सूक्ति है जिसका उद्धरण विश्वनाथ कविराज ने 'क्रियोत्प्रेक्षा' के उदाहरणरूप से दिया है—

गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

इस सूक्ति को भी देखते हुए, विश्वनाथ कविराज को १३वीं-१४वीं शताब्दी का ही कवि और आल-ङ्कारिक मानना आवश्यक हो जाता है। सुल्तान अलाउद्दीन खिल्जी का शासनकाल १२९६-१३१६ ई० है। अलाउद्दीन खिल्जी के सेनापति मलिक काफूर की दक्षिण-भारत-विजय भी एक ऐतिहासिक घटना है। 'उत्कल' प्रान्त के रहने वाले विश्वनाथ कविराज और उनके समय के कवियों को मलिक

काफूर की विजयगाथायें और उनके साथ ही साथ भारत के प्रथम मुसलिम सम्राट् अलाउद्दीन के आतङ्ककारी अत्याचारों की भी कहानी सुनने को मिली होगी। जिस किसी भी कवि ने अलाउद्दीन खिलजी के उग्र स्वभाव के प्रकाशनार्थ 'सन्धौ सर्वस्वहरणम्' आदि सूक्ति रची हो अथवा जिस किसी भी कवि ने सुलतान् (सुरत्राण) अलाउद्दीन खिलजी की पराक्रम-गाथाओं की स्मृति में 'गङ्गाम्भसि सुरत्राण' आदि की रचना की हो, वस्तुतः बात यह है कि इन सूक्तियों में ऐतिहासिक तथ्य का संकेत किया हुआ है और विश्वनाथ कविराज इस ऐतिहासिक तथ्य से पूर्णतया परिचित प्रतीत होते हैं।

इस अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इतना निश्चित है कि साहित्यदर्पण के रचयिता का समय १२९६-१३१६ ई० के पहले कदापि नहीं हो सकता।

और भी अन्तःसाक्ष्य इसी समय को प्रमाणित करते हैं—

(१) साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति का समय विक्रम संवत् १४४० (१३८४ ई०) है। इस हस्तलिखित प्रति का उल्लेख डाक्टर स्टीन द्वारा संगृहीत, जम्मू-काश्मीरदरबार के पुस्तकालय की हस्तलिखित पुस्तकों की सूची में 'अलङ्कारशास्त्र' (पृष्ठ ६४) शीर्षक में किया गया है। 'साहित्यदर्पण' की इस हस्तलिखित प्रति से यह निर्विवाद सिद्ध है कि विश्वनाथ कविराज का समय १३८४ ई० के बाद का नहीं हो सकता।

(२) साहित्यदर्पण में एक सूक्ति उद्धृत है—

'हृदि बिसलताहारो, नायं भुजंगमनायकः
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरलद्युतिः।
मलयजरजो, नेदं भस्म, प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्याऽनङ्ग क्रुधा किमु धावसि ॥'

यह सूक्ति 'गीतगोविन्द' के प्रसिद्ध महाकवि जयदेव की कृति है। महाकवि जयदेव को बंगराज्य के प्रतापी शासक लक्ष्मणसेन के दरबार का एक 'रत्न' माना जाता है। कवि उमापति, आचार्य गोवर्धन और धोयी कवि के समकालीन महाकवि जयदेव का समय विक्रम संवत् ११७३ (ई० १११६) है। गीतगोविन्द की इन पंक्तिओं में महाकवि जयदेव और उनके पार्षद कवियों की स्मृति सुरक्षित है—

'वाचः पल्लवयत्युमापतिधरः सन्दर्भशुद्धिं गिरां
जानीते जयदेव एव शरणः श्लाघ्यो दुरूहद्रुतेः।
शृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयवचनैराचार्यगोवर्धन-
स्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः श्रुतधरो धोयी कविक्ष्मापतिः ॥'

इस सूक्ति का उद्धरण विश्वनाथ कविराज के समय-निर्णय का एक बहुत बड़ा प्रमाण है।

(३) साहित्यदर्पण में एक और उद्धरण है—

'कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः ॥'

यह सूक्ति 'प्रसन्नराघव' नाटक के रचयिता जयदेव कवि की रचना है जिनका समय १२००-१२५० के लगभग निश्चित है। इस उद्धरण से विश्वनाथ कविराज के कार्यकाल के सम्बन्ध में सन्देह नहीं रह जाता।

(४) विश्वनाथ कविराज ने 'नैषध'कार महाकवि श्रीहर्ष (११६७–११७४ ई०) की निम्न सूक्ति उद्धृत की है—

'धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति॥'

और साथ ही साथ 'हनूमदाद्यैर्यशसा सितीकृतः' आदि उद्धरण भी नैषधीय महाकाव्य की ही सूक्ति का उद्धरण है। इसके देखते भी विश्वनाथ कविराज के कालनिर्णय में अनिश्चय नहीं रह जाता।

(५) विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह कविपण्डितप्रवर नारायण के अनुज श्रीचण्डीदास ने 'काव्यप्रकाश' की 'दीपिका' टीका लिखी है। इनके और विश्वनाथ कविराज के समय में अधिक से अधिक ५० वर्ष का ही अन्तर पड़ सकता है।

(६) कलिङ्गनरेश नरसिंह, (१२७०–१३०२ ई०) जिनके शिलालेखों में उन्हें 'कविप्रिय' कहा गया है, के दरबार में विश्वनाथ के प्रपितामह अथवा पितामह 'नारायण' और 'धर्मदत्त' के शास्त्रार्थ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। विश्वनाथ कविराज ने कविपण्डित 'धर्मदत्त' के नामोल्लेख के साथ उनकी यह सूक्ति भी साहित्यदर्पण में उद्धृत की है—

'तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥
तस्मादद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।'

इस उदाहरण से साहित्यदर्पणकार का कालनिर्णय १३ वीं–१४ वीं शताब्दी ही सिद्ध होता है।

कुछ बहिःसाक्ष्य भी हैं जिनके देखते उपर्युक्त समय के सम्बन्ध में कोई सन्देह नहीं रह जाता—

(१) १५ वीं शताब्दी के प्रसिद्ध काव्य-व्याख्याकार मल्लिनाथ के पुत्र 'कुमारस्वामी' की 'रत्नापण' टीका में, जो कि 'प्रतापरुद्रीय' की व्याख्या है, 'साहित्यदर्पण' का नामोल्लेख मिलता है—

'सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति॥
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति। इति साहित्यदर्पणे।'

(प्रतापरुद्रीय : रत्नापण : रसप्रकरण)

'मोहो विचित्रता भीतिदुःखवेगानुचिन्तनैः।
घूर्णनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ इति साहित्यदर्पणे॥'

(प्रतापरुद्रीय : रत्नापण : रसप्रकरण)

(२) १५ वीं शताब्दी के ही व्याख्याकार गोविन्द ठक्कुर की 'काव्यप्रकाश-प्रदीप' व्याख्या में साहित्यदर्पण की विचारधाराओं का यह उल्लेख आया है—

'अर्वाचीनास्तु 'यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरलविषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्य'मिति तल्लक्षणम्। तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव। परं त्वपकर्षमात्रम्। तदुक्तम्—'कीटानुविद्धरत्नादि' इत्यादि। एवमलङ्कारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रम्। नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौण इत्याहुः।'

इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि प्रदीपव्याख्याकार की दृष्टि में 'साहित्यदर्पण' अलङ्कारशास्त्र का एक अर्वाचीन (काव्यप्रकाश आदि की अपेक्षा अर्वाचीन) ग्रन्थ है। इससे यह निश्चित है कि विश्वनाथ कविराज का समय न तो १३वीं-१४वीं शताब्दी के पहले जा सकता है और न बाद में।

विश्वनाथ कविराज का वंशगौरव और व्यक्तित्व

विश्वनाथ कविराज के पूर्वज उत्कल के 'कविपण्डित' होते आये हैं। इनके प्रपितामह का नाम कविपण्डितप्रवर 'नारायण' था। इनके प्रपितामह साहित्यशास्त्र के पारंगत विद्वान् और अलङ्कार-शास्त्र के ग्रन्थप्रणेता रह चुके हैं जैसा कि साहित्यदर्पण की निम्नलिखित उक्ति का संकेत है—

'चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादरुक्तम्।' (साहित्यदर्पण : ३. ३)

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज-रचित काव्यप्रकाशदर्पण की यह युक्ति—

'यदाहुः श्रीकलिङ्गभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेवसभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः······अस्मत्पितामहश्रीनारायणपदाः'।

इसी ओर संकेत करती है कि कविपण्डितप्रवर नारायण का साहित्यशास्त्र पर पर्याप्त अध्ययन-मनन और स्वतन्त्र विचारविमर्श समसामयिक पण्डितसमाज पर प्रसिद्ध था।

विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता का भी नामोल्लेख किया है—

'श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुश्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम्।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त॥'

(साहित्यदर्पण : १०. १००)

विश्वनाथ कविराज के पिता श्रीकविपण्डित चन्द्रशेखर थे। श्रीचन्द्रशेखर पण्डित की दो कृतियों—'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख साहित्यदर्पण में मिलता है। 'पुष्पमाला' का यह उद्धरण—

'द्वादशपदा (नान्दी) यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः॥'

(साहित्यदर्पण : ६. २५)

इस बात को प्रमाणित करता है कि श्री चन्द्रशेखर नाटककार थे। साहित्यदर्पण में श्रीचन्द्रशेखर के 'भाषार्णव' का उल्लेख यह है—

'भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे।' (साहित्यदर्पण : ६. १६९)

इससे यह स्पष्ट है कि श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी आदि भाषाओं के वैयाकरण थे। साहित्यदर्पण के परिच्छेदों की समाप्ति में विश्वनाथ कविराज के नाम के साथ इन विरुदों का उल्लेख मिलता है—

१—नारायणचरणारविन्दमधुव्रत।
२—साहित्यार्णवकर्णधार।
३—ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य।
४—कविसूक्तिरत्नाकर।
५—अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग।
६—महापात्र।

इनमें 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजंग' का विरुद (प्रशंसास्पद पद) यह प्रमाणित करता है कि विश्वनाथ कविराज को संस्कृत के अतिरिक्त अन्य समस्त प्राकृत भाषाओं का अध्ययन एक पैतृक देन के रूप में मिला था।

विश्वनाथ कविराज ने अपने पिता श्री चन्द्रशेखर कविपण्डित की अन्य भी कतिपय सूक्तियाँ उद्धृत की हैं—

'मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च, रोमलतिका नेत्रार्जवं धावती।
कंदर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः॥'

(साहित्यदर्पण : ३. ५८)

'नो चाटुश्रवणं कृतं न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त सहसा कण्ठे कथं नार्पितः॥'

(साहित्यदर्पण : ३. ८२)

'खेमं ते नन्नु पचमलाघि किसअं खेमं महङ्गं दिढं
एताहक्कृ क्रशता कुतः तुह पुणो पुट्टं सरीरं जदो।
केनाहं पृथुकः प्रिये प्रणइणीदेहस्स सम्मीलणात्
रक्ताः सुभ्रु न काऽपि मे जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि॥'

(साहित्यदर्पण : ३. २१२)

'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्थली
प्रत्यूषक्षणदेन्दुपाण्डु-वदनं श्वासैकखिन्नोऽधरः।
अम्भःशीकरपङ्किनीकिसलयैर्नापैति तापः शमं
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति सहते दीनां दशामीदृशीम्॥'

(साहित्यदर्पण : ३. २०७)

इन सूक्तियों के देखते, इनके रचनाकार का एक रसिक और शृंगारी कवि होना अनायास सिद्ध हो जाता है।

विश्वनाथ कविराज के पिता कलिङ्ग राज्य के एक प्रतिष्ठित पदाधिकारी रहे होंगे। विश्वनाथ कविराज भी अपने पिता के उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं। दोनों के नामों के साथ 'सांधिविग्रहिक' और 'महापात्र' का विरुद जुड़ा मिलता है।

वैष्णव धर्म में विश्वनाथ कविराज की आस्था की सूचना साहित्यदर्पण के इस अन्तमङ्गल-श्लोक से मिल जाती है—

'यावत्, प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्याङ्कमलङ्करोति।
तावन्मनः सम्मदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके॥'

साथ ही साथ 'राघवविलास' नामक विश्वनाथ कविराज-रचित 'महाकाव्य' की यह सूक्ति अर्थात्—

'विपिने क्व जटानिबन्धनं तव चेदं क्व मनोहरं वपुः।
अनयोर्घटना विधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्तनम्॥'

भी, जिसका साहित्यदर्पण (३. २२५) में उल्लेख है, यही सिद्ध करती है कि विश्वनाथ कविराज वैष्णव थे।

साहित्यदर्पण का रचयिता सबसे पहले कवि हो सकता है और बाद में ही आलंकारिक रसिकता विश्वनाथ कविराज के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। विश्वनाथ कविराज का पाण्डित्य भी उनकी रसिकता से विरुद्ध नहीं पड़ता। विश्वनाथ कविराज को 'कविसूक्तिरत्नाकर' की जो पदवी मिली थी उससे भी यही स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज अपने समय के उत्कल (उड़सी) प्रान्त के एक रसिकशिरोमणि हो चुके हैं। विश्वनाथ कविराज की एक सूक्ति है—जो कि साहित्यदर्पण (८. ३) में 'मधुर रचना' के निदर्शन रूप में उद्धृत की गयी है और वह सूक्ति यह है—

'लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।
मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि॥'

इस एक सूक्ति से ही यह निःसंदिग्धरूप से माना जा सकता है कि विश्वनाथ कविराज को 'वर्णों के संमोहक संगीत' का कितना प्रगाढ़ परिचय था और 'वर्णों की माधुरी' से कितना प्रेम था। विश्वनाथ कविराज का कवित्वमय व्यक्तित्व साहित्यदर्पण की विचारधाराओं पर भी प्रतिबिम्बित दिखायी देता है।

विश्वनाथ कविराज की साहित्यिक कृतियाँ

विश्वनाथ कविराज का 'साहित्यदर्पण' तो अलङ्कारशास्त्र के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध ही है किन्तु उनकी और भी कृतियाँ हैं जिनकी स्मृति साहित्यदर्पण के पृष्ठों पर अंकित है। इन कृतियों में 'राघवविलास' का उल्लेख किया जा चुका है जो कि संस्कृत भाषा के एक 'महाकाव्य' के रूप में रचा गया था। 'राघवविलास' की 'विपिने क जटानिबन्धनम्' आदि उद्धृत सूक्ति के देखते यह अनुमान असंभव नहीं प्रतीत होता कि विश्वनाथ कविराज कालिदास के 'कुमारसंभव' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' के पूरे रसिक थे।

विश्वनाथ कविराज ने प्राकृत भाषा में भी एक काव्य रचा था जिसका नाम 'कुवलयाश्वचरित' है, जैसा कि साहित्यदर्पण (३. १४८) के इस उद्धरण से स्पष्ट है—

'अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥

यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

'णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिठ्ठिम्।
आलेक्खअ ओप्पिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअ सण्णम् ॥'

यह काव्य एक 'शृङ्गाररस' प्रधान काव्य प्रतीत होता है।

विश्वनाथ कविराज की तीसरी कृति एक नाटिका है जिसका नाम 'प्रभावतीपरिणय' है जैसा निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा 'प्रभावतीपरिणये'—

'धत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुराद्,
नोद्दामं हसति, क्षणात् कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।

किञ्चिद् भावगम्भीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,
सभ्रूभङ्गमुदीयते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥'

यह 'प्रभावतीपरिणय' नाटिका विश्वनाथ कविराज की शृङ्गार-रसिकता की एक देन ही है—

विश्वनाथ कविराज की चौथी रचना 'चन्द्रकला' नाटिका है जिसका उन्होंने साहित्यदर्पण (३. ९६) में इस प्रकार स्मरण किया है—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ।

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

'तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥'

इस नाटिका से भी इसके रचयिता का नायिका-भेदविज्ञान और शृङ्गाररस-प्रेम स्पष्ट प्रतीत होता है ।

विश्वनाथ कविराज की पाँचवीं रचना 'प्रशस्तिरत्नावली' है जिसमें १६ भाषाओं में संभवतः कलिङ्गनरेश नरसिंह १म और २य की प्रशस्तियाँ लिखी गयी हैं । इसका उल्लेख विश्वनाथ कविराज ने इन शब्दों में किया है—

'करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ।
यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ॥'

कलिङ्गनरेश नरसिंह (संभवतः नरसिंह २य) के विजयगौरवगान के रूप में विश्वनाथ कविराज ने 'नरसिंहविजय' नामक काव्य की भी रचना की है जिसका निर्देश विश्वनाथ कविराज के पुत्र अनन्तदास ने साहित्यदर्पण की 'लोचन' नामक अपनी व्याख्या में इन शब्दों में किया है—

'यथा मम तातपादानां विजयनरसिंहे ।'

साहित्यदर्पण के निर्माण के बाद 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक 'काव्यप्रकाश' की व्याख्या भी विश्वनाथ कविराज की एक और कृति है ।

इन कृतियों से, जिनमें 'साहित्यदर्पण और 'काव्य'प्रकाशदर्पण' के अतिरिक्त अन्य अप्राप्य हैं, विश्वनाथ कविराज की साहित्य-साधना का संकेत स्पष्ट रूप से मिल जाता है ।

साहित्यदर्पण की विशेषता

साहित्यदर्पण अलङ्कारशास्त्र का प्रस्थान-ग्रन्थ नहीं और न इसमें ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश और रसगङ्गाधर की प्रवाहपूर्ण, वैज्ञानिक और विचारात्मक शैली ही अपनायी गयी है । साहित्यदर्पण की एक ही मौलिक विशेषता है और वह उसकी एक महत्त्वाकांक्षा है जिसका लक्ष्य काव्य-साहित्य-संबन्धी समस्त विषयों का एकत्र प्रतिपादन है । इस महत्त्वाकांक्षा में विश्वनाथ कविराज को पर्याप्त सफलता भी मिली है । वैसे इतना निश्चित है कि काव्य साहित्य के समस्त विषय एक अलङ्कार-ग्रन्थ में नहीं आ सकते ।

साहित्यदर्पण कोई मौलिक अलङ्कार-ग्रन्थ नहीं, क्योंकि आदि से अन्त तक इसमें प्राचीन आलङ्कारिकों की ही मान्यताओं का प्रकाशन है और प्राचीन अलङ्कारग्रन्थों के ही उदाहरणों के उद्धरण भरे पड़े हैं । किन्तु तब भी सरस और सरल भाषा के द्वारा विषयप्रतिपादन की शैली जैसी इसकी है वैसी दूसरे अलङ्कार-ग्रन्थों की नहीं ।

'साहित्यदर्पण' बड़ा लोकप्रिय अलङ्कार ग्रन्थ है। 'काव्यप्रकाश' की दुरूहता से लोग घबड़ा जाते हैं किन्तु 'साहित्यदर्पण' अपनी सुबोधता से साधारण काव्यप्रेमी को भी आकृष्ट कर लेता है। यदि 'साहित्यदर्पण' न रचा गया होता तो भारत के पूर्वी प्रान्तों के संस्कृत काव्य-नाट्य-प्रेमी नाट्यशास्त्र के विषयों से अपरिचित ही रह जाते। मौलिक न होने पर भी, संग्रह-प्रधान होने पर भी, 'साहित्यदर्पण' साधारण सहृदय सामाजिक के लिये, वस्तुतः 'साहित्यदर्पण' है जिसमें साहित्यशास्त्र के तत्त्व प्रतिबिम्बित हैं। साहित्यदर्पण से साहित्यशास्त्र के विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के बाद, इन विषयों के मौलिक ग्रन्थों का अनुशीलन लाभप्रद माना जाया करता है।

परवर्ती अलङ्कारशास्त्र पर साहित्यदर्पण का प्रभाव

साहित्यदर्पण ने अपने परवर्ती अलङ्कार-शास्त्र को पर्याप्त रूप से प्रभावित किया है। साहित्य-दर्पण का सबसे बड़ा प्रभाव 'रसगङ्गाधर' की रचना के रूप में देखा जा सकता है। वैसे इसमें कोई सन्देह नहीं कि रसगङ्गाधरकार की आलोचनात्मक प्रतिभा साहित्यदर्पण में नहीं थी किन्तु यह भी निस्सन्दिग्ध है कि साहित्यदर्पण की रचना ने ही पण्डितराज जगन्नाथ को अलङ्कारशास्त्र के पुनरालोचन में प्रेरित किया है। पण्डित जगन्नाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के काव्य-लक्षण की समीक्षा में ही 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' का अपना काव्यलक्षण रचा है—

'यत्तु 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तन्न। वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानुभाव-व्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।' (रसगङ्गाधर : १म आनन)

साथ ही साथ विश्वनाथ कविराज ने 'चित्र' काव्य को काव्यभेद न मानने का जो तर्क दिया है उसकी समीक्षा ही रसगङ्गाधरकार की चतुर्विध का काव्य-भेद मीमांसा की पूर्वपीठिका है। पण्डित-राज जगन्नाथ ने काव्य के ४ प्रकार सिद्ध किये हैं—

(१) उत्तमोत्तम—**'शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्।'**
(२) उत्तम—**'यत्र व्यङ्ग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणं तद्द्वितीयम्।'**
(३) मध्यम—**'यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तत् तृतीयम्।'**
(४) अधम—**'यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृतिः प्रधानं तदधमं चतुर्थम्।'**

(रसगङ्गाधर : १म आनन)

ये चारों काव्य-प्रकार **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** की काव्यपरिभाषा से स्वभावतः सङ्गत है। 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' की काव्यपरिभाषा से काव्य-प्रकार का निष्कर्ष नहीं निकल सकता। इस परिभाषा के ही कारण विश्वनाथ कविराज ने 'चित्रकाव्य' की मान्यता का खण्डन किया है। इस काव्य-परिभाषा की मीमांसा के रूप में जब **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** की काव्यपरिभाषा बन गयी तब काव्य के प्रकार-चातुर्विध्य का निरूपण स्वयं सिद्ध हो गया।



विषयानुक्रमणिका

तृतीय परिच्छेद

सप्तम परिच्छेद

अष्टम परिच्छेद

॥ श्रीः ॥

साहित्यदर्पणः

विमर्शाख्य-हिन्दीव्याख्याविभूषितः

प्रथमः परिच्छेदः

(आरम्भ-मङ्गल)

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया वाग्देवतायाः साम्मुख्यमाधत्ते—

(वाग्देवी-वन्दना)

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान्प्रकाशयतु ॥ १ ॥

(अलङ्कारशास्त्र का प्रयोजन : काव्य-प्रयोजन से अभिन्न)

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—

(काव्य-प्रयोजन : पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ २ ॥

(चतुर्वर्गप्राप्तिरूपकाव्य-प्रयोजन का तात्पर्य)

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उक्तं च (भामहेन)—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम् ॥' इति ।

(चतुर्वर्ग प्राप्ति का सरल सुखद साधन काव्य ही है)

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्र-

---

अनुवाद—जो काव्य के प्रयोजन हैं, वे ही अलङ्कारशास्त्र के भी हैं। यह ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) काव्य का अङ्ग है (क्योंकि काव्य की समीक्षा का शास्त्र-अलङ्कारशास्त्र-काव्य का अङ्ग हुआ करता है) और इसके भी वे ही प्रयोजन हैं, जो काव्य के हुआ करते हैं। इसलिये यहाँ काव्य-प्रयोजन का निर्देश किया जा रहा है—

काव्य एक ऐसी वस्तु है जिससे अल्पबुद्धि मानव को, बिना किसी कष्ट-साधना के, *धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये 'काव्य'* क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है।

पुरुषार्थचतुष्टय-प्राप्तिरूप काव्य-प्रयोजन वस्तुतः सर्वविदित है क्योंकि यह सभी जानते हैं कि काव्य उपदेश दिया करता है—'राम के ऐसा आचार-व्यवहार बनाओ, रावण के ऐसा आचार-व्यवहार न बनाओ।' काव्य का यह उपदेश 'कृत्य'—धर्मादिरूप कर्त्तव्य-कर्म—की ओर हमारी प्रवृत्ति और 'अकृत्य' अधर्मादिरूप अकर्त्तव्य—अकर्म—की ओर से हमारी निवृत्ति का कारण है (और इस प्रकार चतुर्वर्ग—प्राप्ति का अन्यतम उपाय है)।

इसीलिये तो कहा गया है—

'सत्काव्य का अनुशीलन अथवा निर्माण एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का तात्त्विक ज्ञान हुआ करता है, कलाओं में व्युत्पत्ति बढ़ा करती है, विदग्ध अथवा सहृदय होने का सुयश मिला करता है और उसकी प्राप्ति हुआ करती है, जिसे हृदय का आह्लाद कहा जाता है।' (भामह : काव्यालंकार तथा अग्निपुराण)।

और वस्तुतः यह बात स्वयंसिद्ध है—काव्य से धर्मप्राप्ति तो इसलिए सिद्ध है क्योंकि भगवान् विष्णु के चरणारविन्द की स्तुति (स्तोत्र—काव्य-भावना अथवा स्तोत्र काव्य-रचना) धर्म का ही तो लाभ है। यहाँ 'एकः शब्दः' इत्यादि वेद—वाक्यों का प्रमाण भी दिया जा सकता है जिसका तात्पर्य है—'एक ही शब्द (विष्णु-वाचक प्रणव

सिद्धैव। अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च।

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते। परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्?

अथवा ओङ्काररूप शब्द–वस्तुतः शब्दमात्र, क्योंकि समस्त शब्द अन्ततोगत्वा भगवद्वाचक ही हैं) जिसका सोच-समझ कर प्रयोग किया जाय और ठीक ठीक अर्थ-रहस्य समझा जाय, क्या इहलोक और क्या परलोक–दोनों से सम्बद्ध हमारे मनोरथों का पूरक हुआ करता है।'

काव्य से अर्थ-प्राप्ति तो प्रत्यक्ष–सिद्ध है ही। काव्य से कामरूप पुरुषार्थ की सिद्धि इसलिये संभव है क्योंकि जब काव्य से अर्थ-लाभ हुआ तो उसके द्वारा काम-सुख तो अवश्य ही प्राप्त होगा।

काव्य मोक्ष-प्राप्ति का भी साधन है क्योंकि काव्य के द्वारा सहृदय सामाजिक के हृदय में उस अनासक्ति योग की भावना भरी जाया करती है जो काव्य–संभूत धर्मादिफल–भोग के प्रति स्वाभाविक है (क्योंकि अनासक्ति–योग ही मोक्ष–प्राप्ति है)। काव्य से मोक्ष प्राप्ति का एक यह भी अभिप्राय है—काव्य हम में मोक्ष–शास्त्र–सम्बन्धी विषयों की व्युत्पत्ति उत्पन्न किया करता है। वैसे तो वेदादिशास्त्र पुरुषार्थचतुष्टय के प्रापक माने गये हैं, किन्तु वेदादिशास्त्रों में कोई रस नहीं मिला करता और इसलिये इनके द्वारा पुरुषार्थचतुष्टय की जो प्राप्ति है वह एक दुःखद साधना है और प्रौढ़बुद्धि लोगों के लिये ही संभव है। काव्य तो परमानन्दसंदोह–रस–का जनक है और इसलिये काव्य से जो पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हुआ करती है वह एक सुखद साधना है और कोमलबुद्धि लोग के भी वश में है।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि परिपक्व बुद्धि वालों के लिये, जब कि उन्हें वेदशास्त्रों से ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति हो सकती है, काव्य की कोई उपयोगिता नहीं। क्योंकि बात तो वस्तुतः यह है कि जब कि कड़वी–कसैली औषध (वेदशास्त्र मनुष्य के ताप–संताप की कड़वी–कसैली औषध हैं) से होने वाली रोग–शान्ति मीठी खांड (काव्य मानव के ताप-संताप की मीठी खांड सरीखी औषध है) से ही हो सकती हो, तब भला कौन ऐसा होगा जो अपने ताप-शमन के लिये मीठी खांड (काव्य) के प्रति लालायित न हो उठे!

विमर्श—(क) काव्य के प्रयोजनों का निरूपण तो आलंकारिक आचार्य परम्परा से करते आ रहे हैं किन्तु काव्य-समीक्षा के प्रयोजनों का विचार संभवतः सर्वप्रथम विश्वनाथ कविराज ने ही किया है। काव्य और काव्य-समीक्षा की विभिन्न कृतियों में, कवि और समीक्षक की प्रतिभा की एकता और एकरसता का अनुसंधान कर, विश्वनाथ कविराज ने जो प्रयोजनैक्य सिद्ध किया है वह एक मौलिक कृत्य है और काव्य किंवा अलंकारशास्त्र की अपृथक्सिद्धता को प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त है।

(ख) साहित्यदर्पणकार के पूर्ववर्ती आलंकारिक आचार्य मम्मट द्वारा निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजन तो ये रहे—१–यशःप्राप्ति, २–अर्थलाभ, ३–लोकव्यवहारज्ञान, ४–अमङ्गलनाश, ५–रसास्वाद

(काव्य-प्रयोजन की प्रामाणिकता)

किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

'नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा ।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥' इति ।

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' इति च । विष्णुपुराणेऽपि—

'काव्यालापाश्च ये केचिद्गीतकान्यखिलानि च ।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥' इति ।

और ६—सरसोपदेश । साहित्यदर्पणकार ने इस उपर्युक्त प्रयोजन-षट्क की समीक्षा में काव्य और काव्यालोचन के पुरुषार्थप्राप्तिरूप समान प्रयोजन का निष्कर्ष निकाला है । वैसे तो मम्मट-निर्दिष्ट 'षट्-प्रयोजन' में ही पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति का रहस्य समाया हुआ है और इस दृष्टि से मम्मट-प्रतिपादित प्रयोजन-षट्क का खण्डन नहीं हो सकता । किन्तु इतना अवश्य है कि जो बात मम्मट के मत में गूढ़ रूप से है वह विश्वनाथ कविराज के समीक्षण में स्पष्ट हो गयी है ।

(ग) प्राचीन अलंकारशास्त्र में 'शास्त्र' के अधिकारियों और 'काव्य' के सामाजिकों में कोई बौद्धिक भेद-भाव नहीं बताया गया है । किन्तु विश्वनाथ कविराज ने 'शास्त्र' के अधिकारियों को 'परिणतबुद्धि' और 'काव्य' के सामाजिकों को 'सुकुमारबुद्धि' मानकर दोनों के व्यक्तित्व का भेद स्वीकार किया है । विश्वनाथ कविराज की इस मान्यता का आधार संभवतः समानदेशीय किंवा समानकालीन जन-समाज की प्रवृत्तियों का विश्लेषण है । यह भी संभव है कि प्राचीन आलंकारिकों की ये सूक्तियाँ, जैसे कि—

'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे ।
लघु मृदु च नीरसेभ्यस्ते हि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्यः ॥' (रुद्रट : काव्यालङ्कार १२. १)

अथवा

'धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः ।
काव्यबन्धोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥' (कुन्तक : वक्रोक्तिजीवित १. ४)

इत्यादि, जिनमें 'शास्त्र' और 'काव्य' का नैसर्गिक भेद-भाव प्रतिपादित है, विश्वनाथ कविराज की समीक्षा में 'शास्त्र' और 'काव्य' के अधिकारियों के वैयक्तिक भेद-भाव को भी प्रमाणित करती प्रतीत हुई । चाहे जो भी हो, विश्वनाथ कविराज ने 'शास्त्र' और 'काव्य' के अधिकारियों के व्यक्तित्व का जो भेद-प्रतिपादन किया है वह कोई कपोल-कल्पना नहीं, किन्तु एक मनोवैज्ञानिक सत्य है । आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्रियों ने भी कवि किंवा सहृदय को Introvert (अन्तर्मुखी वृत्तिवाले) और वैज्ञानिक किंवा विज्ञान-प्रेमी को Extrovert (बहिर्मुखी वृत्तिवाले) सिद्ध किया है । कविराज विश्वनाथ की धारणा में 'सुकुमारबुद्धि' और 'परिणतबुद्धि' का जो अभिप्राय है उसमें आधुनिक मनोविज्ञानशास्त्र के उपर्युक्त व्यक्तित्व-विश्लेषण का भी रहस्य बहुत कुछ अन्तर्निहित है ।

अनुवाद—इतना ही क्यों ? काव्य की उपयोगिता में तो शास्त्रों और पुराणों का भी प्रमाण है । अग्निपुराण का यह कथन है—

'सबसे पहले तो संसार में मानव-जन्म दुर्लभ है, इससे भी दुर्लभ है विद्यालाभ, उससे भी दुर्लभ है कवित्व और जिसे कवि-प्रतिभा कहते हैं वह तो अत्यन्त दुर्लभ है ।'

(अग्निपुराण ३२७. ३)

और यह भी—

'नाट्य एक ऐसी वस्तु है जिससे धर्म, अर्थ और काम रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति हुआ करती है ।' (अग्निपुराण ३३८. ७)

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते ।

(साहित्यदर्पण का अनुबन्ध-चतुष्टय)

एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम् ।

(काव्य-स्वरूप-विवेक की भूमिका : 'काव्यप्रकाश'-कृत काव्यलक्षण-निर्देश)

तत्किं स्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति ।

(उपर्युक्त काव्य-लक्षण का समीक्षण : दोषरहित शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में 'अव्याप्ति')

एतच्चिन्त्यम् ।

तथाहि—यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा—

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः

इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण (१. २२. ८४.) का यह उल्लेख है—

'समस्त काव्य-साहित्य किंवा समस्त संगीत वस्तुतः शब्दमूर्ति भगवान् विष्णु के ही अंश हैं ।'

अब जबकि यह सिद्ध है कि काव्य जीवन के लिये अत्यन्त उपयोगी है, तब काव्य क्या है ? इसका विचार-विमर्श तो आवश्यक ही है ।

अनुवाद—इस उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ (साहित्यदर्पण) का 'अभिधेय' अथवा विषय क्या है (अर्थात् काव्यस्वरूप-विचार इसका विषय है) और साथ ही साथ यह भी कि इसका 'प्रयोजन' क्या है (अर्थात् चतुर्वर्गप्राप्ति इसका प्रयोजन है), इसका 'अधिकारी' कौन है (अर्थात् काव्य-प्रेमी सामाजिक जन इसके अधिकारी हैं) और इसका 'सम्बन्ध' क्या है (अर्थात् साहित्यदर्पण और काव्य में प्रतिपादक और प्रतिपाद्य का सम्बन्ध है)।

विमर्श—किसी भी विषय के शास्त्रीय ग्रन्थ में 'अनुबन्धचतुष्टय' का रहना अनिवार्य माना गया है । 'अनुबन्धचतुष्टय' की मर्यादा की रक्षा इसी उद्देश्य से की जा रही है जिसमें किसी भी विषय का ग्रन्थकार अपने विषय से इधर उधर न बहक जाय । 'अनुबन्धचतुष्टय' का अभिप्राय है—अधिकारी, विषय, सम्बन्ध और प्रयोजन—इन चार तत्त्वों का (तत्रानुबन्धो नामाधिकारिविषय-सम्बन्धप्रयोजनानि—वेदान्तसार) । यहाँ साहित्यदर्पण जैसे काव्यालोचनात्मक ग्रन्थ के 'अधिकारी' वे लोग बताये गये हैं जो 'काव्यतत्त्व' के जिज्ञासु हैं । वस्तुतः ऐसे ही लोगों को ध्यान में रखकर विश्वनाथ कविराज ने यह ग्रन्थ लिखा है । इस ग्रन्थ का विषय है—काव्य—साहित्य । इस विषय के श्रवण, मनन और निदिध्यासन का मानवजीवन में एक महान् उपयोग है, क्योंकि यह एक 'पुरुषार्थ' है और इसकी 'प्राप्ति' मानव—जीवन की एक पूर्णता है । इस विषय और इसके प्रयोजन में एक घनिष्ट 'सम्बन्ध' है क्योंकि इस विषय के अवबोध से पुरुषार्थप्राप्ति संभव है ।

अनुवाद—'काव्य क्या है ?' इस प्रश्न के समाधान में एक काव्याचार्य (काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) का यह कथन है—

'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित हो, गुणसहित हो और यथासंभव किंवा यथास्थान अनलंकृत भी हो तो कोई क्षति नहीं ।'

किन्तु काव्य-स्वरूप का उपर्युक्त निरूपण इसलिये युक्तियुक्त नहीं कि यदि दोषरहित ही शब्दार्थयुगल 'काव्य' हुआ करे तब यह सूक्ति जो 'काव्य' होने से

सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग्धिक्छक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥' इति ।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् । प्रत्युत ध्वनि(स)त्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः ।

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात् । न च कंचिदेवांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि सर्वमेव काव्यम् । तथाहि—काव्यात्म-

---

रही–'अपमान तो वस्तुतः सर्वप्रथम यह है मेरा कि मेरे (मुझ लोक–विद्रावण रावण के) भी शत्रु पैदा होने लगे ! इससे बढ़कर मेरा और क्या अपमान कि इन शत्रुओं में एक तापस भी शत्रु बन बैठा ! और तो और, यह तापस भी, इस लङ्का में ही, राक्षसवंश के विनाश में जुट गया ! ओह ! क्या रावण मैं जी रहा हूँ । धिक्कार है इन्द्रविजयी मेघनाद को ! नींद से उठा कुम्भकर्ण भी अब किस काम का ! और, और मेरे ये भुजदण्ड किस काम के, जो 'स्वर्ग' कहे जाने वाले किसी छोटे–मोटे टोले की लूट–खसोट में, व्यर्थ के लिये ही फूले बने बैठे हैं ।

यह सूक्ति इसलिये काव्य नहीं हो सकती क्योंकि यहाँ 'विधेयाविमर्श' दोष आ पड़ा है ('विधेयाविमर्श' दोष इसलिये आ पड़ा है क्योंकि यहाँ कवि ने वाक्य–रचना के सामान्य सिद्धान्त–उद्देश्य–विधेयभाव–के पूर्वपश्चाद्भाव के नियम—

'अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।
न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ॥'

का स्पष्ट उल्लंघन किया है । एक बार तो इस नियम का उल्लंघन 'अयमेव न्यक्कारः' के स्थान पर 'न्यक्कारो ह्ययमेव' करके किया गया है और दूसरी बार किया गया है 'एभिर्भुजैः वृथा' के बदले '···वृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः' इत्यादि रूप से वाक्य–विन्यास करके, जहाँ 'वृथा'रूप विधेयांश, जिसे प्रधानता देनी चाहिये, समास में डालकर अप्रधान बना दिया गया है । होना तो चाहिये इस उपर्युक्त सूक्ति को उत्तम काव्य जैसा कि रसभावादि की अभिव्यञ्जना के कारण इसे माना भी गया है ! इससे तो यही निष्कर्ष निकला कि 'दोषरहित शब्दार्थयुगल काव्य है'–यह काव्य–लक्षण 'अव्याप्ति' दोष से दूषित है क्योंकि जिस शब्दार्थयुगल, जैसे कि 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि, को काव्य होना चाहिये वह इस लक्षण की कसौटी पर काव्य ही नहीं ठहरता !) ।

यहाँ यह समाधान भी अकिञ्चित्कर ही रहा कि यह (न्यक्कारो ह्ययम् आदि) सूक्ति जितने अंश में दोषयुक्त है उतने अंश में भले ही काव्य न हो किन्तु अन्यत्र अर्थात् रसभावादि की अभिव्यञ्जना के अंश में तो काव्य ही रहेगी क्योंकि समस्त शब्दार्थयुगल तो यहाँ दूषित नहीं ठहरा । क्यों ? इसलिये कि एक ओर से तो दोषयुक्त अंश और दूसरी ओर से दोषमुक्त अंश से अपनी-अपनी ओर खींची गयी यह सूक्ति 'अकाव्य' अथवा 'काव्य' कुछ भी नहीं हो पायेगी !

और साथ ही साथ यहाँ यह बात भी तो है कि श्रुतिदुष्ट (अथवा विधेयाविमर्श)

भूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात्! यदुक्तं ध्वनिकृता—

> 'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
> ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः॥' इति।

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात्। सति संभवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत्। नहि कीटानु-

---

आदि दोष किसी शब्दार्थयुगल को अंशतः ही नहीं अपितु पूर्णतया दूषित करने वाले हुआ करते हैं (और इसलिये 'न्यक्कारो ह्ययम्' आदि में 'विधेयाविमर्श' को आंशिक दोष कह देने से कोई उद्देश्य नहीं सिद्ध हो जायगा)। ऐसा इसलिये (क्योंकि वस्तुतः इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का अपकर्ष हुआ करता है) क्योंकि यदि इन दोषों से काव्य के आत्मभूत रस का कोई विघात नहीं हो पाता तब इन्हें दोष भी तो नहीं माना गया होता! दोष को तो काव्य के आत्मतत्त्व रस का सर्वात्मना अपकर्षक मानना ही पड़ेगा क्योंकि बिना ऐसा माने नित्यदोष और अनित्यदोष की विभाग-व्यवस्था कैसे सिद्ध हो सकेगी जो कि ध्वनि-दार्शनिक आचार्य की इस उक्ति में सिद्ध की जा चुकी है—

'श्रुतिकटु आदि जो दोष नित्य और अनित्य—दोनों माने गये हैं इसीलिये माने गये हैं क्योंकि शृंगारादिरस-प्रधान काव्य में तो ये सर्वथा हेय हैं (किन्तु रौद्रादिरस-प्रधान काव्य में उपादेय भी हैं)।'

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में या तो काव्य का क्षेत्र बहुत सङ्कुचित हो जाता है या काव्य का कोई क्षेत्र ही नहीं बच रहता। क्योंकि ऐसा असंभव है कि कोई भी सूक्ति ऐसी बन पड़े जिसमें दोष का ऐसा अभाव हो जो ऐकान्तिक और आत्यन्तिक—दोनों हो।

अब यदि इस संकट से पिण्ड छुड़ाने के लिये 'अदोषौ' के नञ् (अ) का अभिप्राय 'अभाव' न लेकर 'ईषद्' 'स्वल्प' लिया जाय क्योंकि नञ् (अ) का अभिप्राय 'ईषद्' भी हुआ करता है तब तो इससे भी भयंकर संकट उपस्थित हो जायगा जिसका रूप यह होगा कि 'निर्दोष शब्दार्थयुगल' काव्य नहीं कहा जा सकेगा (क्योंकि काव्य तो उसी शब्दार्थयुगल को कहेंगे जिसमें कुछ थोड़ा दोष अवश्य हो)। इससे भी छुटकारा पाने के लिये यदि यह कहा जाय कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें यदि दोष हों तो बहुत थोड़े हों' तब तो इसका यही सीधा उत्तर होगा कि काव्य-लक्षण में इस प्रकार की बात करनी ही नहीं चाहिये (क्योंकि दोष का होना या न होना अथवा थोड़ा होना या अधिक होना काव्य के स्वरूप का नियामक अथवा अनियामक नहीं अपितु उसकी उपादेयता के वर्द्धन या अवर्द्धन का ही कारण हो सकता है)। जैसे कि जब हमें किसी रत्न के स्वरूप का विवेचन करना होता है तब यह नहीं कहना होता कि 'रत्न वह है जिसमें कीटानुवेध का दोष न लगा हो'। इसी प्रकार काव्य के स्वरूप का विवेचन करते

वेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेव कर्तुम् । तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः ॥' इति ।

हुये यह नहीं कहना चाहिये कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जिसमें दोष न हो'। 'कीटानुवेध' होने या न होने से रत्न की 'उपादेयता' में न्यूनाधिक्य भले ही हो 'रत्नता' में क्योंकर कोई क्षति होने लगेगी ! श्रुतिदुष्टादि दोषों के सद्भाव अथवा अभाव में भी शब्दार्थयुगलरूप काव्य की उपादेयता में घटती–बढ़ती तो संभव है किन्तु 'काव्यता' में कोई क्षति क्योंकर होने लगेगी ! तभी तो ऐसा कहा गया है—

'जिस प्रकार कोई रत्न कीटानुवेध के होने पर भी रत्न ही रहा करता है, उसी प्रकार कोई काव्य रसभावाभिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल-श्रुतिदुष्टादि दोष के होने पर भी काव्य ही रहा करता है ।'

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण—**'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि'** की पदशः आलोचना विश्वनाथ कविराज ने इसीलिये की है जिससे उनका अपना काव्यलक्षण—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** अक्षरशः सर्वमान्य सिद्ध हो जाय । यहाँ सर्वप्रथम आक्षेप शब्दार्थयुगलरूप काव्य की पहली विशेषता अर्थात् अदोषता पर किया गया है । मम्मट के **'अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम्'** इस कथन में 'अदोषौ' का वह अभिप्राय लिया गया है जो लिया तो जा सकता है किन्तु मम्मट के आशय के प्रतिकूल है । **'यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा 'न्यक्कारो ह्ययमेव'...... अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात्'** आदि युक्तियाँ वस्तुतः मम्मट के काव्यलक्षणवाक्य के 'अदोषौ' पद पर भले ही कटाक्ष करें किन्तु यह निश्चित है कि इनसे मम्मट की 'काव्यभावना' में कोई दोष नहीं निकल पाया । मम्मट के लिये 'न्यक्कारो ह्ययमेव' आदि सूक्ति 'ध्वनिकाव्य' का एक सुन्दर उदाहरण है क्योंकि यहाँ एक एक पद व्यञ्जना से ओतप्रोत है । यहाँ क्या वाच्य और क्या व्यङ्ग्य–दोनों अर्थों के सौन्दर्य और चमत्कार परस्पर स्पर्धा में पड़े एक रमणीय काव्य की रूपरेखा का निर्माण कर रहे हैं । यहाँ मम्मट को और मम्मट के पूर्ववर्ती ध्वनिदार्शनिक आचार्यों को कोई दोष न दिखाई पड़ा । जहाँ विश्वनाथ कविराज को यहाँ 'विधेयाविमर्श' का दोष दिखायी पड़ रहा है वहाँ वस्तुतः तो यह दोष है ही नहीं क्योंकि अनुवाद्य अथवा उद्देश्य के पहले विधेय के प्रयोग में ही कवि अपने प्रस्तावित चरित (रावण) की विशेषता का प्रकाशन उचित समझ रहा है । यहाँ बात यह है कि 'न्यक्कार' पद के, जो वस्तुतः विधेय है, उद्देश्य-पद (अयमेव) के पहले प्रयोग में ही कवि लोकविद्रावण रावण के उग्र स्वभाव को अभिव्यक्त करना चाहता है । यदि उद्देश्य–विधेय–भाव के सिद्धान्त का यहाँ अनुसरण किया गया होता तो क्रोधान्ध रावण और किसी पद–वाक्य–प्रमाण–पारावारीण पण्डित का भेद ही क्या रहता ! साथ ही साथ समास में पड़ा 'वृथा' पद विधेय क्यों हो ? वह तो उच्छूनता का एक सार्थक विशेषण है । 'स्वर्गरूपी छोटे से टोले की लूट–खसोट से व्यर्थ के लिये फूले न समाये इन मेरे भुजदण्डों का भी अब क्या काम ?'–यही यहाँ अभिप्राय है । इस अभिप्राय की दृष्टि से यदि 'वृथोच्छून' पद न प्रयुक्त किया गया होता तो 'स्वर्गग्रामटिका' पद का क्या स्वारस्य रह जाता ? 'स्वर्गग्रामटिका'–विलुण्ठन के ही कारण तो भुजदण्डों को 'वृथोच्छून' कहा गया है । यदि कहीं स्वर्ग को 'दुर्ग्रह दुर्ग' कहा गया होता तब भले ही 'वृथा' पद व्यर्थ लगा करता ! यह सब स्वारस्य होने पर भी यदि 'विधेयाविमर्श' के दोष के देखने का दुराग्रह रह ही जाय तब भी मम्मट के अनुसार यह काव्यकृति निर्दुष्ट हो कही जायगी क्योंकि यहाँ के

रसभाव की महिमा से यह दोष भी गुण का ही काम करेगा। इस प्रकार इस काव्यसूक्ति के आधार पर मम्मट के काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अदोषौ' पद में कोई दोष नहीं निकाला जा सकता। जब तक और कोई उदाहरण न दिया जाय तब तक मम्मट के काव्यलक्षण में 'अव्याप्ति' कहाँ से खटकने लगे! **'न्यक्कारो ह्ययमेव'** आदि के आधार पर मम्मट की काव्यपरिभाषा अव्याप्त नहीं अपितु सर्वथा निर्दुष्ट प्रतीत हो रही है।

(ख) 'दोषरहित' ही 'शब्दार्थयुगल' को काव्य मानने में दूसरी आपत्ति है—काव्य के क्षेत्र का संकुचित हो जाना या सर्वथा लुप्त हो जाना। कविराज विश्वनाथ ने इसीलिये कहा—'किं चैवं **काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात्**'। जब मम्मट ने अपना काव्य-लक्षण बनाया होगा तब यह सब भी अवश्य सोच लिया होगा। मम्मट के अनुसार उत्तम-मध्यम और अधम-इन तीन प्रकार की काव्यकृतियों में शब्दार्थयुगल की 'अदोषता' एकरूप नहीं अपितु त्रिविधरूप है। विश्वनाथ कविराज ने इस पर ध्यान न दिया। उनका ध्यान एकमात्र 'अदोष' पद में 'नञ्' के अर्थ-अभाव-पर ही गया और काव्यसाहित्य की काञ्चनराशि की परख के लिये मम्मट की बतायी काव्यलक्षण की कसौटी एक अनर्थ के रूप में दिखायी देने लगी। किन्तु यह सब एक दुराग्रहमात्र ही है और कुछ नहीं। यदि 'दोषहान' को काव्यरचना के लिये अनिवार्य न माना जाय और काव्यसाहित्य की प्रसिद्ध कृतियों में 'दोषहीन' की विशेषता को प्रमाणरूप से न प्रस्तुत किया जाय तब तो काव्य-क्षेत्र में ऐसी उच्छृङ्खलता पैदा हो जाय कि **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** का मन्त्रजाप करते हुये जो भी उलटा-सीधा लिखा जाय, वह सब काव्य ही हो जाय! मम्मट के काव्य-लक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' पर जो सर्वप्रथम ध्यान रखा गया है वह संस्कृतकाव्यसाहित्य की ऐतिहासिक और वास्तविक दोनों दृष्टियों से युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। मम्मट ने 'दोषरहित शब्दार्थयुगल' को जो काव्य माना है उसके साथ यह सार्वभौम सिद्धान्त भी समञ्जस रखा है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सर्वथा निरवद्य-निर्दुष्ट-हो (**नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत्**)।

(ग) मम्मट के काव्यलक्षण में 'अदोषौ' के अर्थ के रूप में 'ईषद्दोषयुक्तौ' की कल्पना विश्वनाथ कविराज की दुराग्रहपूर्ण दृष्टि का ही परिणाम है। इस अभिप्राय में तो मम्मट ने शब्दार्थयुगल की अदोषता कभी भी न मानी थी! विश्वनाथ कविराज की यह आलोचना व्यक्ति-विवेककार आचार्य महिमभट्ट की आलोचना से प्रभावित तो अवश्य प्रतीत हो रही है किन्तु जहाँ महिमभट्ट ने एक सिद्धान्त-विशेष के अनुसंधान के लिये ध्वनिकार की पद-योजनाओं पर आक्षेप किया है वहाँ विश्वनाथ कविराज ने बिना किसी सिद्धान्तविशेष के प्रतिपादन के ही काव्य-प्रकाशकार की पद-योजना पर कटाक्ष किया है।

(घ) **'अदोषौ शब्दार्थौ'** में **'सति सम्भवे ईषद्दोषौ'** की कल्पना मम्मट के काव्यलक्षण पर विश्वनाथ कविराज द्वारा किये गये कटाक्षों का वैचित्र्य भले ही प्रकट किया करे किन्तु मम्मट के काव्यमत में जब यह बात ही नहीं तो खण्डन किसका! एक बात तो विश्वनाथ कविराज की यहाँ जँच रही है किन्तु वह उनकी बात नहीं अपितु उनके द्वारा उद्धृत इस सूक्ति अर्थात्—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥'

की बात है। बिना कुछ कहे हुए भी यदि इसी सूक्ति को पुरस्कृत कर साहित्यदर्पणकार ने कहा होता कि काव्य का लक्षण होना चाहिये—**'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** तब भी बात कुछ बन गयी होती। 'रत्न' के लक्षणकार यह कभी नहीं कहा करते कि 'रत्न' वह है जिसमें काकपद, मक्षिकाकृति आदि-आदि दोष न हों। वे तो केवल इतना ही कहा करते हैं कि जिस रत्न में

('सगुण' शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनुपपत्ति)

किञ्च । शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादितत्वात् । 'रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत् ? तथाऽप्ययुक्तम् । तथाहि–तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा ? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् । अस्ति चेत् ? कथं

काकपद अथवा मक्षिकाकृति आदि कोई दोष हो वह 'शुभ नहीं हुआ करता जैसा कि बृहत्संहिताकार आचार्य वराहमिहिर का ही कथन है—

'काकपदमक्षिकाकेशधातुयुक्तानि शर्करैर्विद्धम् ।
द्विगुणाश्रिदग्धकलुषत्रस्तविशीर्णानि न शुभानि ॥'

इसी प्रकार काव्य के लक्षणकारों को भी यह कभी नहीं कहना चाहिये कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल हैं जिसमें कोई दोष न हो' । उनके लिये तो यही कहना उचित है कि 'काव्य वह शब्दार्थयुगल है जो रसात्मक हो' । इसके बाद ही यह कहा जा सकता है कि जिस काव्य में विधेयाविमर्श आदि दोषों में से कोई दोष हो वह काव्य उच्चकोटि का काव्य नहीं हुआ करता । विश्वनाथ कविराज का यह 'साहित्यदर्पण' वस्तुतः व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की कल्पना में आ चुका है। महिमभट्ट ने स्पष्ट कहा था—

'काव्यमात्रस्य.........रसात्मकत्वोपगमात् ।.........अस्य (काव्यस्य) रसात्मकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम् । तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः ।' (व्यक्तिविवेक, पृष्ठ ९३, ९७) किन्तु वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की परिभाषा एकाङ्गी ही परिभाषा है। आचार्य मम्मट ने अलंकारशास्त्र के ऐतिहासिक और वास्तविक तत्त्वों की पूर्वापर समीक्षा में अपनी काव्य-परिभाषा प्रस्तुत की है । इस व्यापक दृष्टि से देखते 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' पर कोई दोष नहीं पड़ता ।

अनुवाद—(काव्यप्रकाश–कृत उपर्युक्त काव्यलक्षण में 'शब्दार्थयुगल की अदोषता' में तो अव्याप्ति दोष है ही, किन्तु) साथ ही साथ यहाँ 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' में काव्य-स्वरूप की मान्यता भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि 'शब्दार्थयुगल' को 'सगुण तब कहा जाय जब कि 'गुण' शब्द और अर्थ के धर्म माने जा सकें ! गुण तो एकमात्र रस के धर्म हैं और उपर्युक्त काव्यलक्षणकार (आचार्य मम्मट) ने ही इन्हे रस-धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है—

'जैसे शौर्य आदि आत्मा के अपृथक्सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शरीर के) वैसे ही माधुर्य आदि रसरूप काव्यात्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध गुण अथवा धर्म हुआ करते हैं (न कि शब्द और अर्थ रूप काव्य-शरीर के) । (काव्यप्रकाश. ८)

अब यदि इस अड़चन से छुटकारा पाने के लिये यह कहा जाय कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्दार्थयुगल की रसाभिव्यञ्जकता' है क्योंकि रसाभिव्यन्जक शब्द और अर्थ को उपचारतः सगुण शब्द और अर्थ कहा ही जा सकता है', तब तो यही कहना पड़ता है कि ऐसी बात यहाँ बहुत ठीक नहीं बैठती । क्यों ? इसलिये कि जिस शब्दार्थयुगल को काव्य-रूप मान लिया गया उसके सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि 'उसमें रस है या रस नहीं है ?' यदि इसका उत्तर यह दिया गया कि

नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो देशा इति केनाऽप्युच्यते। ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ'इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। उक्तं हि—'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्' इति।

'उसमें रस नहीं है' तब तो यही सिद्ध हो गया कि उसमें 'गुणवत्ता' भी नहीं है क्योंकि जहाँ रस रहेगा वहीं ही गुण रहेंगे और जहाँ रस न होगा वहाँ गुण भी न होंगे! अब यदि यहाँ यह उत्तर सोचा गया कि 'उसमें रस है (इसलिये गुण भी हैं)' तब तो यह पूछना पड़ेगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता के' बदले 'शब्दार्थयुगल की रसवत्ता' को काव्यस्वरूप का नियामक क्यों न बताया गया? यदि यहाँ यह कहा जाय कि 'शब्द और अर्थ की सगुणता' का अभिप्राय 'शब्द और अर्थ की सरसता' ही निकलना चाहिये क्योंकि रस के बिना गुण की स्थिति ही असंभव है' तब तो इसका सीधा उत्तर यह दिया जायगा कि 'शब्दार्थयुगल की सगुणता' के बदले 'शब्दार्थयुगल की सरसता' को काव्य-स्वरूप का नियामक क्यों न माना जाय? भला यह कौन सा तुक कि कहना हो 'ये वे भूभाग हैं जहाँ प्राणी रहा करते हैं' और कहा जाय 'ये वे भूभाग हैं जहाँ शौर्यादि (गुण) रहा करते हैं!' (भला शब्द और अर्थ की 'सरसता' को मन में रख कर शब्द और अर्थ की 'सगुणता' के प्रतिपादन की बुद्धिमत्ता कोई बुद्धिमानी हुई!)

यहाँ यह समाधान भी कि 'सरस शब्दार्थयुगल' के बदले 'सगुण शब्दार्थयुगल' का औपचारिक प्रयोग काव्य में गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ के प्रयोग पर जोर देने के उद्देश्य से किया गया, कोई समाधान नहीं क्योंकि गुणाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य के उत्कर्षवर्द्धक भले ही हों, स्वरूप-नियामक तो कदापि नहीं हो सकते। तभी तो ऐसा कहा गया है—

'शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्त्व है, माधुर्यादिगुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादिदोष काणत्व (काना होने) आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर-संस्थान (अङ्गरचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और (अनुप्रास-) उपमादि अलङ्कार कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं।'

विमर्श—(क) काव्यप्रकाशकार की काव्य-परिभाषा शब्दार्थयुगलरूप काव्य में 'दोषाभाव' के बाद 'गुणसद्भाव' के तत्त्व का दर्शन करती है। साहित्यदर्पणकार ने इसे भी अनावश्यक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में काव्यप्रकाशकार की 'सगुणौ शब्दार्थौ' की उक्ति और उन्हीं की—

> 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' (काव्यप्रकाश ८. १)

इत्यादि उक्ति में परस्पर विरोध प्रदर्शित किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि मम्मट की काव्यपरिभाषा युक्तिसंगत नहीं। किन्तु वस्तुतः बात यह है कि यहाँ भी खींचातानी से ही काम निकालने का प्रयास दिखायी दे रहा है। मम्मट ने जहाँ माधुर्यादि गुणत्रय को

मुख्यतः 'रसधर्म' माना है वहाँ यह भी स्वीकार किया है कि उपचारतः गुण शब्दार्थगत भी कहे जा सकते हैं—'गुणवृत्त्या पुनस्तेषां वृत्तिः शब्दार्थयोर्मता' (काव्यप्रकाश, ८. ६)। इस प्रकार मम्मट के काव्यमत में परस्पर विरोध का देखना-दिखाना कोई युक्तिपूर्ण बात नहीं प्रतीत होती। मम्मट की दृष्टि में शब्द और अर्थ में माधुर्यादि गुणों के होने का एकमात्र अभिप्राय शब्द और अर्थ का मधुर श्रृङ्गारादि रसों के अभिव्यञ्जन का सामर्थ्य ही है, अन्य कुछ नहीं।

(ख) विश्वनाथ कविराज की एक और युक्ति यह है—यदि उपचार का आश्रय लेकर 'रसाभिव्यञ्जक' शब्द और अर्थ को 'सगुण' शब्द और अर्थ कहा जा सकता है तो इसी दृष्टि से उन्हें (शब्द और अर्थ को) 'रसवत्' अथवा 'सरस' कहने में क्या आपत्ति है। युक्ति तो यह ठीक ही है क्योंकि विश्वनाथ कविराज को 'सगुण शब्दार्थयुगल' के स्थान पर 'रसात्मक वाक्य' को काव्य सिद्ध करना है। मन में रखा जाय—'सरस शब्दार्थयुगल काव्य है' और कहा जाय 'सगुण शब्दार्थयुगल काव्य है!' ऐसा कहना ठीक ऐसे ही है जैसे कहा तो जाय 'यहाँ शूरता रहा करती है' और समझा जाय 'यहाँ लोग रहा करते हैं!' किन्तु ऐसा लगता है कि इस तर्कचातुर्य में कहीं कुछ चूक है और वह यह है—'सगुण' शब्दार्थयुगल में 'रसाभिव्यञ्जक' शब्दार्थयुगल का अभिप्राय तो अन्तर्निहित है क्योंकि अभिव्यञ्जना की कड़ी 'शब्द और अर्थ—रस—गुण' इस रूप से परम्परया जुड़ी है अर्थात् ध्वनिवादी आचार्यों की यह मान्यता कि—'शब्दार्थयुगल तो रस के अभिव्यञ्जक हैं और माधुर्यादि गुण रसानुभव में अभिव्यङ्ग्य हृदयावस्थारूप हैं'—यहाँ अक्षुण्ण विराज रही है, किन्तु यदि इसके बदले 'रसवत्' अथवा 'सरस' पद को शब्दार्थयुगल का विशेषण रखा जाय तो इससे 'रसाभिव्यञ्जक शब्दार्थयुगल' का भाव भले ही निकल जाय 'रसानुभव में अभिव्यङ्ग्य गुण' का अभिप्राय तो कदाचित् अनायास नहीं निकल सकता। **'सगुणौ शब्दार्थौ'** कहने पर तो **'साक्षात् रसाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** तथा **'परम्परया गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** का रहस्य समझा जा सकता है किन्तु **'सरसौ शब्दार्थौ'** अथवा **'रसवन्तौ शब्दार्थौ'** कहने से **'रसाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** का ही अभिप्राय निकल सकता है न कि **'परम्परया गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ'** का भी। रसध्वनिवादी काव्यालोचना की दृष्टि से यदि काव्यलक्षण किया जाय तब तो मम्मट का ही काव्यलक्षण एकमात्र निर्दुष्ट काव्यलक्षण प्रतीत होता है क्योंकि इसमें 'शब्दार्थ-रस-गुण' का परस्पर सम्बन्ध एकत्र ही निर्दिष्ट किया हुआ है। 'रसवत्' अथवा 'सरस' शब्दार्थयुगल कहने पर 'शब्दार्थ—रस' का सम्बन्ध भले ही सूचित हो जाय 'गुण' तो बाहर निकला प्रतीत हो रहा है।

(ग) माधुर्यादि गुणों को 'काव्य का 'उत्कर्षाधायक' मात्र मानकर विश्वनाथ कविराज ने मम्मट की काव्यपरिभाषा में 'शब्दार्थ की सगुणता' पर जो आक्षेप किया है वह भी सर्वथा समीचीन नहीं प्रतीत होता। गुण काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु उत्कर्षाधायकमात्र हैं (**गुणाभिव्यञ्जक-शब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वं न तु स्वरूपाधायकत्वम्**)—इस युक्ति पर यदि विचार करें तो ऐसा लगता है जैसे रसात्मक वाक्य को काव्यसिद्ध करनेवाले आचार्य ने काव्यप्रकाश के खण्डन के आवेश में पड़कर गुण और अलङ्कार का भेदभाव ही भुला दिया है। रसध्वनिवादी आचार्य तो गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थयोजना को काव्य का स्वरूपाधायक और उत्कर्षाधायक दोनों माना करते हैं। गुण यदि रस के धर्म हुये—और साहित्यदर्पणकार की भी यही मान्यता है—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणा माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा॥ (साहित्यदर्पण ८. १)

तब गुणाभिव्यञ्जक शब्दार्थरचना काव्यस्वरूप न हुई तो और क्या हुई? गुण तो काव्य के स्वरूपाधायक होकर ही उसके उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं। यह तो अलङ्कारों की बात है कि

(सर्वत्र अलङ्कृत शब्दार्थयुगल को काव्य मानने में अनौचित्य)

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः- सर्वत्र सालङ्कारौ कचिदस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालङ्कारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षाधायकत्वात्।

(प्रसक्तानुप्रसक्तया वक्रोक्तिजीवितकार का खण्डन)

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्।

वे काव्य के स्वरूपाधायक नहीं अपितु यथास्थान किंवा यथासंभव एकमात्र उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं। काव्यप्रकाशकार की तभी तो यह स्पष्ट उक्ति है—

'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥' (काव्यप्रकाश ८. १)

अनुवाद—उपर्युक्त उद्धरण की विचारधारा के देखते काव्यप्रकाशकृत काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ को 'अनलंकृती पुनःक्वापि'—सर्वत्र अलंकृत किन्तु कदाचित् अनलंकृत कहना भी किसी काम का नहीं। 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का अर्थ क्या है? यही न कि सर्वत्र तो अलङ्कारसहित शब्दार्थयुगल काव्य है ही किन्तु कहीं-कहीं ऐसा भी शब्दार्थयुगल काव्य ही समझना चाहिए जहाँ कोई भी अलङ्कार स्फुटतया दिखाई न दे। अब जहाँ तक 'सर्वत्र अलङ्कृत शब्द और अर्थ को' काव्य मानने का आग्रह है उसके सम्बन्ध में तो यही कहा जायगा कि यह आग्रह ठीक नहीं क्योंकि अलंकृत शब्द और अर्थ काव्य के स्वरूपाधायक नहीं-काव्य-रूप नहीं-अपितु एकमात्र काव्य के उत्कर्षाधायक हुआ करते हैं-काव्य की उत्कृष्टता के साधन हैं!

विमर्श—आचार्य मम्मट की काव्य-परिभाषा में शब्दार्थयुगल की 'सर्वत्र अलंकृतता तथा साथ ही साथ यथास्थान अलंकारशून्यता' की जो बात है उसकी आलोचना भी सर्वथा चतुरस्र नहीं। इसका कारण यह है कि विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के अक्षरों को पकड़ कर मम्मट के कान खींचे हैं न कि उनके आशयों को पकड़ कर। शब्दार्थयुगलरूप काव्य की सर्वत्र अलंकृतता का जो मम्मट का मत है उसमें यह निःसन्दिग्ध है कि 'रसभावविवक्षा' का रहस्य छिपा है और इसी प्रकार 'शब्दार्थयुगल की यत्र कुत्रचित् अलंकारशून्यता' में भी यही 'रसभावविवक्षा' झांक रही है। तब भला मम्मट के इस गूढाशय को भुलाकर 'सर्वत्र अलंकृतता' की दोषोद्भावना से किस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है?

अनुवाद—जब कि यह सिद्ध है कि अलङ्कृत शब्द और अर्थ 'काव्य' नहीं तब वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) का यह कथन कि 'वक्रोक्ति अथवा भङ्गीभणिति (विचित्र अभिधान और अभिधेय) काव्य का जीवन है' स्वयं असिद्ध हो गया। भला 'वक्रोक्ति', जो एक अलङ्कार है, काव्य का आत्मतत्त्व क्योंकर होने लगे!

विमर्श—यहाँ विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्यलक्षण के अंश 'शब्दार्थ युगल के सर्वत्र अलङ्कार-योग' की आलोचना करते हुए वक्रोक्तिजीवितकार की जिस दृष्टि से आलोचना कर डाली है उसमें भी वस्तुतः कोई विशेष सार नहीं दिखायी देता। यह कहना तो ठीक है कि 'वक्रोक्ति' काव्य का 'जीवित' (जीवन) नहीं है किन्तु यह कैसे कहा जा सकता है कि वक्रोक्तिजीवितकार की

(अलङ्कार की अस्फुट प्रतीति में काव्य की मान्यता—काव्यप्रकाशकार का व्यामोहमात्र)

यच्च क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—

य: कौमारहर: स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभय: प्रौढा: कदम्बानिला: ।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेत: समुत्कण्ठते ।। इति ।

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

'वक्रोक्ति' (भङ्गीभणिति) अलङ्कार रूप ही है । वक्रोक्तिजीवितकार ने न तो 'वक्रोक्ति' को श्लेष-वक्रोक्ति' मानकर ही 'काव्य-जीवित' कहा और न 'काकुवक्रोक्ति' ही मानकर । वक्रोक्तिजीवितकार की 'वक्रोक्ति' तो इस रूप की रही—

'वक्रोक्तिजीवितकार: पुनर्वैदग्ध्यभङ्गीभणितिस्वभावां बहुविधां वक्रोक्तिमेव प्राधान्यात् काव्यजीवितमुक्तवान् । व्यापारस्य प्राधान्यञ्च काव्यस्य प्रतिपेदे । अभिधानप्रकारविशेषा एव चालङ्कारा: । सत्यपि त्रिभेदे प्रतीयमाने व्यापाररूपा भणितिरेव कविसंरम्भगोचर: । उपचारवक्रतादिभि: समस्तो ध्वनिप्रपञ्च: स्वीकृत: । केवलमुक्तिवैचित्र्यजीवितं काव्यं न व्यङ्ग्यार्थजीवितमिति तदीयं दर्शनं व्यवस्थितम् ।' (अलङ्कारसर्वस्व. पृ. ८)

अर्थात् काव्य तो कलाकार कवि की कृति है । कवि की कला क्या है ? कवि की कला है—वैदग्ध्य-भङ्गीभणिति अथवा उक्तिविचित्रता । यह 'उक्तिविचित्रता' वह कला है जिसके द्वारा कवि ध्वनि-साम्राज्य का संचालन किया करता है । वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता, प्रत्ययाश्रयवक्रता वाक्य-वक्रता, प्रकरणवक्रता, प्रबन्धवक्रता आदि-आदि वक्रता-प्रकारों वाली कविकला यदि काव्य का सर्वस्व नहीं जिस पर समस्त काव्यानुभूति अवलम्बित है तो काव्य का सर्वस्व और क्या है ?

वक्रोक्ति के इस उपर्युक्त रहस्योद्घाटन से यह स्पष्ट है कि वक्रोक्तिजीवितकार ने 'वक्रोक्ति' और 'अलङ्कार' को एक नहीं माना है अपितु 'अलङ्कार' को ही वक्रोक्ति का एक प्रकार माना है ।

अनुवाद—**काव्यप्रकाशकार ने** 'अनलंकृती पुन: क्वापि शब्दार्थौ काव्यम्' के **उदाहरण रूप में जो यह सूक्ति उद्धृत की है—**

'पता नहीं क्या बात है कि मेरा पति भी वही जिसने मेरे कुमारीपन में ही मेरे हृदय में प्रेम उत्पन्न किया, वसन्त की रातें भी वही जिनका आनन्द अबतक भोग चुकी हूँ, खिली वासन्ती लताओं की सुगन्ध से भीनी-भीनी कदम्बवन की उद्दीपक वायु भी वही जिसने मुझे सदा उन्मत्त बनाया है और मैं भी वही जो पहले हो चुकी हूँ, किन्तु ज्यों ही रेवातीर के वेतसनिकुञ्जों की याद आ जाती है त्यों ही चित्त वहाँ राग-रंग के लिए अकस्मात् मचल उठता है !' जिसके लिए यह कहा है कि किसी भी अलंकार की यहाँ स्फुट प्रतीति न होने पर भी यह (शब्दार्थयुगल) काव्य है वह सब वस्तुत: ठीक नहीं । क्यों ? इसलिए कि यहाँ तो विभावना और विशेषोक्ति अलङ्कारों का 'संदेह संकर' नि:सन्दिग्ध-रूप से दिखाई दे रहा है ।

विमर्श—(क) वस्तुत: तो काव्यप्रकाशकार की उद्धृत सूक्ति (य: कौमारहर: आदि) 'अलंकार की अस्फुटप्रतीति' का ही उदाहरण नहीं अपितु सुकुमार रसभाव के सौन्दर्यभार को

ही संभालनेमें लगी उस कविता की मधुर मूर्ति का निदर्शन है जिसे अलंकार की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु विश्वनाथ कविराज ने यहाँ भी, मम्मट के काव्यलक्षण का अक्षर-विश्लेषण करके ही, मम्मट के काव्यमत का खण्डन करना चाहा है। किसी के चाहने से किसी का क्या बिगड़ता है ? मम्मट ने लिखा—**'सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा—'यः कौमारहरः''''''समुत्कण्ठते।' अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः रसस्य च प्राधान्यान्नालङ्कारता—'**(काव्यप्रकाश, पृष्ठ ११-१२) और विश्वनाथ कविराज ने इसका खण्डन किया—

'यत्र क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—'यः कौमारहरः''''''समुत्कण्ठते॥' इति। एतच्चिन्त्यम्।'

जब तक 'यः कौमारहरः' आदि काव्यसूक्ति पर मम्मट की समस्त विचारधारा खण्डित नहीं हो जाती तब तक विश्वनाथ कविराज का यह खण्डनोद्योग क्योंकर सर्वात्मना सफल माना जाय !

(ख) विश्वनाथ कविराज ने 'यः कौमारहरः' आदि काव्यसूक्ति पर यह निर्देश तो कहीं नहीं किया कि यहाँ रसध्वनिसौन्दर्य है किन्तु यह अवश्य कहा कि यहाँ विभावना-विशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर का चमत्कार स्पष्ट प्रतीत होता है। तो क्या 'यः कौमारहरः' आदि वाक्य रसात्मक नहीं ? या मम्मट ने इसे रसनिर्भर कह दिया इसलिये इसे अलंकार-सुन्दर ही मानना पड़ गया ? इस काव्यवाक्य की रसमाधुरी के पान में तो विश्वनाथ कविराज भी **'विभावनाविशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर'** की स्फुट प्रतीति से वञ्चित ही हुये होंगे ! यहां 'वाद' का आश्रय न लिया गया ! 'वितण्डा' के सहारे सिद्धान्त का अपलाप किया गया !

(ग) अब रही 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति में 'विभावना-विशेषोक्तिमूलक संदेहसंकर' की स्फुट प्रतीति की बात। इसका उत्तर काव्यप्रकाश के विज्ञ व्याख्याकारों ने ही बड़े विचार के साथ दिया है जिसका सारसंक्षेप यह है—

'अत्र हि 'हरो वरः' इत्याद्यनुप्रासस्य स्फुटस्यापि प्रकृतशृङ्गाररसप्रतिकूलवर्णघटितत्वेन नालङ्कारता। यद्यपि विभावनाविशेषोक्ती तावत् संभवतः (तथाहि—कारणाभावेऽपि कार्योत्पत्तिकथनं विभावना। अत्र च वरोपकरणादीनामनुपभुक्तत्वस्य कारणस्याभावेऽपि उत्कण्ठारूपस्य कार्योत्पत्तिकथनाद्विभावना। एवं कारणसत्त्वेऽपि कार्याभावकथनं विशेषोक्तिः) तथापि न ते स्फुटे कारणकार्ययोरभावकथनस्य आर्थिकस्य सत्त्वेपि तद्वाचकनञादिनाऽनुपात्तत्वात्। यदि चेतोऽनुत्कण्ठितं नेत्यभिधीयेत तदा विशेषोक्तेः स्फुटत्वं भवेदिति बोध्यम्। अनयोरस्फुटत्वेन एतन्मूलकसंदेहसंकरोऽप्यस्फुट इति निर्विवादम्। न चास्मीति क्रियायाः विभक्तिविपरिणामेन सर्वत्र वरादावन्वयेन क्रियादीपकमेव स्फुटमिति वाच्यम्। अस्मीत्यस्याहमर्थेऽव्ययत्वात्। क्रियापदत्वेऽपि न दीपकत्वम्। तदन्वयिनां सर्वेषामेव प्राकरणिकत्वात्। दीपकस्य तु प्राकरणिकाप्राकरणिकविषयत्वात्। विभक्तिविपरिणामकल्पनाया एवास्फुटात्मकत्वाच्च। एवकारस्याभेदपरत्वेनेतरनिषेधपरत्वायोगाच्च न परिसंख्या। वरादीनां गुणक्रियायौगपद्याभावाच्च समुच्चयः। वरादीनामुपमानोपमेयभावाभावाच्च तुल्ययोगिता। सदृशदर्शनाप्रयोज्यत्वाच्च। 'स एव हि' इत्यादेः प्रत्यभिज्ञाशरीरत्वाच्च न स्मरणालङ्कारः। यतः सुरभयोऽतः प्रौढाः स्वकार्यसमर्था इति काव्यलिङ्गमप्यस्फुटम्। अशाब्दत्वादिति।' (काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृष्ठ १८)

अर्थात् 'यः कौमारहरः' आदि सूक्ति के काव्य-सौन्दर्य में तो कोई सन्देह ही नहीं क्योंकि यहां विप्रलम्भशृङ्गार की सर्वाङ्गीण अभिव्यञ्जना एक सर्वसहृदयसंवेद्य तत्त्व है। साथ ही साथ इस सूक्ति में एक और भी विचित्रता है और वह है इसकी विलक्षण अलङ्कारयोजना (!) इसकी अलङ्कारयोजना इतनी विलक्षण है कि चाहे जितना भी ढूंढ़ें इसमें कोई अलङ्कार स्पष्ट दीख

नहीं पड़ता। ऐसा लगता है जैसे यहां कविता किसी भी अलङ्कार को भार समझ रही है और अनलंकृतता में ही निरन्तर सुन्दर लग रही है। यहां 'हरो वरः' में 'र' वर्ण की स्फुट आवृत्ति अनुप्रास कही जा सकती थी किन्तु यह आवृत्ति यहाँ अलंकार नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसे कवि के रसभाव के अनुकूल कैसे सिद्ध किया जाय? यहां अर्थालंकारों में कतिपय अलंकारों की संभावना भी एक निरर्थक कष्ट-कल्पना ही है। जैसे कि यदि यहां 'विभावना' मानें अर्थात् यह छानबीन करें कि कवि ने वर, वसन्त की रात्रि, मलय समीर आदि २ विषयों के अनुपभोग रूप कारण के अभाव में भी उत्कण्ठारूप कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया है तब यह बात खटक उठती है कि इस प्रकार के कारणभाव और कार्यसद्भाव (अनुपभोग के अभाव और उत्कण्ठा) को एक बुझौवल के रूप में क्योंकर बुझाया गया। जब तक अनुपभोग के अभाव का वाचक कोई शब्द न हो तब तक विभावनारूप वाच्यालंकार की गवेषणा काकदन्त-परीक्षा के अतिरिक्त और क्या! विभावना को व्यङ्ग्य मानने में तो इस रसमयी सूक्ति की अस्फुटालंकार-योजना ही प्रमाणित हो गयी। इसी प्रकार यदि यहां 'विशेषोक्ति' अलंकार को देखना चाहें तो वह भी ऐसा लगता है जैसे एक बार मृगमरीचिका की भांति झलक कर गायब हो गया हो। 'विशेषोक्ति' कहते हैं कारण के होने पर भी कार्य के न होने की कल्पना और वर्णना को। यहाँ नायिका के द्वारा वर आदि विषयों के उपभोग को कारण रूप से मानकर कार्य अर्थात् अनुत्कण्ठा के अभाव का वर्णन विशेषोक्ति के रेखाचित्र-सा दिखलायी दे सकता था, किन्तु कवि को यह पसन्द नहीं। यदि कवि ने यहाँ 'विशेषोक्ति' की योजना की होती तब तो 'चेतोऽनुत्कण्ठितं न' इस प्रकार की ही पदयोजना को स्थान दिया होता। यहाँ तो अनुत्कण्ठा का अभाव-वर्णन वाच्य न होकर आक्षिप्त हो गया और तब विशेषोक्ति रूप वाच्यालंकार कहाँ? और अलंकारों जैसे कि स्मरण, दीपक, तुल्योगिता आदि २ की खोज भी अंधेरे में काजल की खोज सी ही है। इन अलंकारों की असंभावना में 'संदेह संकर' की संभावना भी संदिग्ध ही क्यों सर्वथा निर्मूल किंवा निष्प्रयोजन ही है।

(घ) साहित्यदर्पण का यह विचार-विमर्श वस्तुतः अलंकारसर्वस्वकार रुय्यक की इस उक्ति का ऋणी है—

'कार्यानुत्पत्तिश्चात्र (विशेषोक्तौ) क्वचित् कार्यविरोधोत्पत्त्या निबध्यते। एवं विभावनायामपि कारणाभाव कारणविरुद्धमुखेन क्वचित् प्रतिपाद्यते। तथा च सति 'यः कौमारहरः' इत्यत्र विभावनाविशेषोक्त्योः संदेहसंकरः। तथा ह्युत्कण्ठाकारणं विरुद्धं यः कौमारहर इत्यादि निबद्धमिति विभावना। तथा यः कौमारहर इत्यादेः कारणस्य कार्यं विरुद्धं चेतः समुत्कण्ठत इत्युत्कण्ठाख्यं निबद्धमिति विशेषोक्तिः। विरुद्धमुखेनोपनिबन्धात् केवलमस्पष्टत्वम्। साधकबाधकप्रमाणाभावाच्चात्र संदेहसंकरः।'

(अलंकारसर्वस्व, पृष्ठ १६१-१६२)

अर्थात् 'कारण के सद्भाव में कार्य की अनुत्पत्ति' का वर्णन तो 'विशेषोक्ति' है ही किन्तु कार्य की अनुत्पत्ति का वर्णन दो प्रकार से संभव है—(१) कार्य के अविरुद्ध धर्म के द्वारा और (२) कार्य के विरोधक धर्म के उपन्यास के द्वारा। इसी प्रकार 'विभावना' में भी जहाँ 'कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति' का वर्णन हुआ करता है यह आवश्यक नहीं कि कारण का अभाव कारण के अविरुद्ध धर्म के उपन्यास के साथ ही वर्णित हुआ करे। कारण का अभाव तो कारण विरुद्ध धर्म के उपन्यास में भी वर्णित हो सकता है जिसमें कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जा सकता है और विभावनालंकार की योजना सम्पूर्ण हो सकती है। वस्तुतः **'यः कौमारहरः'** आदि सूक्ति ऐसी सूक्ति है जिसमें विभावना और विशेषोक्ति-दोनों की एक

(सरस्वतीकण्ठाभरण-सम्मत काव्य-लक्षण उपर्युक्त विचार-विमर्श की दृष्टि से स्वयं खण्डित)

एतेन—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम् ।

(ध्वनिकार-कृत काव्यलक्षण का खण्डन)

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा, ध्वनिः—' इति तत्किं वस्त्वलङ्कार-रसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ? नाद्यः,—प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः । द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः ।

विचित्र योजना है । विचित्र इसलिये क्योंकि ये दोनों अलंकार यहाँ स्पष्ट नहीं झलक रहे हैं । इन दोनों अलंकारों की अस्पष्टता ही यहाँ 'संदेहसंकर' की रूपरेखा प्रदर्शित कर रही है । यहाँ (विभावना की दृष्टि से) कारण के अभाव का स्वरूप है—'यः कौमारहरः' आदि रूप से उत्कण्ठा के कारण विरुद्ध धर्म का उपन्यास जिसमें कार्य अर्थात् उत्कण्ठा की उत्पत्ति वर्णित है । और (विशेषोक्ति की दृष्टि से) कार्य की अनुत्पत्ति के वर्णन का स्वरूप है- 'यः कौमारहरः' आदि रूप कारण के कार्य अर्थात् उत्कण्ठाभाव के विरुद्ध धर्म 'चेतः समुत्कण्ठते' (चित्त के उत्कण्ठित होने) का वर्णन ।

किन्तु काव्यप्रकाशकार ने यहाँ इसीलिये संदेहसंकर नहीं समझा, क्योंकि विभावना और विशेषोक्ति जब अस्फुट हैं तब विभावना-विशेषोक्तिमूलक 'संदेहसंकर' क्यों स्पष्ट झलक जाय ।

अनुवाद—उपर्युक्त विचार विमर्श से यह भी सिद्ध हो गया है कि कतिपय काव्य-लक्षण जैसे कि भोजराज (सरस्वतीकण्ठाभरणकार) का यह काव्यलक्षण—

'काव्य वह (शब्दार्थयुगल) है जो निर्दुष्ट हो, गुणयुक्त हो, अलङ्कारों से अलङ्कृत हो और रससमन्वित हो और कवि वह है जो इस प्रकार के काव्य की रचना किया करता है और कीर्ति किंवा प्रीति पाया करता है । (सरस्वतीकण्ठाभरण)' और इसी प्रकार के अन्य काव्य-लक्षण किसी भी काम के नहीं ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के काव्यलक्षण को यदि स्वतन्त्ररूप से खण्डित किया होता तब तो कोई आपत्ति न होती क्योंकि **'अदोषं गुणवत् काव्यम्'** आदि वाक्य काव्य-लक्षण नहीं अपि तु अलङ्कारशास्त्र की काव्य-सम्बन्धी समस्त मान्यताओं का सूचीपत्र है । किन्तु काव्यप्रकाशकार के काव्यलक्षण को सरस्वतीकण्ठाभरण के काव्यलक्षण सा ही मान लेना सर्वथा अनुचित है । काव्यप्रकाशकार ने काव्य का लक्षण किया है, कवि और सहृदय की दृष्टि से काव्य के असाधारण धर्म का निरूपण किया है, यह कहा है, कि 'काव्य यह शब्दार्थयुगल है जो दोषरहित हो········ ।' सरस्वतीकण्ठाभरणकार के काव्यलक्षण (?) में यह बात अर्थाक्षिप्त भले ही हो स्पष्टतः प्रतिपादित नहीं ।

अनुवाद—अब प्रश्न यह उठता है कि ध्वनिकार (आनन्दवर्धन) का यह कथन कि 'ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' क्योंकर काव्य का निर्दुष्ट लक्षण न माना जाए ! किन्तु यहाँ सब से पहले तो यह देखना है कि क्या वस्तु-अलंकार और रसरूप से त्रिविध ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व माना गया है ? या केवल रसभावादिरूप को ही ! यदि

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राहं, दिवस एव प्रलोकय ।
मा पथिक राज्यन्ध, शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ॥]

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ? न,-अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात् । अस्त्विति चेत् ? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात् ।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादसुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां

यहाँ यह कहा जाय कि 'वस्तु-अलङ्कार और रसरूप त्रिविध ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही उत्तर दिया जायगा कि इस काव्य-लक्षण के अनुसार ऐसे भी शब्दार्थ-सन्दर्भ जैसे कि प्रहेलिका बन्ध (पहेली) आदि, जो कि ध्वनिवाद के अनुसार कदापि काव्य नहीं, काव्य-कोटि में स्थान पाने लगेंगे (क्योंकि प्रहेलिकाबन्ध आदि में भी तो वस्तुरूप अर्थ प्रतीत ही हुआ करता है और चमत्कारकारक भी लगा करता है) ! अब यदि इस अड़चन से पिण्ड छुड़ाने के लिये यह कहा जाय कि 'रसभावादिरूप ध्वनि ही केवल काव्य का आत्मतत्त्व है' तब तो यही कहा जायगा कि इसमें हमारा (साहित्यदर्पणकार) का भी ऐकमत्य है (किन्तु तब काव्य लक्षण 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' नहीं हो पायगा जिसमें दो २ सम्भवनायें हों और निरर्थक हो जाय) ।

यदि कोई पूछे कि 'यदि रसभावादिरूप ही ध्वनि काव्य का आत्मतत्त्व हो तो इस रचना अर्थात्—

'अरे रतौंधी वाले बटोही ! आँखें खोल कर दिन में ही देख लो कि यहाँ मेरी सास सोया करती है और यहाँ मैं सोया करती हूँ । ऐसा न कर बैठना कि बिना देखे-भाले मेरी खाट पर ही लेट लगाने लग जाओ ।' को क्योंकर 'काव्य' माना जाय जिसमें केवल वस्तु-मात्र ही ध्वनित हो रहा है (अर्थात् यह प्रतीत हो रहा है कि ऐसा कहने वाली नायिका आगन्तुक पुरुष को अपनी खाट पर ही अपने साथ लेटने का संकेत कर रही है) न कि रसभावादि !, तब इसका समाधान यह रहा कि 'इस रचना को इसलिये काव्य नहीं मान लिया गया कि यहाँ वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है अपि तु इसलिये कि यहाँ भी रसाभास की ही ध्वनि स्पष्ट प्रतीत हो रही है (क्योंकि परपुरुष के साथ किसी नायिका के रतिभाव का प्रकाशन शृंगाररस का आभास नहीं तो और क्या) !, निष्कर्ष यह निकला कि जिस किसी भी शब्दार्थसन्दर्भ को 'काव्य' माना जायगा, रसादिरूप अर्थ के अभिव्यञ्जक होने के ही कारण माना जायगा । क्योंकि यदि वस्तुरूप व्यङ्ग्यार्थ के ही अभिव्यञ्जक होने से कोई शब्दार्थयुगल काव्य होने लगे तब तो यह वाक्य भी जैसे कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' काव्य बन बैठेगा क्योंकि यहाँ भी एक वस्तुरूप व्यङ्ग्य अर्थ जैसे कि 'देवदत्त के पीछे २ उसका नौकर भी चला जा रहा है' निकल ही सकता है ! अब यहाँ यह कह बैठना कि 'देवदत्त गाँव जा रहा है' आदि वाक्य भी काव्य बन जाय तो कोई आपत्ति नहीं, वस्तुतः एक उलटी-पुलटी बात होगी, क्योंकि वही शब्दार्थयुगल काव्य कहे जाने योग्य हो सकता है जो रसमय हो-रसाभिव्यञ्जक हो ।

सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति।

व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—'काव्यस्यात्मनि अङ्गिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' इति। ध्वनिकारेणाप्युक्तम्—'न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि।

ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः, स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद्गौण एव।

तभी तो प्राचीन काव्याचार्यों का यह कथन है कि काव्य का यही उद्देश्य है कि वह कोमल बुद्धिवाले और इसीलिये वेदशास्त्र के अनुशीलन से जी चुराने वाले राजकुमारों और ऐसे ही सुखलिप्त अन्य पुरुषों को, जिनके लिये आचार-व्यवहार का ज्ञान अनिवार्य रूप से अपेक्षित है, पहले तो अपने रसरूप मधुर प्रसाद से लुभा ले और तब 'राम जैसे महापुरुषों के समान आचरण करना चाहिये न कि रावण जैसे नीचों के समान' आदि रूप से धर्म-कर्म के प्रति प्रवर्त्तन और अधर्म-अकर्म से निवर्त्तन के उपदेश दिया करे।

'रसादि रूप व्यङ्ग्य अर्थ के प्रकाशक ही शब्दार्थयुगल काव्य हो सकते हैं (न कि वस्तु और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ के भी) यह एक ऐसी बात है जिसमें साक्षात् अग्निपुराण (३३६. ३३) का यह वचन प्रमाण है—

'काव्य में, चाहे उसमें जितना भी उक्ति-वैचित्र्य झलका करे, रस ही एक मात्र आत्मभूत तत्त्व है।'

इसीलिये तो व्यक्तिविवेककार (आचार्य महिमभट्ट) ने कह रखा है—'जहाँ तक काव्य के जीवन-तत्त्व रसभावादि की बात है, कोई भी काव्याचार्य ऐसा नहीं जो किसी प्रकार का मतभेद रखता हो (यहाँ जो भी मतभेद है वह केवल रसभावादिरूप काव्यात्मतत्त्व की संज्ञाओं जैसे कि 'कार्य', 'अनुमेय' 'भोग', 'व्यङ्ग्य' आदि २ में है न कि इन संज्ञाओं से सूचित 'रसभावादि' रूप काव्यात्मतत्त्व में है।)'

यही क्यों? स्वयं ध्वनिकार (आचार्य आनन्दवर्धन) का यह कथन है और इसी भाँति अन्य भी कथन हैं:—

'कवि का महान् पद (काव्य के) कथा-शरीर मात्र के निर्माण पर किसी को नहीं मिला करता (वह तो वस्तुतः रसानुगुण काव्य-प्रबन्ध-निर्माण पर मिला करता है) क्योंकि कथा-शरीर तो इतिहास आदि में ही बना-बनाया रहता है।'

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है—यदि रसमय वाक्य ही काव्य हो तब किसी काव्य-प्रबन्ध के भीतर जो कतिपय नीरस पद्य-वाक्य हुआ करते हैं वे तो काव्य नहीं हो सकते न? किन्तु इसका यह समाधान होगा—जैसे किसी पद्य-काव्य की रसमयता से उसके भीतर आने वाले कतिपय नीरस पदों में भी सरसता झलका करती है, वैसे ही किसी काव्य-प्रबन्ध की सरसता से उसके भीतर यदि कुछ नीरस भी पद्य-वाक्य प्रयुक्त हों, तो वे भी सरसता ही टपकाने वाले मान लिये जाया करते हैं।

तात्पर्य यह है कि काव्य वस्तुतः वही शब्दार्थ-सन्दर्भ है जो सरस हो, रसभाव का

(वामनकृत काव्य-लक्षण का खण्डन)

यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न; रीतेः संघटनाविशेषत्वात् । संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात् ।

अभिव्यञ्जक हो । कभी २ नीरस भी शब्दार्थ-सन्दर्भ काव्य कह दिये जाया करते हैं किन्तु ऐसा कहना उपचारतः ही होता है न कि मुख्यतः, क्योंकि सरस काव्य-बन्ध की भाँति इनमें भी ऐसा लगा करता है मानो वर्ण-ध्वनियाँ गुणाभिव्यञ्जक हो रही हैं, दोष फटक नहीं पा रहे हैं और अलङ्कारों की भी छटा छिटक रही है ।

विमर्श—ध्वनिकार की काव्यसम्बन्धी जिस मान्यता का यहाँ साहित्यदर्पणकार ने खण्डन किया है उसमें कोई नवीनता नहीं । बात यह है कि व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट को ही सबसे पहले यह सूझी थी कि जो आचार्य 'ध्वनि' को एक साँस में काव्य का आत्मतत्त्व कह डालते हैं—और ध्वनि को काव्यात्मतत्त्व कहने का अभिप्राय होता है वस्तु, अलंकार और रसादि-रूप त्रिविध ध्वनि में काव्यात्मतत्त्व की भावना का—वे 'रस' को क्योंकर काव्यसर्वस्व कह सकते हैं ? अर्थात् 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' (ध्वन्यालोक १-१) यह सिद्धान्त और—

'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥' (ध्वन्यालोक १-५)

यह सिद्धान्त परस्पर विरुद्ध दिशा की ओर जाते प्रतीत होते हैं । ध्वनिमात्र को काव्यात्मतत्त्व मानने पर तो प्रहेलिका-बन्ध भी, जिनमें कुछ न कुछ वस्तुरूप ध्वनि अवश्य ही खींचो-तानी जा सकती है, ध्वनिकाव्य में ही स्थान पाया करेंगे ! वस्तुतः व्यक्तिविवेककार की निम्नाङ्कित उक्ति—

'तदियम् (अनुमेयार्थप्रतिपत्तिः) उपायपरम्परोपारोहनिःसहा न रसास्वादान्तिकमुपगन्तुमलमिति प्रहेलिकाप्रायमेतद् काव्यमित्यतिव्याप्तिः'—(व्यक्तिविवेक, पृष्ठ ८६)
इसी ओर निर्देश कर रही है । किन्तु इस आक्षेप के आशय का समाधान भी पहले का ही किया हुआ है क्योंकि आचार्य अभिनवगुप्त ने ही इस प्रकार के आक्षेप की कल्पना का उत्तर दिया है—

एवं प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' इत्येतावता ध्वनिस्वरूपं व्याख्यातम् । अधुना काव्यात्मत्वमितिहासव्याजेन च दर्शयति-काव्यस्यात्मेति । स एव इति प्रतीयमानमात्रेऽपि प्रक्रान्ते तृतीय एव रसध्वनिरिति मन्तव्यम्, इतिहासबलात् प्रक्रान्तवृत्तिग्रन्थार्थबलाच्च । तेन रस एव वस्तुतः आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रसं पर्यवस्येते इति वाच्यादुत्कृष्टौ तावित्यभिप्रायेण 'ध्वनिः काव्यस्यात्मे'ति सामान्येनोक्तम् ।' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ८४)

इस प्रकार ध्वनिकार के सिद्धान्त की प्राचीन आलोचना-प्रत्यालोचना के इतिहास की इस पुनरावृत्ति में न तो कोई विशेषता ही है और न कोई मौलिकता ही ।

अनुवाद—उपर्युक्त काव्य-स्वरूप-विवेक से यह भी स्पष्ट है कि आचार्य वामन (काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिकार) का यह कथन कि 'रीति (गुणविशिष्ट पदरचना) ही काव्य का आत्मतत्त्व—सारतम पदार्थ—है' कदापि युक्तियुक्त नहीं ।

'रीति' क्या है ? 'रीति' है एक संघटना-विशेष—ऐसी पदरचना जो गुणवती हो । जो भी संघटना हो अथवा जैसी भी संघटना हो उसका यही अभिप्राय है कि वह एक प्रकार का अङ्ग-विन्यास-विशेष है । और जो आत्म-तत्त्व है वह अङ्ग-रचना नहीं—शरीरसंस्थान

(ध्वनिकार-सम्मत काव्यात्मवाद में दोष-दर्शन)

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥' इति ।

अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः–' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम् ।

विशेष नहीं अपि तु उससे सर्वथा विलक्षण वस्तु है । अब जब कि 'रीति' काव्य की अङ्ग-रचना है तो उसे काव्य का आत्मतत्त्व क्यों कर माना जाया करे ।

विमर्श—आचार्य वामन 'रीतिवाद' के प्रवर्त्तक आलङ्कारिक हैं। आचार्य भामह और दण्डी ने भी 'वैदर्भ' और 'गौडीय' मार्गों का उल्लेख किया है (भामह : काव्यालंकार १.३१–३२ तथा दण्डी : काव्यादर्श १.४०) किन्तु इन कवि–कि वा काव्य–मार्गों में काव्यसर्वस्व के स्वरूपचिन्तन की परम्परा रीतिवादी आचार्य वामन से ही प्रारम्भ हुई है। वामन के अनुसार 'रीति' है एक विशेष प्रकार की पद-रचना (**विशिष्टा पदरचना रीतिः**– काव्यालंकार सूत्र १.२.७) है और पद रचना की विशेषता माधुर्यादि गुणों पर निर्भर है। यह गुण-विशिष्ट पदरचना (रीति) ही काव्य की आत्मा है (**रीतिरात्मा काव्यस्य**—काव्यालंकार सूत्र १.२.६) । वामन के इस रीत्यात्मवाद की विशद आलोचना ने रसात्मवाद का मार्ग प्रशस्त कर दिया है । सर्वप्रथम आनन्दवर्धनाचार्य ने ही यह सिद्ध किया है कि 'रीति' को काव्य की आत्मा मानना आत्मतत्त्व के अपरिज्ञान का परिणाम है । ध्वनिवादी आलंकारिकों ने इस विषय को अधिकाधिक स्पष्ट किया है । साहित्यदर्पणकार का रीत्यात्मवाद खण्डन ध्वनिवाद का ही समर्थन है ।

अनुवाद—ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने काव्य के आत्मतत्त्व का दिग्दर्शन तो अवश्य किया–कराया है किन्तु एक स्थान पर ऐसी बात कह दी है, अर्थात्—

'काव्य का वही अर्थ वस्तुतः काव्य का आत्मभूत–सारतम–अर्थ है जिसे सहृदय-हृदय सराहते नहीं थकते । और वह अर्थ ऐसा है जिसके दो भेद स्पष्ट हैं—१ ला–वाच्यरूप अर्थ और २ रा–प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) रूप अर्थ आदि, जिसमें वाच्यरूप अर्थ काव्य का आत्मतत्त्व बना दिखाई दे रहा है और अन्यत्र यह कह रहा है कि 'काव्य का जो आत्मभूत तत्त्व है वह ध्वनि (व्यङ्ग्य रूप अर्थ) ही है ।' अब ये दोनों परस्पर विरुद्ध कथन क्योंकर काव्य-स्वरूप के निरूपण में प्रमाण होने लगे ?

विमर्श—(क) ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने व्यङ्ग्यार्थ की पृष्ठभूमि का स्वरूप बताते हुए लिखा था—

'तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थस्तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
ततो नेह प्रतन्यते ॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगमिति—

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥' (ध्वन्यालोक ४२-४९)

और ऐसा लिखने का उनका यही अभिप्राय था कि काव्य में अर्थ, वाच्य और व्यङ्ग्य-इन दो अंशों अथवा भागों में विभक्त रहा करता है और इन दोनों अर्थ-भागों में वही अर्थ काव्य का सारतम-आत्मभूत-अर्थ माना जाया करता है जो सहृदयहृदयश्लाघ्य हुआ करता है। वस्तुतः ध्वनिकार के इसी आशय का स्पष्टीकरण लोचनकार की इन पंक्तियों में हुआ है—

'तत्र ध्वनिस्वरूपे प्रतीयमानाख्ये निरूपयितव्ये निर्विवादसिद्धवाच्याभिधानं भूमिः। तत्पृष्ठेऽधिकप्रतीयमानांशोल्लिङ्गनात्। वाच्येन समशीर्षिकया गणनं तस्याप्यनपह्नवनीयत्वं प्रतिपादयितुम्।''''''तत्र शब्दस्तावच्छरीरभाग एव सन्निविशते सर्वजनसंवेद्यधर्मत्वात् स्थूलकृशादिवत्। अर्थः पुनः सकलजनसंवेद्यो न भवति। न ह्यर्थमात्रेण काव्यव्यपदेशः, लौकिकवैदिकवाक्येषु तदभावात्। तदाह—सहृदयश्लाघ्य इति। स एक एवार्थो द्विशाखतया विवेकिभिर्विभागबुद्ध्या विभज्यते। तथा हि तुल्येऽर्थरूपत्वे किमिति कस्मैचिदेव सहृदयाः श्लाघन्ते। तद्भवितव्यं तत्र केनचिद् विशेषेण। यो विशेषः स प्रतीयमानभागो विवेकिभिर्विशेषहेतुत्वादात्मेति व्यवस्थाप्यते। वाच्यसंवलनाविमोहितहृदयैस्तु तत्पृथग्भावे विप्रतिपद्यते, चार्वाकैरिवात्मपृथग्भावे। अत एव अर्थ इत्येकतयापक्रम्य सहृदयश्लाघ्य इति विशेषणद्वारा हेतुमभिधायापोद्धारदृशा तस्य द्वौ भेदावंशावित्युक्तम् न तु द्वावप्यात्मानौ काव्यस्येति।''''''तस्येत्यादिना तदभ्युपगम (रसध्वनेर्जीवितत्वाभ्युपगम) एव द्व्यंशत्वे सत्युपपद्यत इति दर्शयति।' (ध्वन्यालोकलोचन पृ० ४२-४६)

जिनका अभिप्राय यह है—'जब तक वाच्य और व्यङ्ग्य का परस्पर भेद न सिद्ध हो जाय तब तक यह कैसे पता चले कि काव्य का आत्मभूत अर्थतत्त्व क्या है? काव्य के अर्थ को द्विरूप अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्यरूप कहना भी आवश्यक है क्योंकि निर्विवाद सिद्ध वाच्य की भाँति व्यङ्ग्य भी निर्विवाद सिद्ध ही अर्थ है। इन दोनों निर्विवादसिद्ध अर्थों में वे लोग तो शरीर-शरीरिभाव का दर्शन करने से रहे जिन्हें वाच्यार्थ के मायाजाल ने घेर रखा है किन्तु जो काव्यतत्त्वज्ञानी हैं उन्हें तो यह स्पष्ट पता चला करता है कि वाच्यरूप अर्थ शरीरवत् हैं जिसमें व्यङ्ग्यार्थरूप आत्मतत्त्व अन्तर्व्याप्त रहा करता है।'

यह सब होते हुए भी विश्वनाथ कविराज का यहाँ 'दोष-दर्शन' एक दुराग्रह के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

(ख) वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने यहाँ खण्डन की शिक्षा व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट से ली है। महिमभट्ट का भी यहाँ यही आक्षेप था—

'केवलमत्रैवार्थस्योभयात्मनः सामान्येन यः काव्यात्मत्वेन व्यपदेशः सोऽनुपपन्नः। स हि प्रतीयमानार्थैकविषयो युक्तः, तस्यैव काव्यजीवितभूतस्य प्रधानतया ध्वनित्वेनेष्टत्वात्, यत् स एवाह—काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति। काव्यस्यात्मा स एवार्थ इति। प्रतीयमाना त्वन्यैव भूषा लज्जेव योषित इति च। तेन 'यः काव्यस्य व्यवस्थितः' इति तत्रोचितः पाठः।' (व्यक्तिविवेक १ म विमर्श)

किन्तु यह आक्षेप भी 'शङ्कितपददूषणप्रपञ्च' होने के कारण 'निरुत्थान' ही है जैसा कि व्यक्तिविवेकव्याख्याकार आचार्य रुय्यक ने सिद्ध किया है क्योंकि जो बात ध्वनिकार के मत में नहीं उसका खण्डन निष्प्रयोजन नहीं तो और क्या है?

(स्व-सम्मत काव्यस्वरूप)

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते—

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य। तेन विना तस्य काव्यत्वानङ्गीकारात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्ति-योगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

अनुवाद—काव्य-स्वरूप के सम्बन्ध में आलङ्कारिकों के इस मति-भ्रम के निवारण के लिये अब यह बताना आवश्यक है कि काव्य क्या है ?

काव्य क्या है ? 'वाक्य वह वाक्य है जो रसात्मक हो।'

रस क्या है ? इसका निरूपण तो आगे (तृतीय परिच्छेद में) किया ही जायगा। यहाँ 'रसात्मक' वाक्य का अभिप्राय बता देना उचित है। 'रसात्मक' वाक्य उस वाक्य को कहते हैं जिसका आत्मतत्त्व 'रस' हुआ करता है। अथवा जिसे जीवित-जागृत रखने वाला एकमात्र सारतम तत्त्व 'रस' है। 'रस' के विना कोई भी वाक्य काव्य नहीं हो सकता—यह ऐसी बात है जो पहले ही बता दी जा चुकी है। यहाँ 'रस' का अभिप्राय केवल (श्रृङ्गारादि) रस नहीं अपि तु वह है जो आस्वादविषय हो' इस 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर जो भी सहृदयों के आस्वाद के विषय हुआ करते हैं जैसे कि भाव, रसाभास और भावाभास आदि २ वे सभी यहाँ विवक्षित और समुचित हैं।

विमर्श—(क) आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण की समीक्षा से ही विश्वनाथ कविराज को 'रसात्मक वाक्य काव्य है' यह काव्यदृष्टि मिली है। जैसा हम देख चुके हैं आचार्य मम्मट के काव्य-लक्षण के खण्डन में साहित्यदर्पणकार ने कोई नया काव्य-सिद्धान्त नहीं ढूँढा है। काव्यप्रकाश-कार का काव्यलक्षण तो ध्वनिवाद की दृष्टि से काव्य के स्वरूप का ऐसा निर्वचन है जिसमें एक ओर तो अन्य आलंकारिक-वादों की विचारधाराओं का सामञ्जस्य स्थापित हो गया है और दूसरी ओर संस्कृत के समस्त काव्य-साहित्य की विशेषताओं का समावेश भी स्वभावतः दिखाई दे रहा है। किन्तु साहित्यदर्पणकार का काव्यलक्षण एकमात्र रसध्वनि-काव्य का ही चिन्तन-मन्त्र है। 'रसगङ्गाधर' के महासाधक पण्डितराज जगन्नाथ ने तभी तो यह कहा है—

'यत्तु रसवदेव काव्यम् इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम्, तन्न। वस्त्वलङ्कारप्रधानानां काव्यानामकाव्यत्वापत्तेः। न चेष्टापत्तिः। महाकविसम्प्रदायस्याकुलीभावप्रसङ्गात्। तथा च जलप्रवाहवेगनिपतनोत्पतनभ्रमणानि कविभिर्वर्णितानि। कपिबालादिविलसितानि च। न च तत्रापि यथाकथञ्चित् परम्परया रसस्पर्शोऽस्त्येवेति वाच्यम्। ईदृशरसस्पर्शस्य 'गौश्चलति' 'मृगो धावति' इत्यादावतिप्रसक्तत्वेनाप्रयोजकत्वात्। अर्थमात्रस्य विभावानु-भावव्यभिचार्यन्यतमत्वादिति दिक्।' (रसगङ्गाधर पृ. ७८)

अर्थात् साहित्यदर्पण का यह निर्णय कि 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है' सर्वथा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। बात यह है कि यदि रस-प्रधान रचना में ही काव्य हो तब वस्तु किं वा अलंकार-प्रधान रचनाओं की क्या गति होगी ? भला यह कैसे कहा जाय कि वस्तु किं वा अलंकारप्रधान रचनायें काव्य ही नहीं हुआ करतीं ! संस्कृत का काव्य-साहित्य वस्तु किंवा अलंकारप्रधान,

रचनाओं से भरा पड़ा है। संस्कृत के बड़े-बड़े कवियों ने परम्परा से ऐसी रचनाओं में सफलता पायी है और संस्कृत के काव्य-भण्डार को अक्षय बनाया है। प्रकृति के भीम और रम्य दृश्यों का वर्णन क्या काव्य नहीं? पशु-पक्षियों और बालक-बालिकाओं की लीलाओं का स्वभावरम्य चित्रण क्या काव्य नहीं? यदि इस आपत्ति से बचने के लिए साहित्यदर्पणकार ने यह कहा कि वस्तु अथवा अलंकारप्रधान रचनायें भी काव्य-कोटि में आ जायेंगी क्योंकि इनमें भी परम्परया रसात्मकता मान ली जायगी तब तो इससे यही अन्त में सिद्ध हुआ कि **'गौश्चलति', 'मृगो धावति'** आदि वाक्य भी काव्य बन गये क्योंकि यहाँ भी किसी प्रकार रस की फुहार पड़ती देख ली जायगी? ऐसा भी क्या काव्यलक्षण जिसमें लक्ष्य का कोई स्वरूप ही न निर्धारित हो?

(ख) 'रसात्मक वाक्य काव्य है'—यह काव्यलक्षण लक्षणकार विश्वनाथ-कविराज के 'साहित्यदर्पण' में अविकलरूप से प्रतिफलित होता नहीं प्रतीत होता। आचार्य मम्मट ने एक विशिष्ट प्रकार के शब्द और अर्थ—शब्दार्थयुगल—को काव्य कहा है। इस विचारस्रोत के क्रमिक प्रवाह में काव्यप्रकार, शब्दार्थस्वरूप, दोषदर्शन, गुणवर्णन, अलंकारयोजना आदि-आदि विषयों की धारायें स्वभावतः प्रवाहित होती दिखायी दिया करती है। किन्तु रसात्मक वाक्यरूप काव्यवाद के प्रवर्त्तक आचार्य का विचारस्रोत 'वाक्य' की भाषाशास्त्रसम्मत व्याख्या में ही विच्छिन्न हो जाता है। यह तो ठीक है कि योग्यता–आकांक्षा–आसत्तियुक्त पदोच्चय ही 'वाक्य' है और ऐसा 'वाक्योच्चय' ही महावाक्य है। किन्तु ऐसे वाक्य और ऐसे महावाक्य तो प्रतिदिन के जीवन में व्यवहृत हुआ करते हैं। इन्हें तो 'काव्य' कहा नहीं गया! और जबतक आकांक्षा और योग्यता और आसत्ति को 'रसाभिव्यञ्जनात्मकता' की विशेषता से विशिष्ट न किया जाय तबतक **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की परिभाषा क्योंकर परिष्कार की ओर बढ़ने लगी? पता यही चलता है कि पहले 'वाक्य' और बाद में वाक्य की 'रसात्मकता' की ही बात साहित्य-दर्पणकार को कहनी है। यही बात तो **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'** इस काव्यलक्षणविधायक आचार्य ने कही थी! किन्तु साहित्यदर्पणकार ने इसे न माना। अब मानना तो कठिन है। किन्तु बिना माने काम भी नहीं चलता। 'निर्दुष्ट, गुणयुक्त तथा अलंकृत (किंवा यथासंभव अनलंकृत भी) शब्दार्थयुगल काव्य है'—इस कथन में रसात्मक वाक्यरूप काव्य की रचना-प्रक्रिया पर तो प्रकाश अवश्य पड़ रहा है किन्तु **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** इस उक्ति में काव्य का रहस्य अनिर्भिन्न-सा ही रह जाता है। वस्तुतः महामहोपाध्याय डाक्टर काणे ने इसीलिये कहा है:—

The definitions of a few writers, particularly early ones, treat शब्द and अर्थ as equally prominent, while others give more prominence to शब्द, some give a definition of काव्य which is more difficult than the thing to be deffined (such as that of विश्वनाथ (**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**) ।

— History of Sanskrit Poetics, पृष्ठ ३३८।

अर्थात् 'प्राचीन आलंकारिकों में अधिक संख्या उनकी है जो काव्य में शब्द और अर्थ का समान महत्त्व माना करते हैं, कुछ ऐसे भी हैं जो अर्थ की अपेक्षा शब्द का ही काव्य में प्राधान्य स्वीकार करते हैं किन्तु एक-आध आचार्यों ने काव्य की ऐसी परिभाषा की है जैसे कि विश्वनाथ कविराज ने ही, जिसके देखने से यही प्रतीत होता है कि काव्य क्या है? यह समझना तो सरल है किन्तु काव्य की परिभाषा क्या कह रही है? यह समझना असंभव है।'

(ग) **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** का अर्थ क्या? कवि की दृष्टि से तो 'रसात्मक वाक्य' का अभिप्राय एकमात्र 'विभावादि–योजनात्मक वाक्य' ही हो सकता है। इस प्रकार जब अन्ततो गत्वा

'रसात्मक' का अभिप्राय 'विभावादियोजनात्मक' ही हुआ तो सीधे इसे ऐसा न कहकर बुझौवल बुझाने का क्या तात्पर्य ? यदि काव्य की परिभाषा हो–'**विभावादियोजनात्मकं वाक्यं काव्यम्**' तब तो यह निर्विवाद सिद्ध है कि सहृदय यहाँ 'रसात्मक वाक्य' का निगूढार्थ समझ लेंगे। व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट ने वस्तुतः 'विभावादियोजनात्मक वाक्य' को ही काव्य माना था—

'**अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात्, तस्य रसात्मकत्वोपगमात्।**

यतः स एवाह—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

न च तस्य विशेषः संभवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात्तस्य।

यदाहुः—

पाठ्यादथ ध्रुवागानात्ततः संपूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्॥
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः।
व्यज्यते ह्लादनिष्यन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः।

इति। तदभावे चास्य काव्यतैव न स्यात् किमुत विशेष इति अनारम्भणीयमेवैतत् प्रेक्षावतां स्याद् वैफल्यात्।

कविव्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। ....काव्यारम्भस्य साफल्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनत्वात्तेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमभ्युपगन्तव्यम्। तन्मात्रप्रयुक्तश्च ध्वनिव्यपदेशः॥'

(व्यक्तिविवेक पृ. ९२–९७)

अर्थात् वस्तुतः जिसे भी काव्य कहते हैं वह रसात्मक ही हुआ करता है। ऐसी कोई भी रचना जो रसात्मक न हो काव्य नहीं कही जा सकती। 'रसात्मक रचना', 'काव्य', 'ध्वनि'–ये सभी शब्द एक ही ओर निर्देश करते हैं। सहृदय सामाजिक की यह काव्य-दृष्टि कवि की ही देन है क्योंकि कवि का ही कर्म तो काव्य है–कवेः कर्म काव्यम्। यह कविकर्म क्या है ? यह कविकर्म है विभावादिसंयोजनात्मक शब्दार्थरचना। जो भी शब्दार्थरचना विभावादिसंयोजनरूप रचना होगी वह नियमतः रसाभिव्यञ्जक होगी–रसात्मक होगी।' उपर्युक्त अनुमितिवादी काव्यमत के देखते यही प्रतीत होता है कि अभिव्यक्तिवादी कविराज विश्वनाथ ने 'विभावादियोजनात्मक वाक्य' को ही वस्तुतः काव्य माना है। किन्तु व्यक्तिविवेककार से भेद प्रदर्शित करने के लिये इसे उनके शब्दों में न कहकर अपने शब्दों में प्रकट किया है–**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।** व्यक्तिविवेककार को तो ध्वनिदार्शनिक आनन्दवर्धन के '**काव्यविशेषः ध्वनिः**'–इस कथन का खण्डन करना था और यह बताना था कि 'काव्यसामान्य ध्वनि है'। और काव्यसामान्य क्या है ? काव्यसामान्य है रसात्मक रचना। यह रसात्मक रचना क्या है ? यह है विभावादिसंयोजनात्मक शब्दार्थसंघटना ! किन्तु विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्यमत के खण्डन में वह तत्त्व खोज लिया जो महिमभट्ट ने ध्वनिकार के शब्द-प्रयोग (**काव्यविशेषः ध्वनिः**) के समीक्षण में खोजा था।

(काव्य-रसात्मकवाक्य-के निदर्शन)

तत्र रसो यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।

भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्—

(घ) जब कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' का निष्कर्ष **'विभावादिसंयोजनात्मकं वाक्यं काव्यम्'** है और 'विभावादिसंयोजनात्मक वाक्य' की रचना निर्दुष्ट गुणाभिव्यञ्जक किंवा रसभावाभिव्यक्ति की दृष्टि से अलंकृत अथवा निरलंकृत शब्दार्थसंदर्भ है तब तो यही सिद्ध है कि मम्मट का काव्यमत ही नये परिधान में साहित्यदर्पणकार का काव्यमत बना दिखायी पड़ रहा है। मम्मट ने बहुत कुछ सोचविचार कर **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** यह काव्य-परिभाषा न बनायी थी। विश्वनाथ कविराज ने व्यक्तिविवेककार का नामोल्लेख किये बिना ही उनकी विचारधारा का अनुसरण करते ध्वनिवादी आचार्यों की काव्य-परिभाषा का खण्डन किया किन्तु अन्त में जो निष्कर्ष निकला उससे 'रसध्वनिदर्पण' की रचना भले ही समञ्जस हुई होती 'साहित्यदर्पण' का निर्माण तो कदाचित् असमञ्जस सा ही लग रहा है।

(ङ) चाहे जो कुछ भी हो, विश्वनाथ कविराज की काव्य-परिभाषा अलंकारशास्त्र में अपना स्थान रखती है। विश्वनाथ कविराज की चिन्तनधारा ने पण्डितराज जगन्नाथ के विचारसागर को प्रभावित किया है। **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** की मान्यताओं के अनुसन्धान में ही **'रमणीयार्थ-प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'** का रसगङ्गाधर-सिद्धान्त निकलता है। विश्वनाथ कविराज नवीनता के पुजारी हैं! कविता सरस्वती को जैसे 'काव्यप्रकाश' की आवश्यकता है वैसे ही 'साहित्यदर्पण' की भी। 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' में भले ही कुछ मनमुटाव हो किन्तु, वाग्देवी के समक्ष तो दोनों का समान ही मान है और दोनों में समान ही भाव और स्फूर्ति है।

अनुवाद—**जैसे कि यह (प्राचीन) सूक्ति जिसमें 'रस' ही सारतम तत्व है—**

'नवोढा सुन्दरी ने देखा कि शयनगृह से और सभी लोग जा चुके हैं, वह अपनी सेज से कुछ कुछ धीरे-धीरे उठी, उसने नींद का बहाना बनाये सोने वाले अपने प्रियतम का मुँह बड़े ध्यान से देखा, उसे सचमुच सोया समझ कर निश्चिन्तता के साथ, उसका मुख-चुम्बन कर लिया और जैसे ही उसके कपोलों पर आनन्द का रोमाञ्च देखती वह लज्जा से अपना मुँह झुकाये खड़ी हुई कि उसने (प्रियतम ने) हँस-हँसकर, बड़ी देर तक, उस पर चुम्बनों की बौछार शुरू कर दी।'

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें इसका जीवनाधायक संभोगशृङ्गार रस साक्षात् विराजमान है।

अथवा

सान्धिविग्रहिक महापात्र श्री राघवानन्द कविराज की यह सूक्ति, जिसमें 'भाव' की जीवनाधायकता स्पष्ट है—

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः पृष्ठे जगन्मण्डलं,
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी।
क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं; कस्मैचिदस्मै नमः॥

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः।

रसाभासो यथा—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण चस्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥

अत्र सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः। एवमन्यत्।

'उस अवाङ्मनसगोचर तत्व को शतशत प्रणाम जिसके (मत्स्यावतार रूप में) शल्क (छिल्के) की किसी कोर में अपार पारावार छिप गया, जिसके (कूर्मावतार रूप में) पृष्ठ पर समस्त ब्रह्माण्ड का भार सम्हल गया, जिसकी (वराह मूर्ति में) दाढ़ों पर धरती की लाज बच गयी, जिसके (नृसिंहावतार रूप में) नख में दानवराज हिरण्यकशिपु का सर्वस्व लुप्त हो गया, जिसके (वामन रूप में) पग में द्यावापृथिवी (आकाश और धरती) नप गये, जिसके (परशुराम रूप में) क्रोध में समस्त क्षत्रगण (क्षत्रिय जाति के लोग) भस्मीभूत हो गये, जिसके (रामावतार रूप में) बाण में दशानन रावण का लोप हो गया, जिसके (कृष्णावतार रूप में) हाथ में प्रलम्बासुर प्रलीन हो गया जिसके (बुद्धावतार रूप में) ध्यान में भूत-भौतिक किंवा चित्त-चैतसिक समस्त जगत विलीन हो गया और जिसके (कल्कि रूप में) खड्ग में अधर्मी लोग लुप्त हो गये।'

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसका सारभूत तत्व इसमें अभिव्यक्त भगवद्विषयक (कविनिष्ठ) रतिभाव है।

अथवा

यह सूक्ति जिसमें 'रसाभास' का अनुप्राणन सर्वसंवेद्य है—

'स्मरबान्धव वसन्त का आगमन क्या हुआ एक ओर तो प्रेमातुर भ्रमर ने, पुष्प-चषक में, प्रियतमा भ्रमरी को, पुष्परस की मदिरा पिलानी शुरू की और स्वयं उच्छिष्ट मदिरा को प्रेम से पीने लगा और दूसरी ओर कामातुर कृष्णसार मृग अपनी प्रियतमा मृगी से आ सटा और आनन्दमें आँखें मीचे खड़ी उसे सींगोंसे खुजलाते प्रेम करने लगा!

यहाँ जो वाक्य है वह 'काव्य' है क्योंकि इसमें प्रेमी पक्षियुगल किंवा पशुयुगल के हृदय का रतिभाव अभिव्यक्त हो रहा है। इसी भाँति अन्यान्य रस और भाव और उन दोनों के आभासों से अनुप्राणित जो वाक्य हों उन्हें भी 'काव्य' मानना चाहिये।

विमर्श—(क) 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'-इस काव्यलक्षण में विश्वनाथ कविराज ने 'रस' का व्यापक अभिप्राय स्वीकार किया है और ऐसा करना उचित ही है। वस्तुतः इसी दृष्टि से उन्होंने आगे (तृतीय परिच्छेद में) स्पष्ट कहा है—

(दोष-स्वरूप का संकेत)

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपा ? इत्युच्यन्ते—

(रसात्मक वाक्यरूप काव्य और उसके अपकर्षकारक दोष का सम्बन्ध)

दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव, साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते। एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः।

'रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥

अर्थात् रस और भाव, रसाभास और भावाभास, भावोदय और भावप्रशम, भावसन्धि और भावशबलता—ये सभी के सभी 'रस' ही हैं क्योंकि इन सबमें आस्वाद अथवा आनन्दानुभव सहृदय संवेद्य है।'

(ख) 'शून्यं वासगृहम्' आदि काव्यसूक्ति अमरुशतक की एक परममधुर सूक्ति है। इसमें महाकवि ने नवोढा नायिका के अभिनव समागम का वर्णन किया है। इस वर्णन में संभोगश्रृङ्गार प्रवाहित हो रहा है। नवोढा नायिका की रति का यहाँ अत्यन्त सुन्दर अभिव्यञ्जन है। रति-मन्दिर के सूनापन, व्याजसुप्त नायक के कपोलचुम्बन किंवा लज्जावश नायिका के मुख के अवनत हो जाने के वर्णन में रति के उद्दीपन विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव की संयोजना बड़ी स्वाभाविकता किंवा रोचकता से की गयी दिखायी दे रही है। अमरुशतक ऐसी सूक्तियों का खजाना है। तभी तो रसध्वनितत्त्वदर्शी आचार्य आनन्दवर्धन ने अमरुशतक को 'मुक्तक' होते हुये भी श्रृङ्गाररस का 'महाकाव्य' कहा है।

अनुवाद—जिस 'रसात्मक वाक्य' को काव्य कहा गया है उसकी अपकृष्टता जिनके द्वारा हुआ करती है वे ही (काव्य के) दोष कहे जाते हैं।

दोष वस्तुतः वे हैं जो रसात्मक वाक्यरूप काव्य की उत्कृष्टता (अथवा सुन्दरता) के विघातक हुआ करते हैं। इन दोषों में ये दोष जैसे कि श्रुतिकटुत्व, अपुष्टार्थत्व आदि तो ऐसे हुआ करते हैं जो मानव-शरीर की उत्कृष्टता के विघातक काणत्व (कानेपन), खञ्जत्व (लङ्गड़ेपन) आदि की भांति काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ की उत्कृष्टता के विघातक होते हुये (अर्थात् परम्परया न कि साक्षात्) काव्य के रसादिरूप आत्मतत्त्व के अपकर्षकारक हुआ करते हैं और कुछ ऐसे भी हुआ करते हैं जिन्हें रस-दोष कहा करते हैं जैसे कि निर्वेदादि व्यभिचारिभावों का, उनके वाचक शब्दों से अभिधान आदि जो मूर्खत्व आदि दोषों की भांति रसादिरूप काव्यात्मतत्त्व के साक्षात् (न कि परम्परया) अपकर्षजनक बना करते हैं। रसात्मकवाक्य के साक्षात् अथवा परम्परया अपकर्षकारक इन दोषों के अपने-अपने उदाहरण तो आगे यथावसर दिये ही जायेंगे।

विमर्श—'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इस काव्य-लक्षण के साथ जबतक 'दोषास्तस्यापकर्षकाः' तथा 'उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः गुणालङ्काररीतयः' की कड़ी न जोड़ी जाय तब तक 'साहित्यदर्पण' की विशद रचना का सूत्र नहीं मिल सकता। इसीलिये वस्तुतः विश्वनाथ कविराज ने काव्यलक्षणवाक्य में ही इन्हें भी जोड़ दिया है। किन्तु एक बात यहाँ खटकती है और वह

(गुण–अलङ्कार और रीति–स्वरूप : एक संकेत)

गुणादयः किंस्वरूपा इत्युच्यन्ते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥ ३ ॥

(काव्यात्मभूत 'रस' और गुण–अलङ्कार—रीतितत्त्व : परस्पर सम्बन्ध)

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थान-विशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि गुणशब्दोऽत्र गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते। अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्क-

---

यह है कि जब 'रसात्मकवाक्य' बन गया और वह 'काव्य' हो गया तब गुण, अलंकार और रीति के द्वारा उसका उत्कर्षवर्धन होने पर वह 'काव्यविशेष' क्यों न कहा गया ? मम्मट का काव्यप्रकाश तो उनके काव्यलक्षणवाक्य की ही पूर्वापर–अनुस्यूत महाव्याख्या है—इस धारणा से ही विश्वनाथ कविराज ने अपना भी काव्यलक्षणवाक्य रचा था और इसी विश्वास से रचा था जिसमें साहित्य-दर्पण की रूपरेखा उसीमें (लक्षणवाक्य में) झलक जाय। किन्तु कुछ चूक अवश्य हो गयी है। 'रसात्मक वाक्य' के बन जाने पर और उसके काव्यरूप में प्रतिष्ठित हो जाने पर 'दोष' उसका क्या करेंगे ? 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' कह कर 'दोषास्तस्यापकर्षकाः' कहने का कोई विशेष प्रयोजन नहीं प्रतीत होता !

अनुवाद—अब काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक जो तत्त्व हैं जैसे कि गुण आदि, उनका स्वरूप बता देना आवश्यक है—

गुण, अलङ्कार और रीति वे काव्यतत्त्व हैं जो रसात्मक वाक्य-रूप काव्य की उत्कृष्टता के कारण हुआ करते हैं।

काव्यात्मभूत रस के उत्कर्षकारक तत्त्व ही रसात्मक वाक्य-रूप काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हुआ करते हैं। ये ही वे तत्त्व हैं जिन्हें गुण, अलङ्कार और रीति कहा करते हैं। इनमें माधुर्य आदि गुण, अनुप्रास-उपमादि अलङ्कार और वैदर्भी आदि रीति-तत्त्व काव्य के शरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होते हुये उसी प्रकार काव्य के आत्मभूत रस के उत्कर्षकारक माने जाया करते हैं जिस प्रकार शौर्य आदि गुण, कटक-कुण्डलादि अलङ्कार और अवयव-विन्यास आदि शरीर-संस्थान मानवशरीर के उत्कर्षक होते हुये मानव-व्यक्तित्व के उत्कर्षक माने जाया करते हैं।

यहाँ गुणों के काव्यशरीरभूत शब्द और अर्थ के उत्कर्षकारक होने में एक विशेष बात है और वह यह है—वस्तुतः तो माधुर्य आदि गुण रस-रूप काव्यात्मतत्त्व के धर्म हैं किन्तु उपचारतः इन्हें काव्य-शरीरभूत शब्द और अर्थ का भी धर्म माना जा सकता है क्योंकि रस के अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रसधर्मभूत गुण के भी अभिव्यञ्जक हुआ ही करते हैं। इस प्रकार गुण के रसोत्कर्षकारक कहे जाने का अभिप्राय गुणाभि-व्यञ्जक शब्द और अर्थ का रसोत्कर्षकारक कहा जाना है जैसा कि पहले भी (अर्थात् मम्मटकृत काव्य-लक्षण की समीक्षा के प्रसङ्ग में) कहा ही जा चुका है। इन रसोत्कर्षक

षेकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेवोक्तम् । एषामपि विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः ।

इति साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः ।

अत्र मूलकारिकाः = ३ । उदाहरणश्लोकाः = ६ ।



गुणों, अलङ्कारों और रीतियों के सोदाहरण निरूपण आगे यथावसर किये ही जायेंगे।

विमर्श—(क) गुण, अलंकार और रीति–ये काव्य के उत्कर्षकारक तत्त्व हैं–यह बात 'रसात्मक वाक्य' रूप काव्यवादी आचार्य के मुख से शोभा नहीं देती। गुण और अलंकार का साम्यवाद तो ध्वनिवाद के पूर्ववर्ती आलंकारियों का काव्यवाद है और अलंकारसर्वस्वकार आचार्य रुय्यक ने इसका स्पष्ट संकेत भी किया है। यहाँ रसात्मक वाक्यरूप काव्य के उत्कर्षाधायक तत्त्वों में अलंकारों के साथ गुणों की गणना रसध्वनिवादी आचार्य के लिये कुछ उलटी सी बात लगती है। साथ ही साथ ध्वनिवाद में गुण और रीति का सामञ्जस्य स्थापित किया हुआ है। यहाँ गुण के अतिरिक्त रीति का परिगणन इस बात की सूचना देता है कि गुण और रीति परस्पर पृथक्-पृथक् तत्त्व हैं!

(ख) ध्वनिवादी आलंकारिक रीति को 'रसाभिव्यञ्जक' तत्त्व माना करते हैं न कि 'रसोत्कर्षक' तत्त्व। विश्वनाथ कविराज के अनुसार जब कि 'रसात्मक वाक्य' काव्य है और रीति 'रसोत्कर्ष-कारक' तत्त्व है तब क्या ऐसा तो नहीं कि 'रसात्मक वाक्य' की रचना के हो चुकने पर 'रीति' आया करती है और उस रचना पर उत्कर्ष का पानी चढ़ा जाया करती है? यह सब तो ऊटपटाँग सी बात हुई! आचार्य मम्मट ने गुणों को रसरूप आत्मतत्त्व के साथ 'अचलस्थिति' रहकर उत्कर्षकारक माना और अलंकारों को रसरूप आत्मतत्त्व के साथ 'चलस्थिति' देखकर गुणों और अलंकारों का प्रविभाग सिद्ध किया। किन्तु आचार्य विश्वनाथ कविराज का मम्मट-खण्डन-संरम्भ कुछ ऐसा उग्र हो उठा कि गुण और अलंकार एक ही कक्षा में रख दिये गये और गुण और रीति दो पृथक्-पृथक् तत्त्व के रूप में प्रतीत होने लगे! अस्तु, इस विषय का विचारविमर्श तो यथास्थान होगा ही। यहां इतना ही सही।

इति साहित्यदर्पणे······काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।



द्वितीयः परिच्छेदः

(वाक्य-विचार)

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

(वाक्यरूप पदसमूह की विशेषता-योग्यता आदि)

योग्यता पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः। पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात्। आकाङ्क्षा प्रतीतिपर्यवसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादीनामपि वाक्यत्वं स्यात्। आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि

अनुवाद—('वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'-इस काव्य-लक्षण की प्रतिपद परीक्षा की दृष्टि से, सर्वप्रथम) अब 'वाक्य क्या है ?' इसका विचार किया जा रहा है—

'वाक्य' ऐसे पदों का समूह है जिसमें योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्ति का रहना अनिवार्य है।

वाक्यरूप पदसमूह की विशेषताओं में 'योग्यता' यह विशेषता है जिसे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध में किसी बाध अथवा विरोध (अनुपपत्ति) का अभाव कहा जाता है। यदि इस विशेषता के अभाव में भी पदसमूह 'वाक्य' होने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'वह्निना सिञ्चति' (आग से सींच रहा है) आदि (जहाँ आग और सींचना इन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में विरोध ही सर्वानुभवसिद्ध है) वाक्य बनने लगेंगे ! वाक्यरूप पदोच्चय की दूसरी विशेषता है 'आकाङ्क्षा' अर्थात् एक-एक पदों के अर्थ की प्रतीति में भी अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का अभाव एक पदार्थ की प्रतीति में अभिप्रेत-प्रतीति की समाप्ति का जो अभाव है वह वस्तुतः श्रोता की एक जिज्ञासा है जो कि एक पद से अन्वित दूसरे पद को ढूँढ़ा करती है क्योंकि यदि परस्पर निराकाङ्क्ष अर्थ वाले भी पदसमूह वाक्य माने जाने लगे तब तो ऐसे भी पदसमूह जैसे कि 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' (गौ, अश्व, पुरुष, हाथी) आदि (जहाँ किसी भी पद का अर्थ किसी दूसरे पद के अर्थ की आकाङ्क्षा रखता नहीं प्रतीत हो रहा और प्रत्येक पद पूर्णतया अपने आप में ही समाप्त है) वाक्य होने लगेंगे ! वाक्यरूप पदकदम्ब की तीसरी जो विशेषता है वह 'आसक्ति' है। आसत्ति क्या है ? 'आसत्ति' है किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की अविच्छिन्न अथवा अव्यवहित उपस्थिति। यदि किसी अभिप्राय के उपस्थापक पदार्थों की विच्छिन्न अथवा व्यवहित उपस्थिति में भी कोई पदोच्चय वाक्य कहा जाने लगे तब तो अभी बोले गये 'देवदत्तः' (देवदत्त) पद और दूसरे दिन बोले गये 'गच्छति' (जाता है) पद का मिलाव भी वाक्य ही बनने लगे !

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'आकाङ्क्षा' और 'योग्यता' तो वाक्यरूप पदोच्चय अथवा पदसमूह का जो धर्म बताया गया है वह मुख्यरूप से नहीं अपितु औपचारिक रूप से ही बताया गया है। क्यों ? इसलिये कि 'आकाङ्क्षा'। अथवा एक पद से अन्वित होनेवाले दूसरे पद के ज्ञान की स्वाभाविक इच्छा तो वस्तुतः श्रोता का धर्म है न कि पद का। इसी प्रकार 'योग्यता' भी पद-धर्म नहीं किन्तु पदार्थ-धर्म ही है क्योंकि

वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपाचारात्।

उपपत्ति का सद्भाव अथवा असद्भाव पदों से नहीं अपितु पदार्थों से सम्बद्ध रह सकता है। किन्तु जब कि उपचार का आश्रय लिया जाय तब तो यह कहा ही जा सकता है कि आकाङ्क्षा और योग्यता वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म हैं। 'आकाङ्क्षा' तो इसलिये वाक्यरूप पदोच्चय धर्म है क्योंकि आकाङ्क्षा और पदोच्चय में परम्परया जन्य-जनकभाव सम्बन्ध रहा करता है (अर्थात् 'आकाङ्क्षा' और 'वाक्यार्थ' और वाक्यार्थ 'पदोच्चय' में जब साक्षात् जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है तब आकाङ्क्षा और पदोच्चय में तो यह परम्परया रहेगी ही)। इसी प्रकार 'योग्यता' को वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म इसलिये माना जाया करता है क्योंकि 'योग्यता' और 'पदार्थ' तथा 'पदार्थ' और 'पदोच्चय' में जब साक्षात् आश्रयाश्रयिभाव सम्बन्ध है तब 'योग्यता' और 'पदोच्चय' में तो इसे परम्परया मानना ही चाहिये।

विमर्श—(क) 'रसात्मक वाक्य 'काव्य' है'—इस काव्य-परिभाषा के समीक्षण में विश्वनाथ कविराज ने 'वाक्य' का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया है वह पदवाक्यप्रमाणवित् आचार्यों द्वारा प्रमाणित है। 'अभिधित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पदों का सन्दर्भ वाक्य है'–राजशेखर–काव्यमीमांसा। (**पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः संदर्भो वाक्यम्**) यह वाक्य का एक सरल स्वरूप–निरूपण है। पदों के द्वारा अभिधित्सित (जिसके प्रतिपादन की इच्छा हो, ऐसे) अर्थ का गुम्फन किन-किन बातों की अपेक्षा किया करता है—यह विचार मनोविज्ञान और तर्क और भाषाविज्ञान–तीनों का विषय है। मनोविज्ञान की दृष्टि 'आकाङ्क्षा'–तत्त्व का दर्शन करती है, तर्क के द्वारा 'योग्यता' का निर्धारण होता है और भाषाविज्ञान 'आसत्ति' की उपादेयता पर जोर देता है। इस प्रकार 'आकाङ्क्षा', 'योग्यता' और 'आसत्ति' की विशेषतायें ही अभिधित्सित अर्थ के गुम्फन करने वाले पद-संदर्भ की विशेषताओं के रूप में स्वीकार की गयी है।

(ख) 'आकाङ्क्षा', 'योग्यता' और 'आसत्ति'-ये तीनों ही उपचारतः वाक्यरूप पदोच्चय-धर्म माने जाया करते हैं किन्तु यदि मीमांसक 'आकाङ्क्षा' को प्रथम स्थान देते है तो नैयायिक 'योग्यता' को और वैयाकरण 'आसत्ति' को। विश्वनाथ कविराज ने नैयायिक मान्यता का अनुसरण करते हुए 'योग्यता' का प्राथम्य माना है। 'योग्यता' क्या है? योग्यता है–एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध—'**एकपदार्थेऽपरपदार्थसम्बन्धो योग्यता**' (सिद्धान्त-मुक्तावली : शब्दखण्ड का० ८३) अथवा 'योग्यता' वह धर्म है जिसके द्वारा एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ के साथ अन्वय (सम्बन्ध) सम्भव है—'**योग्यता परस्परान्वयप्रयोजकधर्मवत्त्वम्। तेन पयसा सिञ्चतीति वाक्यं योग्यम्। अस्ति च सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्द्रव्यत्वं योग्यता जले कारणत्वेन जलान्वयप्रयोजकार्द्रीकरणत्वं योग्यता सेकक्रियायाम्। अत एव वह्निना सिञ्चतीति वाक्यमयोग्यम्। वह्नेः सेकान्वयप्रयोजकद्रवद्द्रव्यत्वाभावात्**'।

(परमलघुमञ्जूषा पृ० २९)

अर्थात् 'योग्यता' पदों के द्वारा उपस्थापित अर्थों का वह धर्म है जो उनके परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का प्रयोजक हुआ करता है। वस्तुतः इसी धर्म के कारण यह सम्भव है कि '**पयसा सिञ्चति**' यह पदसमूह तो 'वाक्य' हो सकता है किन्तु '**अग्निना सिञ्चति**' इत्यादि सरीखे पदोच्चय 'वाक्य' नहीं हो सकते। 'पयस्' इस पद के अर्थ (जलरूप द्रव्य) में एक योग्यता है और वह है जलरूप द्रव्य का 'द्रवत्व' जो कि सींचने की क्रिया के साथ इसके अन्वय अथवा सम्बन्ध का स्वभावतः प्रयोजक है। इसी प्रकार 'सिञ्चति' पद के अर्थ अर्थात् सिञ्चन की क्रिया में

भी एक योग्यता हैं और वह है उसका (सेकक्रिया का) किसी वस्तु को आर्द्र करना अथवा भिगोना जो कि अपने साथ जलरूप द्रवद्रव्य को अपने करण (साधकतम) रूप से अन्वित करने में अनायास समर्थ है। इससे यह स्पष्ट है कि वे ही पदोच्चय, जैसे कि **'पयसा सिञ्चति'** आदि, जो योग्य हैं (अर्थात् ऐसे पदार्थों के उपस्थापक हैं जिनमें परस्पर अन्वित अथवा सम्बद्ध होने का सामर्थ्य है) 'वाक्य कहे जा सकते है और ऐसे पदोच्चय जैसे कि **'वह्निना सिञ्चति'** आदि, जिनके पदार्थों में परस्परान्वय का प्रयोजक कोई धर्म नहीं—क्योंकि आग है एक तैजस पदार्थ और सेचन की क्रिया का अन्वय संभव है ऐसे पदार्थ से जो 'द्रव' रूप हो ! अयोग्य होने से 'वाक्य' नहीं कहे जा सकते। यह 'योग्यता' यद्यपि अर्थधर्म है किन्तु इसे पदोच्चय-धर्म माना जा सकता है और ऐसा मानना उपचार का ही आश्रय लेना है। अर्थ और योग्यता का साक्षात् सम्बन्ध हैं जिससे यह सिद्ध है कि पद और योग्यता परम्परया सम्बद्ध है।

'आकाङ्क्षा' का अभिप्राय है श्रोता की यह जिज्ञासा कि किस पद का अर्थ किस पद के अर्थ का स्मारक है। सिद्धान्तमुक्तावलीकार (शब्दप्रकरणः का. ८४) ने आकाङ्क्षा की यह परिभाषा की है—**'येन पदेन विना यत्पदस्यान्वयाननुभावकत्वं तेन पदेन सह तस्याकांक्षेत्यर्थः। क्रियापदं विना कारकपदं नान्वयबोधं जनयतीति तेन तस्याकाङ्क्षा।'**

वाक्यरूप पदोच्चय में 'आकाङ्क्षा' का होना आवश्यक है और वस्तुतः स्वाभाविक भी है। एक पद दूसरे पद की आकाङ्क्षा किया करता है क्योंकि विना उसके अर्थ का स्मरण क्योंकर हो। जैसे किसी ने कहा-'घटमानय' यहाँ 'घटम्' यह कर्मकारक पद 'आनय' इस क्रियापद के विना किसी प्रकार का अन्वयबोध नहीं करा सकता। इसलिये यह स्पष्ट है कि 'घटम्' पद को 'आनय' पद की आकाङ्क्षा है और 'आनय' पद को 'घटम्' पद की। वस्तुतः तो यह आकाङ्क्षा श्रोता की जिज्ञासा है जिसका विषय पदों की परस्पर अर्थस्मारकता है। किसी वाक्य में एक पद दूसरे पद की आकाङ्क्षा रखा करता है—इसका वस्तुतः तात्पर्य यही है कि वाक्यवर्ती पद परस्पर साकाङ्क्ष अर्थ के बोधक है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इसीलिये कहा है—

'परस्परव्यपेक्षां सामर्थ्यमेके। का पुनः शब्दयोर्व्यपेक्षा ?
न ब्रूमश्शब्दयोरिति किं तर्हि अर्थयोरिति।' (महाभाष्यःसमर्थसूत्रभाष्य)

महावैयाकरण नागेशभट्ट ने 'आकाङ्क्षा' का उपर्युक्त भाष्यसम्मत अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया है—**'वाक्यसमयग्राहिका आकाङ्क्षा। सा चैकपदार्थज्ञाने तदर्थान्वययोग्यार्थस्य यज्ज्ञानं तद्विषयेच्छा 'अस्यान्वयार्थः कः' इत्येवंरूपा पुरुषनिष्ठैव, तथापि तस्याः स्वविषयेऽर्थे आरोपः। अयमर्थोऽर्थान्तरमाकाङ्क्षति इति व्यवहारात्। इदमेवाभिधानापर्यवसानमित्युच्यते**—(परमलघुमञ्जूषा)'

अर्थात् 'आकाङ्क्षा' श्रोता की वह इच्छा है जिसका विषय किसी एक पद के अर्थज्ञान में उससे सम्बद्ध किसी दूसरे पद का अर्थज्ञान है। वस्तुतः आकांक्षा ही वह सर्वप्रथम तत्त्व है जिससे कोई पदसमूह वाक्यरूप में पहचाना जाया करता है। इस अर्थ से अन्वित होने वाला अर्थ कौन है—यह जिज्ञासा तो श्रोता के मन की बात है किन्तु अर्थ पर इसका आरोप इसलिये कर दिया जाया करता है क्योंकि अर्थ ही यहाँ वक्ता की जिज्ञासा का विषय है। पदोपस्थापित अर्थों की परस्पर आकांक्षा को ही पदार्थप्रतीति का अपर्यवसान भी कह सकते है।

'पयसा सिञ्चति' यह पदसमूह सर्वप्रथम इसलिये वाक्य है क्योंकि यहां 'आकांक्षा' है क्योंकि इसका जो भी श्रोता है वह 'पयसा' इस पद के सुन लेने के बाद 'सिञ्चति' इस पद के सुनने की इच्छा रखा करता है और 'सिञ्चति' इस पद के सुनने पर 'पयसा' इस पद के सुनने अथवा स्मरण करने का इच्छुक हुआ करता है। इन दोनों पदों में साध्य-साधन भावरूप सम्बन्ध है और इसीलिये ये पद परस्पर साकांक्ष है और वाक्यरूप हैं।

आकांक्षा श्रोतृधर्म होने पर भी पदधर्म है—इस सम्बन्ध में 'तर्कभाषा' की यह युक्ति ध्यान देने योग्य है—

'''पदानि न साकांक्षाणि किन्त्वर्थाः, फलादीनामाधेयानां तीराद्याधाराकांक्षित्वात्। न च विचार्यमाणे अर्था अपि साकांक्षाः। आकाङ्क्षाया इच्छात्मकत्वेन चेतनधर्मत्वात्। सत्यम्। अर्थास्तावत् स्वपदश्रोतुरन्योन्यविषयाकांक्षाजनकत्वेन साकांक्षा उच्यन्ते। तद्द्वारेण तत्प्रतिपादकानि पदान्यपि साकांक्षाणीत्युपचर्यन्ते। एवमर्थाः सकांक्षाः परस्परान्वययोग्याः। तद्द्वारा पदान्यपि योग्यानीत्युपचर्यन्ते।'

अर्थात् पद क्योंकर साकांक्ष होने लगे? ये तो पदोपस्थापित अर्थ हैं जो साकांक्ष हो सकते हैं। किन्तु विचार करने पर अर्थ भी साकांक्ष नहीं दिखायी देते! 'आकांक्षा' तो एक प्रकार की इच्छा है और इच्छा है चेतनधर्म! तब भी उपचारतः अर्थों को परस्पर साकांक्ष कहा जा सकता है क्योंकि ये तो अर्थ ही हैं जो कि अपने-अपने उपस्थापक पदों के श्रोता के मनमें अपने परस्परान्वय की आकांक्षा उत्पन्न किया करते हैं। इसी प्रकार परस्पर साकांक्ष अर्थोंके उपस्थापक पदों को भी यदि साकांक्ष कहा जाया करे तो आपत्ति क्या है? यहाँ भी उपचार-दृष्टि उचित ही है और युक्तियुक्त भी है। इसी प्रकार परस्पर साकांक्ष अर्थ ही परस्पर सम्बन्ध योग्य हो सकते है और इसलिये योग्यता भी अर्थगत ही हुआ करती है किन्तु परस्पर योग्य-अर्थों के प्रतिपादक पदों को भी उपचारतः 'योग्य' कहना ठीक ही है।

'आसत्ति'—को भी वाक्यार्थबोध का एक आवश्यक उपाय माना गया है और इसीलिये इसे वाक्यरूप पदोच्चय में समन्वित धर्म कहा गया है। 'आसत्ति' का अभिप्राय है **'बुद्ध्यविच्छेद'** अर्थात् श्रोता में पदप्रतीति का अविच्छिन्न प्रवाह। पदप्रतीति के प्रवाह की विच्छिन्नता दो कारणों से सम्भव है—(१) कालव्यवधान और (२) अन्वयानुपयुक्त पदान्तरव्यवधान। 'कालव्यवधान' का उदाहरण तो साहित्यदर्पणकार ने दे ही दिया है और वह है आज उच्चरित **'देवदत्तः'** पद का कल उच्चरित **'गच्छति'** पद से संगति का अभाव। **'अन्वयानुपयुक्तपदान्तरव्यवधान'** के उदाहरण के रूप में **'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन'** आदि पदोच्चय वैयाकरणों किंवा नैयायिकों द्वारा दिये गये हैं जहाँ **'गिरिः'** और **'अग्निमान्'** के बीच **'भुक्तम्'** इस अन्वयायोग्य पद के व्यवधान तथा **'भुक्तम्'** और **'देवदत्तेन'** के बीच **'अग्निमान्'** इस अनन्वयी (सम्बन्ध के अयोग्य) पद के व्यवधान में शाब्दबोध का होना असम्भव माना गया है। महावैयाकरण नागेशभट्ट ने 'आसत्ति' का यही लक्षण किया है—

'प्रकृतान्वयबोधानुकूलपदाव्यवधानमासत्तिः। गिरिरग्निमानित्यासन्नम्। अनासन्नं च गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेनेति। (परमलघुमञ्जूषा)'

अर्थात् प्रकृत अन्वयबोध के प्रतिकूल पद का अव्यवधान ही 'आसत्ति है। जैसे कि **'गिरिरग्निमान्'** अथवा **'भुक्तं देवदत्तेन'** आदि पदोच्चय में 'आसत्ति' स्पष्ट दिखाई देती हैं। इस 'आसत्ति' से ही ये पदोच्चय वाक्य हैं क्योंकि इसीसे इनका शाब्दबोध अनायास हुआ करता है। जहाँ 'आसत्ति नहीं हुआ करती जैसे कि **'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन'** आदि सरीखे पदोच्चयों में, वहाँ शाब्दबोध भी नहीं हुआ करता और न वाक्य की रूपरेखा ही रहा करती है।

सिद्धान्तमुक्तावलीकार ने भी 'आसत्ति' का यही आशय प्रकट किया है—**'यत्पदार्थेन यत्पदार्थस्यान्वयोऽपेक्षितस्तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः शाब्दबोधे कारणम्, तेन 'गिरिर्भुक्तमग्निमान् देवदत्तेन' इत्यादौ न शाब्दबोधः**—(शब्दप्रकरणः का० ८२)'

अर्थात् 'आसत्ति' शाब्दबोध का एक आवश्यक कारण है और 'आसत्ति' है परस्पर अन्वय-योग्य पदार्थों की (और इसीलिये पदों की) अव्यवहित उपस्थिति। यदि कहीं परस्पर सम्बन्ध

शील पदार्थों की उपस्थिति में किसी प्रकार की विघ्नबाधा पड़ जाय तब न तो वहाँ वाक्यार्थ बोध हो सके और न वाक्य ही बन पाय।

(ग) साहित्यदर्पणकार ने वाक्य की उपर्युक्त मीमांसा में काव्यप्रकाशकार के 'शब्दार्थौ' (**तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि**–काव्यप्रकाश १.१)–इस लक्षण–खण्ड की ही वस्तुतः आलोचना की है। मम्मट ने 'दोषरहित, गुणसहित, अलङ्कृत किंवा यथास्थान अनलङ्कृत शब्दार्थयुगल' को काव्य स्वीकार किया था। मम्मट ने यह नहीं कहा था कि 'दोषरहित, गुणसहित, अलङ्कृत किंवा यथास्थान अनलङ्कृत वाक्य' काव्य है। विशिष्ट 'वाक्य' के बदले विशिष्ट शब्दार्थयुगल (शब्दार्थौ) को 'काव्य' मानने में आचार्य मम्मट का सर्वप्रथम उद्देश्य 'साहित्य' में 'काव्य' की सीमा का विभाजन है। अलङ्कारशास्त्र के आरम्भ-युग से ही काव्य को 'शब्दार्थसाहित्य' (**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्**– भामहः काव्यालंकार १.) कहा जा रहा था। मम्मट को काव्य की यह परिभाषा 'अव्याप्ति' दोष दूषित लगी। इस के निराकरण के लिये मम्मट ने 'विशिष्ट शब्दार्थसाहित्य काव्य है' यह काव्यलक्षण प्रवर्त्तित किया। साहित्यदर्पणकार भी वाक्य को काव्य नहीं मानते। उनके लिये भी एक विशिष्ट वाक्य ही काव्य है। किन्तु उन्होंने विशिष्ट शब्दार्थयुगल' में काव्य की मान्यता के बदले 'विशिष्टवाक्य' (रसात्मकवाक्य) में काव्य की मान्यता पर जो बल दिया–वह एक नयी बात है। इस का रहस्य? इसका एकमात्र रहस्य यही प्रतीत होता है कि साहित्यदर्पणकार ने रस को शरीरी मानकर उसके शरीर के रूप में 'वाक्य' की स्थापना की है। 'रस काव्य की आत्मा है'—यह तो रसध्वनिवाद का बीजमन्त्र है जिसमें यह स्पष्ट है कि 'रस' और 'काव्य' में शरीर-शरीरिभाव का दर्शन किया गया है। किन्तु साहित्यदर्पणकार ने 'रस' और 'वाक्य' में ही शरीरात्मभाव को सिद्धि और साधना के सिद्धान्त का जो प्रतिपादन किया है वह एक विचित्र बात है। यदि वाक्य-शरीर और रसरूप आत्मतत्त्व का सम्बन्ध एक अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध है—क्योंकि यहाँ और किसी प्रकार का सम्बन्ध मानना तो अर्थ का ही अनर्थ करना होगा—तब तो यही परिणाम निकलता है कि जो भी योग्यता–आकांक्षा–किंवा आसत्ति–युक्त पदोच्चय होगा—क्योंकि आकांक्षादि विशिष्ट पदोच्चय को ही तो 'वाक्य' कहा गया है, वह अवश्य ही आत्मतत्त्व का अधिष्ठान होगा। किन्तु ऐसे वाक्य का कविकला से क्या संबन्ध? वाग्व्यवहार में जो भी पदोच्चय प्रयुक्त होते हैं आकांक्षादि विशिष्ट ही होते हैं और वाक्य रूप में ही रहा करते हैं। किन्तु ऐसे पदोच्चयों में रसरूप आत्मतत्त्व कहाँ रहा करता है! मम्मट की काव्य-परिभाषा तो काव्यात्मभूत रस को शब्दार्थयुगलरूप काव्य–शरीर की विशिष्टता के रूप में भी सोचना अनुचित समझती है और इसीलिये अदोषता–सगुणता और अलंकृतता की विशेषताओं को ही शब्दार्थशरीर की विशेषता के रूप में निर्धारित किया करती है। साहित्यदर्पणकार के लिये आकांक्षा–योग्यता और आसत्ति की ही विशेषतायें वाक्य की विशेषता के रूप में बच जाती हैं क्योंकि आत्मस्थानीय रस को तो वाक्य की विशेषता कहना ठीक नहीं लगता!

(घ) साथ ही साथ यहाँ एक और भी बात ध्यान देने की है और वह यह है 'शब्दार्थौ' अथवा '**सम्पृक्तौ वागर्थौ**' (कालिदास : रघुवंश १.१) के सम्बन्ध में तो शंका का कोई आतंक कहीं से नहीं दिखायी देता किन्तु 'वाक्य' के सम्बन्ध में भारतीय अथवा विदेशीय विचारक अभी तक एकमत नहीं हो पाये। 'वाक्य' रूप तत्त्व की अविश्लेषणीयता न्यायमञ्जरीकार आचार्य जयन्तभट्ट के मुँह से सुनिये—

तत्र चेयं कल्पना–वर्णक्रमेण तावत् प्रथमपदज्ञानं ततस्सङ्केतस्मरणं, संस्कारश्च युगपद् भवतः, ज्ञानयोर्हि यौगपद्यं शास्त्रे प्रतिषिद्धं न संस्कारज्ञानयोस्ततः पदार्थज्ञानं तेनापि -संस्कारः, पुनर्वर्णक्रमेण द्वितीयपदज्ञानं ततः संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारसहितेन च तेन पद-

(महावाक्य का स्वरूप-निरूपण)

वाक्योच्चयो महावाक्यम्—

(वाक्योच्चयरूप महावाक्य की विशेषता)

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

तरः संस्कारः पुनः पूर्ववर्णक्रमेण तृतीयपदज्ञानं संकेतस्मरणं पूर्वसंस्कारापेक्षः पटुतरः संस्कार इत्येवं पदज्ञानजनिते पीवरे संस्कारे पदार्थज्ञानजनिते च तादृशि संस्कारे स्थितेऽन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं पदसंस्कारात् सर्वपदविषयस्मृतिः पदार्थसंस्काराच्च पदार्थविषया स्मृतिरिति संस्कारक्रमात् क्रमेण द्वे स्मृती भवतः, तत्रैकस्यां स्मृतावुपारूढः पदसमूहो वाक्यमितरस्यामुपारूढः पदार्थसमूहो वाक्यार्थः।.........अथवा कृतं स्मरणकल्पनया, अन्त्यपदार्थज्ञानानन्तरं सकलपदार्थविषयो मानसोऽनुव्यवसायः शतादिप्रत्ययस्थानीयो भविष्यति, तदुपारूढानि पदानि वाक्यं तदुपारूढश्च पदार्थो वाक्यार्थः, तथाविधश्च मानसोऽनुव्यवसायः सकललोकसाक्षिकत्वादप्रत्याख्येयः.........इत्थं स्मर्यमाणारूढं संकलनज्ञानविषयीभूतं चेदं पदनिकुरम्बं वाक्यं तथाविधश्चैव वाक्यार्थः। (न्यायमञ्जरी-पृष्ठ ३६३, ३६४) अर्थात् जिसे 'वाक्य' कहते हैं वह एक इस प्रकार का पदनिकुरम्ब (पद समूह) है जिसमें अन्तिम पद तो अनुभव का विषय रहा करता है और उसके पूर्ववर्ती समस्त पद स्मृति-कोष से निकला करते हैं । अथवा 'वाक्य' के सम्बन्ध में यही मानना ठीक है कि वह एक ऐसा पदकदम्ब है जिसमें अन्तिम पद का अनुव्यवसाय (मानस प्रत्यक्ष) समस्त पूर्ववर्ती पक्षों का भी संग्रह कर लिया करता है ।

इसी प्रकार पाश्चात्य विचारक भी वाक्य का विश्लेषण अशक्य ही मानते है—

'Grammarians, philosophers and psychologists for the past two thousand years have been unable to agree upon the definition of the sentence. The reason for this lies in part in the complexity and variability of the language processes. Just as protoplasm assumes innumerable forms and is continuously undergoing change as long as it is living, so those vital processes, which we call language, being the manifestations of that same protoplasm and being equally protean in their transformations, defy the efforts of the philologist to reduce them to fixed and rigid formulas, and like protoplasm, they lose their identity when killed and sliced with the mental microtone. They are there like a microscopic preparation, stained beyond recognition by philological theories and methods–Pillsbury : The Psychology of Language (Page 254–55)'

इस उपर्युक्त विचार-विमर्श से तो यही सिद्ध है कि 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की अपेक्षा 'रसात्मकं शब्दार्थनिकुरम्बं काव्यम्' कहना अधिक उचित हैं क्योंकि 'वाक्य' का विश्लेषण भले ही अभी तक अपूर्ण हो और संभवतः ऐसा ही रह भी जाय, 'शब्दार्थ निकुरम्ब' (शब्दार्थों) के सम्बन्ध में तो कोई सन्दिग्धता नहीं दिखायी देती ।

अनुवाद—'महावाक्य' वह है जो कि वाक्यों का उच्चय अथवा समूह हुआ करता है । जैसे योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त पद समूह ही 'वाक्य' हो सकता है वैसे

(वाक्य-द्वैविध्य)

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च ।

(वाक्य-द्वैविध्य की प्रामाणिकता)

उक्तं च तन्त्रवार्तिके—

'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते ॥' इति ।

(वाक्य-द्वैविध्य का उदाहरण)

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहम्-' इत्यादि (२६ पृ०) । महावाक्यं यथा-रामायण-महाभारत रघुवंशादि ।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् ।

ही वही वाक्यसमूह 'महावाक्य' हो सकता है जो योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति से युक्त हो ।

इस प्रकार 'वाक्य' के दो भेद स्पष्ट हैं। यहाँ 'इत्थम्'-(इस प्रकार से) का अभिप्राय है-'वाक्य रूप से और महावाक्य रूप से' वाक्य के द्वैविध्य का ।

'वाक्य' और 'महावाक्य' के सम्बन्ध में प्राचीनाचार्यों की यह उक्ति प्रमाण है—

'अपने अपने अर्थबोधन में समाप्त (आकांक्षादि विशिष्ट) वे सभी पद-सन्दर्भ रूप 'वाक्य' जब परस्पर अङ्गाङ्गिभाव-सम्बन्ध से संबद्ध हो जाया करते हैं तब 'एक वाक्य' अथवा 'महावाक्य' रूप में दिखायी दिया करते हैं ।'

'वाक्य' के उदाहरण के रूप में 'शून्यं वासगृहम्' आदि श्लोकवाक्य देखे जा सकते हैं और 'महावाक्य' के उदाहरण तो रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि महाकाव्य हैं ही ।

विमर्श—रसात्मक वाक्य को काव्य मानने वाले काव्याचार्य के लिये मीमांसक के 'एकवाक्यत्व' सिद्धान्त का ध्यान रखना स्वाभाविक ही है। 'एकवाक्यता' का मीमांसा-सिद्धान्त मन्त्र-ब्राह्मणात्मक शब्दराशिरूप वेद में 'धर्म' रूप परमार्थतत्त्व की सिद्धि के लिये प्रवर्तित हुआ था। कविराज विश्वनाथ ने काव्यरूप पदार्थ राशि में 'एकवाक्यता' का इसीलिये संकेत कर दिया है जिसमें 'रस' रूप काव्यार्थतत्त्व की सिद्धि में संदेह न रह जाय। काव्यरूपवाक्य किंवा महाकाव्यरूप महावाक्य में 'एकवाक्यता' की सत्ता एकप्रकार से ध्वनि दार्शनिक आचार्यों ने भी मान रखी है। आनन्दवर्धनाचार्य की यह उक्ति—

'रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूचितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना । निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता। महाभारतेऽपि शास्त्ररूपे काव्यच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यप्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः ।' (ध्वन्यालोक : उद्योत ४ र्थ)

वस्तुतः काव्यों की 'एकवाक्यता' का एक सूक्ष्म सूचना है। किन्तु एक बात यहाँ अवश्य ध्यान देने की है और वह यह है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने जिस 'एकवाक्यता' का यहां संकेत किया है वह काव्याचार्यों की मान्यता की एकवाक्यता है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने जिस

(वाक्यस्वरूप निरूपक पदोच्चय का विश्लेषण)

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।

यथा—घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः । अनन्वितेति वाक्य-महावाक्ययोः । एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम् । अर्थबोधका इति कचटत-पेत्यादीनाम् । वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम् ।

'एकवाक्यता' का प्रतिपादन किया है वह मीमांसाचार्यों की 'एकवाक्यता' है । आनन्दवर्धनाचार्य की दृष्टि तो रसों के अङ्गाङ्गिभाव में महाकाव्यों की 'एकवाक्यता' का दर्शन करती है किन्तु विश्वनाथ कविराज ने आकांक्षादियुक्त पदोच्चयों और वाक्योच्चयों के अङ्गाङ्गिभाव में ही काव्यरूप वाक्य और महाकाव्यरूप महावाक्य को 'एकवाक्य' मान लिया है ।

अनुवाद—पहले यह बताया जा चुका है कि पद-सन्दर्भ 'वाक्य' है किन्तु जिसका सन्दर्भ वाक्य है उसका अर्थात् 'पद' का स्वरूप क्या है ? इसका बताना आवश्यक है । इसलिये 'पद' का लक्षण किया जा रहा है—

'पद' वे वर्ण हैं जो प्रयोग-योग्य हुआ करते हैं और किसी एक अनन्वित (किसी दूसरे पद के अर्थ से जिसका सम्बन्ध न हो, ऐसे) अर्थ के बोधक हुआ करते हैं ।

उदाहरण के लिये, 'घटः' (घड़ा) यह वर्ण-समुदाय (जो कि प्रयोग के योग्य है और एक अनन्वित अर्थ का अवबोधक है) पद है । यहाँ (कारिका में वर्णों के) 'प्रयोगार्ह'-'प्रयोगयोग्य' कहने का अभिप्राय यह है कि प्रातिपादिक को-प्रत्ययरहित प्रकृति मात्र को-(जैसे कि 'घट' इस वर्ण-समुदाय को) पद न मान लिया जाय, 'अनन्वित अर्थ के बोधक' कहने का जो तात्पर्य है वह यह है कि 'वाक्य' और 'महावाक्य' को (जो कि परस्पर अन्वित अर्थ के अवबोधक पद-समुदाय हैं) 'पद' न समझ लिया जाय और 'एक अर्थ के बोधक' कहने का प्रयोजन यह है कि परस्पर साकांक्ष पद-समूह (जो कि अनेक अर्थ के अवबोध कराने वाले हुआ करते हैं) 'पद' के रूप में न देख लिये जाँय । साथ ही साथ 'अर्थबोधक' वर्णों को ही जो 'पद' कहा गया है वह इसीलिये जिसमें क, च, ट, त, प इत्यादि निरर्थक वर्ण पद की श्रेणी से बाहर गिने जाँय । यहाँ (कारिका में) 'वर्णाः' इस बहुवचन का अभिप्राय, अर्थात् वर्ण-बाहुल्य विवक्षित नहीं (क्योंकि प्रयोग-योग्य किंवा एक अनन्वित अर्थ के बोधक एक या दो भी वर्ण पद हुआ करते हैं) ।

विमर्श—यह पद-विचार इस बात का प्रमाण है कि साहित्यदर्पणकार को शब्द-दार्शनिकों का स्फोटवाद अभिप्रेत नहीं जिसके अनुसार वर्णों को पद नहीं माना जाया करता अपितु वर्ण और पद में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव की कल्पना की जाती है । साहित्यदर्पणकार की दृष्टि में 'पद' का जो स्वरूप है वह मीमांसा-दर्शनकारों का निर्धारित स्वरूप है । मीमांसक वर्ण समुदाय को वाचक मानते हैं जैसा कि महामीमांसक कुमारिल स्वामी का कथन है—

'द्वये सत्यपि तेनात्र विज्ञेयोऽर्थस्य वाचकः ।
वर्णाः किंतु क्रमोपेताः किंतु वर्णाश्रयः क्रमः ॥

(अर्थ-प्रकार-निरूपण)

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

(त्रिविध अर्थ का स्वरूप-विचार)

एषां स्वरूपमाह—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः ।
व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

ता अभिधाद्याः ।

क्रमः क्रमवतामङ्गमिति किं युक्तिसाध्यता ।
धर्ममात्रमसौ तेषां न वस्त्वन्तरमिष्यते ॥'

(श्लोकवार्तिक : शब्दनित्यताधिकरण २६५-२६६)

अर्थात् 'स्फोट की कल्पना तो निरर्थक ही है । वर्णसमुदाय ही पद है । यहाँ क्रमविशिष्ट वर्ण वाचक हैं या वर्णक्रम वाचक है—ये दो सम्भावनाएँ भले ही होती रहें किन्तु वस्तुतः जो बात है वह यही है कि क्रमविशिष्ट वर्ण भी वाचक हैं क्योंकि जो वर्णक्रम है वह कोई वर्ण-भिन्न वस्तु नहीं अपितु एक प्रकार का वर्णधर्म है ।

अथवा—

विश्वनाथ कविराज की इस पद-मीमांसा पर नैयायिकों के पद-विचार का प्रभाव देखा जा सकता है । नैयायिक भी स्फोटवाद को नहीं मानते क्योंकि उनके अनुसार भी वर्ण ही वाचक हैं जैसा कि न्यायमञ्जरीकार ने स्पष्ट कहा है—

'इति विततया वर्णा एते धिया विषयीकृतां
दधति पदतां वाक्यत्वं वा त एव च वाचकाः ।
न च तदपरः स्फोटः श्रोत्रे विभात्यवबोधने
न च विधिहतो वाच्ये बुद्धिं विधातुमसौ क्षमः ॥' (न्यायमञ्जरी, पृ० ३५५)

अनुवाद—(पद जिस 'अनन्वित एक अर्थ' के बोधक हुआ करते हैं वह) अर्थ तीन प्रकार का हुआ करता है—१ ला-वाच्यार्थ, २ रा-लक्ष्यार्थ और ३ रा-व्यङ्ग्यार्थ ।

इन त्रिविध अर्थों के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है—

इनमें 'वाच्य' अर्थ वह है जो अभिधा शक्ति द्वारा प्रतिपादित किया जाया करता है, 'लक्ष्य' अर्थ वह अर्थ है जो लक्षणाशक्ति द्वारा बोधित हुआ करता है और 'व्यङ्ग्य' अर्थ उसे कहते हैं जो व्यञ्जना शक्ति द्वारा अवगत किया जाया करता है । इस प्रकार शब्द की जो शक्तियाँ हैं वे भी तीन ही हुआ करती हैं ।

यहाँ कारिका में 'ताः'-उन (शक्तियों) का अभिप्राय है शब्द की अभिधा आदि (अर्थात् लक्षणा और व्यञ्जना) शक्तियों का ।

विमर्श—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को विश्वनाथ कविराज ने शब्द की त्रिविध शक्तियाँ माना है । अन्य आचार्य इन्हें 'वृत्तियाँ' अथवा 'व्यापार' कहा करते हैं । महावैयाकरण नागेश भट्ट ने स्पष्ट कहा है—

'सा च वृत्तिस्त्रिधा शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च'—(परमलघुमंजूषा)

अर्थात् शब्द की वृत्तियाँ तीन हैं—शक्ति (अभिधा), लक्षणा और व्यञ्जना । वस्तुतः शब्द-दर्शन

(अभिधा शक्ति-निरूपण)

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा ।

के आचार्य 'शक्ति' को 'अभिधा वृत्ति' का ही पर्याय माना करते हैं जैसा कि वैयाकरण सिद्धान्त-मंजूषाकार का कथन है—

'शक्तिस्त्रिधा रूढिर्योगो योगरूढिश्च ।'

अर्थात् 'शक्ति' अथवा 'अभिधा' त्रिविध हुआ करती है—रूढ़ि, योग और योगरूढ़ि ।

'वृत्ति' के लिये 'व्यापार' शब्द का भी प्रयोग प्रचुर रूप से पाया जाता है । काव्यप्रकाशकार ने 'अभिधा व्यापार' का प्रयोग किया है—**'स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते'**-(काव्यप्रकाश, उल्लास २य) ।

अभिधादि को 'वृत्ति' अथवा 'व्यापार' के बदले 'शक्ति' कहने में विश्वनाथ कविराज का कुछ उद्देश्य-विशेष है ।

मीमांसाचार्यों ने शब्द और अर्थ में नित्य अथवा स्वाभाविक वाच्यवाचक भावरूप सम्बन्ध माना था और यह सिद्ध किया था कि पद में पदार्थप्रतिपादन की स्वाभाविक शक्ति है । आचार्य आनन्दवर्धन ने व्यञ्जना को पद-पदार्थ की औपाधिक शक्ति कहा था । शक्ति को अतिरिक्त पदार्थ मानने वाले मीमांसक हैं । नैयायिकों का मीमांसकों से शक्ति की अतिरिक्त मान्यता पर पर्याप्त विवाद होता रहा है । आलंकारिकों ने इस विवाद से अपने आप को पृथक् रखते हुए 'व्यापार' 'वृत्ति' किंवा 'शक्ति' को समानार्थक माना । ध्वनिकार आचार्य आनन्दवर्धन ने 'अभिधा' को 'अभिधानशक्ति' किंवा 'व्यञ्जना' को 'अवगमनशक्ति' कहा है—

'न हि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः' । (ध्वन्यालोक-तृतीय उद्योत)

आचार्य अभिनव गुप्त भी अभिधादि को 'व्यापार' अथवा 'शक्ति' दोनों कहा करते हैं—

'त्रयो ह्यत्र व्यापाराः संवेद्यन्ते—पदार्थेषु सामान्यात्मस्वभिधाव्यापारः, समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा' (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ५६)

'तेन समयापेक्षा वाच्यावगमशक्तिरभिधाशक्तिः । तदन्यथानुपपत्तिसहायार्थावबोधनशक्तिस्तात्पर्यशक्तिः । मुख्यार्थबाधादिसहकार्यपेक्षार्थप्रतिभासनशक्तिर्लक्षणाशक्तिः । तच्छक्तित्रयोपजनितार्थावगममूलजाततत्प्रतिभासपवित्रितप्रतिपत्तृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्ध्वननव्यापारः ।' (ध्वन्यालोक लोचन, पृष्ठ ६२)

इस प्रकार विश्वनाथ कविराज का अभिधादि को शक्ति कहना सर्वथा युक्तियुक्त है । 'अभिधा शक्ति है जिसका स्फुरण अभिधान है'-इत्यादि विचारधारा इसी बात को प्रमाणित करती है कि शब्द और अभिधादि शक्ति में शक्तिमान् और शक्ति का सम्बन्ध है । इस 'शक्तिशक्तिमद्भाव' के ही कारण शब्द और अर्थ एक आत्मतत्त्व के अपृथक् सिद्ध भाग हैं—

'यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम् । तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता ।
अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाशते । एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ ॥'

(भर्तृहरिः, वाक्यपदीय)

अनुवाद—इन त्रिविध शब्द, शक्तियों में 'अभिधा शक्ति' वह शक्ति है जिससे संकेतित (प्रसिद्ध) अर्थ का अवबोध हुआ करता है और इसीलिए जिसे शब्द की प्रथम (मुख्य) शक्ति कहा करते हैं ।

(संकेतग्रह के उपाय)

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रतिपद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति। क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा—'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि कधुकरः

(किसी पद के संकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति तो 'अभिधा' हुई और) किसी पद के संकेत (शक्ति) का ग्रहण जिन उपायों से हुआ करता है वे ये हैं—

(१) वृद्ध व्यवहार—किसी परिवार में किसी गृहस्वामी ने किसी गृहसेवक को आदेश दिया—'गामानय'-गौ लाओ'। इस वाक्य के सुनते गृहसेवक गौ लाने लगा। अब परिवार का बालक, जो अपने बड़े-बूढ़ों का यह व्यवहार देख रहा है, सर्वप्रथम केवल इतना समझा करता है कि 'गामानय'-'गौ लाओ' इस वाक्य का अर्थ 'एक सास्नादि विशिष्ट प्राणिविशेष का लाना' है। इसके बाद उसने ऐसे भी वाक्य सुने—'गां बधान'-'गौ बांध दो' 'अश्वमानय'-'घोड़ा लाओ' आदि आदि। अब जब उसे यह पता चला कि 'गामानय'-'गौ लाओ' के प्रयोग से सास्नादियुक्त प्राणिविशेष लाया गया और 'अश्वमानय' 'घोड़ा लाओ' के प्रयोग से एक दूसरे प्रकार का प्राणिविशेष तब उसे शब्दों के इस आवापोद्वाप-(रखने-हटाने) से गो पद का (और इसी भांति अश्व पद का) सास्नादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ (और इसी भाँति केसरादिविशिष्ट प्राणिरूप अर्थ भी) का पता चल गया। इसी प्रकर 'गामानय' और 'गां बधान' आदि वाक्य प्रयोग में 'आनयन' और 'बन्धन' की भिन्न-भिन्न क्रियाओं का दर्शन करते बालक को इसी आवापोद्वाप से यह भी पता चल गया कि 'आनय' का अर्थ 'आहरण'—'ले आना' हुआ करता है (और 'बधान' का अर्थ 'बन्धन'-बाँधना' हुआ करता है)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि बालक को 'गाम्', 'आनय' 'अश्वम्', बधान' आदि आदि पदों के संकेत (शक्ति) का ग्रहण वृद्ध व्यवहार से ही सबसे पहले संभव हुआ करता है।

(२) कहीं-कहीं 'प्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहार'-अर्थात् किसी प्रसिद्धार्थक पद के—ऐसे पद के, जिसका अर्थ पहले से जाना जा चुका हो—समभिव्याहार अथवा सान्निध्य से भी संकेत का ग्रहण हुआ करता है जैसे कि इस वाक्य अर्थात् 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति'-'इस खिले कमल के भीतर मधुकर (भ्रमर) मधु पान कर रहा है' में (जहाँ 'कमल' इस पूर्वपरिज्ञातार्थक पद के समभिव्याहार (साहचर्य) से 'मधुकर इस पद का, भ्रमररूप अर्थ में, संकेतग्रह हुआ करता है।

(३) कहीं पर 'आप्तोपदेश' अर्थात् आप्त अथवा किसी प्रामाणिक व्यक्ति के उपदेश से भी संकेत का अवधारण किया जाया करता है जैसे कि 'अयमश्वशब्दवाच्यः'-'यह प्राणी वह है जिसे अश्व कहा करते हैं' इत्यादि स्थलों पर (जहाँ किसी श्रेष्ठ प्रामाणिक व्यक्ति ने 'अश्व' पद का संकेतग्रह किसी बालक को अपने कथन-मात्र से' मानो अंगुली पकड़ कर, करा दिया है)।

पिबति' इत्यत्र। क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा—'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र। तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

अब इन्हीं उपायों से जाने गये संकेतित अर्थ का अवबोधन कराने वाली जो शब्द-शक्ति है वही शक्ति 'अभिधा' नाम की शक्ति है। यह शक्ति इस लिये शब्द की मुख्यशक्ति मानी जाया करती है क्योंकि किसी शब्द और उसकी अभिधान के बीच अन्य कोई भी शब्दशक्ति नहीं आया करती। (जब की शब्द और उसकी अन्य शक्तियों जैसे कि लक्षणा के ही बीच में अभिधा का व्यवधान पड़ा करता है क्योंकि अभिहित अर्थ में बाधादि के ही कारण तो लक्षणा का स्वरूपोत्थान सम्भव है।)

विमर्श—(क) शब्द और अर्थ में परस्पर सम्बन्ध है-यह सिद्धान्त तो सर्वमान्य है। किन्तु यह सम्बन्ध औत्पत्तिक अथवा स्वाभाविक है या साङ्केतिक अथवा कृत्रिम है-इस विषय में विचारकों का मतभेद है। पूर्वमीमांसादर्शन का एक सूत्र है—**'कर्मैके तत्र दर्शनात्'** (मीमांसासूत्र-१. १. ६.) जिसका अभिप्राय यह है कि अपने आप में किसी शब्द का किसी अर्थ से कोई संबंध नहीं किन्तु सङ्केत के द्वारा ही कोई शब्द किसी अर्थ का बोध करवाया करता है जिससे यही निष्कर्ष निकल सकता है कि सङ्केत के कारण ही कोई शब्द किसी अर्थ का वाचक हो सकता है न कि स्वतः। यह सिद्धान्त न्यायदर्शन के शब्दार्थविषक सिद्धान्त का पूर्वरूप था जिसके विरोधमें मीमांसादर्शनकार महर्षि जैमिनि ने **'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः'** इत्यादि (मीमांसा-सूत्र १. १. ५) सूत्र में यह सिद्ध किया था कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है न कि अनित्य अथवा कार्य। यद्यपि इन उपर्युक्त परस्पर विरुद्ध मतों का उत्थान वेदरूप शब्दराशि और अर्थराशि की अपौरुषेयता या पौरुषेयता (परमपुरुषकृतता) की सिद्धि के रूप में ही हुआ था किन्तु इनका प्रभाव इतना व्यापक रहा कि 'शब्दार्थसम्बन्ध' के विषय में ये ही दो मत रूढमूल हो गये और सभी पदवाक्यप्रमाणवित् इन्ही दोनों में से किसी एक के पक्षपाती बनकर दो दलों में बंट गये। न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम के अनुसार 'शब्दार्थव्यवस्था' का आधार 'समय' (संकेत) है जैसा कि **'न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसम्प्रत्ययस्य'**—इस (न्यायदर्शन २. १. ५५) सूत्र से सिद्ध है। शब्द से अर्थ के सम्प्रत्यय अथवा बोध के 'सामयिक' होने का अभिप्राय है—**'अभिधानाभिधेय-नियमनियोग'** (वात्स्यायनभाष्य २. १. ५५) का। यह 'अभिधानाभिधेयनियमनियोग' क्या है? अभिधान (शब्द) और अभिधेय (अर्थ) के 'नियम' का अभिप्राय है 'गो शब्द का अर्थ सास्नादियुक्त प्राणिविशेष है, अश्व शब्द का अर्थ केसरादियुक्त प्राणिविशेष है'—इत्यादि प्रकार की व्यवस्था का। इस नियम अथवा व्यवस्था के सम्बन्ध में 'नियोग' का तात्पर्य है—सृष्टि के आरम्भ में ही, इस व्यवस्था के लिये, परमेश्वर के किये गये 'समय' अथवा 'संकेत' का (**अभिधानाभिधेययोर्नियमो गोशब्दस्य सास्नादिमानेवार्थं एवमश्वशब्दस्य केसरादिमानेवेति। तस्मिन्नियोगो बोद्धव्य इति भगवतः परमेश्वरस्य सर्गादौ सोऽयं समय इति**—न्यायवार्तिक तात्पर्य-टीका—२. १. ५५) न्यायदर्शन की इस प्राचीन विचारधारा का अनुसरण करने वाले नैयायिकों ने शब्दार्थविषयक इस 'संकेत' अथवा 'ईश्वरेच्छा' को शक्ति के रूप में स्वीकार किया। नव्यन्याय ने इसमें इतना परिवर्तन कर दिया कि 'ईश्वरेच्छा' को शक्ति न मानकर 'इच्छामात्र' को शक्ति मान लिया। इस प्रकार नैयायिकों की दृष्टि में शक्ति (अभिधा) और संकेत (समय अथवा ईश्वरेच्छा या इच्छा मात्र) एक ही तत्त्व के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं।

किन्तु नैयायिकों की यह उपर्युक्त मान्यता न तो मीमांसकों को मान्य हुई और न वैयाकरणों को। मीमांसकों के अनुसार और साथ ही साथ वैयाकरणों की भी दृष्टि में 'शक्ति' और 'संकेत'

(संकेत का क्षेत्र)

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

(चतुर्विध संकेत-क्षेत्र का व्यवस्था-निरूपण)

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका। गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तुधर्मः। शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति। द्रव्यशब्दा

एक नहीं अपि तु दो भिन्न वस्तुयें हैं। 'शक्ति' संकेत नहीं किन्तु संकेत 'ग्राह्य' है। शब्द में अभिधा शक्ति है यह बात संकेत के जानने से जानी जा सकती है। शक्ति अथवा अभिधा 'संकेत' नहीं है। (उद्योत, पृष्ठ ९) ने मीमांसकों और वैयाकरणों के अनुसार शक्ति अथवा अभिधा का यही पार्थक्य निर्दिष्ट किया है—

'संकेतग्राह्यं शक्त्याख्यपदार्थान्तरमभिधा'

परमलघुमञ्जूषाकार महावैयाकरण नागेश भट्ट (प. ल. म-शक्तिविचार) ने स्पष्ट ही कहा है—

'उक्त ईश्वरसंकेत एव शक्तिरिति नैयायिकमतं न युक्तम्। 'अयमेतच्छक्यः' 'अत्रास्य शक्तिः' इत्यस्य संकेतस्य शक्तितः पार्थक्येन प्रसिद्धत्वात्'।'

(ख) साहित्यदर्पणकार ने मीमांसक-वैयाकरण-सम्मत शक्तिसिद्धान्त का अनुसरण किया है। 'अभिधा संकेतित का अर्थ का बोधन कराने वाली शक्ति है' (**तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाऽभिधा**)-इस विश्वनाथ कविराजकृत अभिधालक्षणों में यह स्पष्ट है कि 'संकेत और अभिधा' एक नहीं किन्तु भिन्न-भिन्न हैं 'उन-उन संकेतित अर्थों का बोधन कराने वाली जो शब्दशक्ति है वह अभिधा नाम की शक्ति है' (**तं तं संकेतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य .... शक्तिरभिधा नाम**)-इस अभिधालक्षणपरिष्कार से इसका भी संकेत कर दिया गया है कि 'अभिधा' और 'शक्ति' पर्यायशब्द नहीं। साहित्यदर्पणकार का यह संकेत युक्तियुक्त किंवा विचारपूर्ण है। अलंकारशास्त्र में 'शक्तिविचार' के लिये तो यह परमावश्यक है कि 'अभिधा' और 'शक्ति' इन पदों को भिन्नार्थक रखा जाय। अन्यथा 'संकेतित अर्थ का बोधन कराने वाली जो शक्ति है वह 'शक्ति' है-इस प्रकार के शक्ति (अभिधा)-लक्षण में लक्ष्यलक्षणसांकर्य क्योंकर मिटाया जा सके!

(ग) साहित्यदर्पणकार ने 'संकेतग्रह' के उपायों में वृद्धव्यवहार, प्रसिद्धपद समभिहार तथा आप्तोपदेश—इन तीनों उपायों का ही निर्देश किया है किन्तु साहित्यदर्पण के व्याख्याकारों ने इस उपायत्रय को उपलक्षण मानकर अन्य समस्त उपायों का यहाँ समावेश कर दिया है। संकेतग्रह के निम्नलिखित आठ उपाय परम्परा से माने जाते आ रहे हैं—

'शक्तिग्रहं व्याकारणोपमानकोपाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥'

अर्थात् व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवचन, व्यवहार, वाक्यशेष, विवृति और प्रसिद्धपदसान्निध्य-ये आठ उपाय शक्तिग्रह अथवा संकेतज्ञान के प्रयोजक हैं। विश्वनाथ कविराज ने इन में से तीन का ही जो उल्लेख किया वह इसीलिये क्योंकि वाक्य में ही पद का संकेतग्रह युक्तियुक्त हुआ करता है और साथ ही साथ अलंकार शास्त्र में 'शक्तिग्रह' के विवेचन में इन तीन उपायों का ही विवेचन समीचीन है।

अनुवाद—**इन उपर्युक्त उपायों से जिस संकेत का ग्रहण हुआ करता है उस के चतुर्विध क्षेत्र हैं जैसे कि (१) जाति, (२) गुण, (३) द्रव्य और (४) क्रिया।**

इस चतुर्विध संकेत-क्षेत्र में 'जाति' वह है (जिसे पदार्थ का प्राणप्रद नित्य वस्तुधर्म कहा करते हैं और उदाहरण के लिए) जिसे 'गौ' आदि व्यक्तियों में 'गोत्व' आदि के रूप

एकव्यक्तिवाचिनो हरिहर-डित्थडवित्थादयः। क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादय। एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतो व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः। एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ; आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्।

में देखा जाया करता है। 'गुण' उसे कहते हैं जो एक नित्य वस्तुधर्म है और जिसके द्वारा सजातीय वस्तु व्यक्तियाँ एक दूसरे से पृथक् रूप से पहचानी जाया करती हैं। उदाहरण के लिये 'शुक्ल' आदि गुण। ये 'शुक्ल' आदि गुण ऐसे वस्तुधर्म हैं (जो नित्य हैं, वस्तु-व्यक्तियों में समवेत रहा करते हैं और) जिनसे शुक्ल वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियां कृष्णादि-वर्णवाली वस्तु-व्यक्तियों से व्यावृत्त की जाया करती हैं जैसे कि किसी गोव्यक्ति का शुक्ल-गुण उसे सजातीय कृष्णादिवर्णवाली गोव्यक्तियों से व्यावृत्त किया करता है। 'द्रव्य' वह है जिसे वस्तु-व्यक्ति की 'संज्ञा' कह सकते हैं और ऐसे शब्द जैसे कि हरिहर, डित्थ, डवित्थ आदि द्रव्यवाचक अथवा संज्ञावाचक (यदृच्छात्मक) शब्द माने जाया करते हैं क्योंकि ये एक व्यक्ति के ही वाचक हुआ करते हैं। (चतुर्थ संकेत-क्षेत्र अर्थात्) 'क्रिया' उसे कहते हैं जो एक ऐसा वस्तुधर्म है जो सिद्ध नहीं अपितु साध्य रहा करता है जैसे कि 'पाक' आदि। 'पाक' आदि शब्द इसलिए क्रियावाचक शब्द हैं क्योंकि ये अधिश्रयण (चूल्हे पर बरतन चढ़ाने) से लेकर अवश्रयण (सिद्ध अन्न के पात्र के चूल्हे से उतारने) तक के क्रमशः होने वाले जितने भी कार्यकलाप हुआ करते हैं उन सब का अभिप्राय अपने में रखा करते हैं।

ये उपर्युक्त जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया में वस्तुतः व्यक्तियों की चतुर्विध उपाधियां हैं और इन्हीं में शब्दों का संकेत-ग्रह संभव है न कि व्यक्तियों में। व्यक्तियों में संकेतग्रह इसलिये युक्तियुक्त नहीं क्योंकि कहाँ तो 'गो' शब्द एक और कहाँ गोव्यक्तियाँ अगणित (आनन्त्य दोष)! यदि एक किसी गोव्यक्ति में गोपद का संकेतग्रह हो चुके तो अन्य गोव्यक्तियाँ, जहाँ संकेतग्रह नहीं हुआ, क्योंकर 'गो' पद से अभिहित होने लगें (व्यभिचार दोष)!

विमर्श—(क) जाति, गुण, द्रव्य और क्रिया-इन चारों को शब्द का संकेतित अर्थ सिद्ध करने वाले जो विचारक हैं वे वैयाकरण हैं। वैयाकरणों ने शब्दों की 'चतुष्टयी प्रवृत्ति' मानी है जिसका आधार महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का वचन है—

'चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः' (महाभाष्यः ऋलृक्सूत्रवार्तिक व्याख्यान)

यह वैयाकरणमत 'उपाधिशक्तिवाद' कहा जाता है। इसके अनुसार भाषा की समस्त शब्दराशि का यह वर्गीकरण है—

१—जातिशब्द, २—गुणशब्द, ३-क्रियाशब्द, ४-द्रव्यशब्द अथवा यदृच्छाशब्द।

'उपाधिशक्तिवाद' की दृष्टि में 'जाति' वह नित्य वस्तुधर्म है जो प्रत्यक्षसिद्ध है किंवा वस्तुसंस्थान विशेष के द्वारा अभिव्यङ्ग्य है। इस वस्तु धर्म को 'पदार्थ का प्राणप्रद' कहा जाता है क्योंकि इसीके द्वारा शब्द व्यवहारयोग्य हुआ करते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि जातिरूप वस्तुधर्म से किसी प्रकार का प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप प्रयोजन नहीं संपन्न हो सकता किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि 'व्यक्ति' को शब्द का संकेतित अर्थ मान लिया। यदि 'व्यक्ति' को शब्द का संकेतित अर्थ माना जाय तब प्रश्न यह उठता है कि क्या गो शब्द यावद्विश्वव्याप्त समस्त गो व्यक्तियों को

उपस्थापित करता है या किसी (पुरो दृश्यमान) गो व्यक्ति को? अब गोशब्द का संकेतग्रह समस्त गोव्यक्तियों में तो हो नहीं सकता क्योंकि कहाँ तो एक 'गो' शब्द और कहाँ **अनन्तानन्त गोव्यक्तियाँ!** भला एक गोशब्द में यह सामर्थ्य कहाँ जो अनन्त गोव्यक्तियों को हमारे मानस-पटल पर अंकित कर सके! किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि एक गोव्यक्ति ही गोशब्द के अर्थ के रूप में प्रतीत हुआ करे। यदि ऐसा होने लगे तब तो एक गोरूप पिण्डविशेष को छोड़कर और किसी भी गोरूप पिण्डविशेष के लिये गोशब्द का प्रयोग नहीं हो सकता! इस प्रकार 'आनन्त्य' और 'व्यभिचार'–इन दोनों दोषों की संभावना और उपस्थिति में व्यक्ति तो कदापि शब्द का अर्थ नहीं। इसके अतिरिक्त 'व्यक्ति-शक्तिवाद' में एक और भी बड़ी आपत्ति यह है कि सभी जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक किंवा संज्ञावाचक शब्द पर्यायवाचक बन जाते हैं और किसी प्रकार का वाक्यविश्लेषण अथवा शब्द-वर्गीकरण निरर्थक हो जाता है। जैसे कि '**गौः, शुक्लः, चलो, डित्थः**' यह शब्दप्रयोग, जिसका 'उपाधिशक्तिवाद' के अनुसार तो अर्थ असंकीर्णरूप से स्पष्ट है (क्योंकि यहाँ 'गौः शुक्लवर्णवान् चलनक्रियावान् डित्थसंज्ञकः' यह अर्थ विवक्षित है), 'व्यक्ति-शक्तिवाद' में इसलिये संकीर्ण किंवा एकार्थक हो जाता है क्योंकि जब व्यक्ति ही पदार्थ है और प्रस्तुत प्रसंग में गोव्यक्ति एक ही है तब तो यह निश्चित ही है कि 'गौः' 'शुक्लः' 'चलः' और 'डित्थः' में कोई विषयविभाग नहीं और ये चारों शब्द 'घट' और 'कलश' शब्दों की भाँति एकार्थक हैं और एक साथ कदापि प्रयोग-योग्य नहीं। 'उपाधिशक्तिवाद' में ऐसी बात नहीं क्योंकि इसके अनुसार–'गौ', 'शुक्ल', 'चल' और 'डित्थ'–इन चतुर्विध शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त जाति, गुण, क्रिया और संज्ञा का उपाधि-चतुष्टय हुआ करता है जिसकी दृष्टि से न तो इनमें पर्यायशब्द का ही भ्रम संभव है और न प्रयोग-सांकर्य की ही कोई संभावना है।

उपाधिशक्तिवाद की दृष्टि में शब्द का 'जाति' रूप प्रवृत्तिनिमित्त वह नित्य, एक किंवा 'अनेकानुगत सामान्य' रूप धर्म है जिसके कारण पदात्मक शब्दों का एक महासमुदाय 'जाति-वाचक' शब्द के रूप में पृथक् पहचाना जाया करता है। कतिपय विचारकों जैसे कि मीमांसक लोग केवल 'जाति' को ही शब्दमात्र का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हैं और 'जातिशक्तिवाद' को ही सर्वमान्य सिद्ध करते हैं। इन 'केवल जातिशक्तिवादी' लोगों की विचारधारा का जो रूप है उसे न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने इस प्रकार अंकित किया है—

'ननु जातिं विशेषणत्वेन व्यक्तिं च विशेष्यत्वेन वदयति गोशब्दः? न शक्नोति वक्तुमतिभारप्रसङ्गात्। न च व्यक्त्यवगतौ गतिरन्या नास्ति यत इयन्तं शब्दे भारमारोपयमः न हि वयं व्यक्तिप्रतीतिं भवन्तीमपह्नुमहे नापि भवन्तीं जातिप्रतीतिमपह्नुमहे, उभयप्रतीतेः प्रत्यात्मवेदनीयत्वात्, उभयत्र चाभिधात्री शक्तिरतिभारः, शब्दस्यान्यतरप्रतीत्या चान्यतरप्रतीतिसिद्धेः, तत्र गोशब्दः किं जातौ वर्तमानो व्यक्तिमाहोस्विद्व्यक्तौ वर्तमानो जातिमाक्षिपतीति विचारणायां जातेर्विशेषणत्वात् पूर्वतरं प्रतिपत्तिरिति सैव शब्दार्थो भवितुमर्हति तस्यां च शब्दादवगतायां तत एव व्यक्त्यवगमः सेत्स्यतीति नोभयत्र शाब्दो व्यापारः।

.........'तदिदमात्मप्रत्यक्षं यच्छब्दे उच्चरिते व्यक्तिरवगम्यते स किं शब्दादुत जातेरिति विवेको न प्रत्यक्षः स युक्त्याऽवगम्यते, शब्दस्य द्वयाभिधाने यत्नगौरवाद्विरम्य व्यापारस्य चाऽसंवेदनात्, अन्तरेणापि च शब्दं जात्यवगमाद् व्यक्तिप्रतीतिदर्शनाच्च जातित एवैषा व्यक्तिप्रतीतिः जातिप्रतीतिश्च शब्दादिति निश्चीयते।' (न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २९२-२९३)

अर्थात् वैसे तो जाति और व्यक्ति दोनों की ही प्रतीति शब्द से ही हुआ करती है किन्तु यहाँ विचार यह करना है कि शब्द की अभिधाशक्ति किसे सर्वप्रथम उपस्थित किया करती है—जाति को? या व्यक्ति को? यह तो निश्चित है कि दोनों की अभिधा द्वारा एक साथ उपस्थिति युक्तियुक्त नहीं क्योंकि ऐसा मानने का यही अभिप्राय है कि अभिधा पर दो-दो अर्थों के

उपस्थापन का दोष लाद दिया गया। यह भी कहना विचारपूर्ण नहीं कि शब्द की अभिधा पहले जातिरूप अर्थ को उपस्थापित किया करती है। और तत्पश्चात् व्यक्तिरूप अर्थ को जो हमारे समस्त प्रयोजनों के संपादन में समर्थ है क्योंकि जब अभिधा जातिरूप अर्थ के अवबोधन में अपना सामर्थ्य समाप्त कर चुकी जो कि उसके लिये स्वाभाविक ही है तब व्यक्तिरूप अर्थ का अवबोध कराने के लिये कहाँ से पुनरुज्जीवित हो उठी! इस समस्या के सुलझाने का एक मात्र उपाय यही मानना है कि शब्द से तो जातिरूप ही अर्थ अभिहित होता है और यह विशेषणरूप अर्थ अपने विशेष्यभूत व्यक्तिरूप अर्थ का आक्षेप कर लेता है क्योंकि व्यक्तिरूप अर्थ का अवगम जातिरूप अर्थ के अवबोध के बिना नहीं हो सकता। वैशेषिक दर्शनकार का तभी तो यह कथन है—**'समवायिनः श्वैत्याच्छ्वैत्यबुद्धेश्च श्वेते बुद्धिस्ते कार्यकारणभूते'** (वैशेषिक सूत्र ८-१-९)।

उपर्युक्त 'केवल जातिशक्तिवाद' के विरोध में 'केवल व्यक्तिवाद' भी प्रचलित है जो कि जयन्तभट्ट के शब्द में इस प्रकार है—

चयापचयसंघातस्वस्वामित्वादिकल्पनाः। यान्ति व्यक्त्यभिधेयत्वपक्षे झटिति संगतिम्॥
न व्यक्तिलक्षणाहारमियत्कार्यं च युज्यते। वक्रः पन्था न गन्तव्यः प्रष्ठे वहति वर्त्मनि॥
उपलक्षणमाश्रित्य जातिसम्बन्धवेदनम्। प्रसेत्स्यतीति चानन्त्यव्यभिचारकृतो ज्वरः॥
प्रत्यक्षविषये वृत्तिः पदस्येष्टा परैरपि। निष्कृष्टं न च सामान्यमात्रं प्रत्यक्षगोचरः॥
व्यक्तेरेव पदार्थत्वं तस्मादभ्युपगम्यताम्। तथा च बुद्धिस्तत्रैव श्रुतशब्दस्य जायते॥
(न्यायमञ्जरी, पृष्ठ २९२)

अर्थात् 'यह छोटी गौ है' 'यह बड़ी गौ है' 'यह मेरी गौ है' 'यह तेरी गौ है' आदि आदि वाक्यों में प्रयुक्त 'गोशब्द' तभी सार्थक कहा जा सकता है जब कि गोपद का अर्थ गोव्यक्तिरूप ही अर्थ माना जाय। आनन्त्य और व्यभिचार दोषों से छुटकारे का तो सीधा उपाय यह सोचना है कि गोत्वरूप सामान्य समस्त गोव्यक्ति पर आश्रित रहा करता है। गोशब्द का अर्थ सीधे गोव्यक्ति न मानकर पहले गोत्व मानना और तब गोव्यक्ति को उससे आक्षिप्त मानना तो ऐसा ही है जैसे राजमार्ग पर न चलकर टेढ़ी-मेढ़ी पगडण्डियों पर गिरते-पड़ते चलना!

अस्तु, उपाधिशक्तिवाद के अनुसार भाषा के अनेकानेक शब्द ऐसे हैं जो गुणवाचक हुआ करते हैं। यह गुण क्या है? गुण एक वस्तुधर्म है जिसे पदार्थों का 'विशेषाधानहेतु' कहा गया है। जातिरूप वस्तुधर्म और गुणरूप वस्तुधर्म में जिस बात की समानता है वह है दोनों की नित्यता। अन्यथा जाति और गुण परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। प्रदीपकार ने इसलिये कहा है—

'यद्यपि शुक्लत्वादेर्नित्यत्वाभ्युपगमे गोत्वादिना समकालमेव सम्बन्धित्वम्, तथापि तस्य संबन्धः कदाचिदपैत्यपि, न तु गोत्वादेरिति विशेषः।

अर्थात् 'गौः शुक्लः' सरीखे जातिवाचक और गुणवाचक पदों के विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि गोत्व और शुक्लत्व एक ही समय में गोरूप पिण्डविशेष में समवेत (समन्वित) हुआ करते हैं और एक ही समान सिद्धरूप वस्तुधर्म भी हैं किन्तु गोत्वरूप धर्म (जाति अथवा सामान्य) तो ऐसा है जो गोव्यक्तियों में सदा अनुगत रहा करता है और शुक्लत्व रूप धर्म (गुण) ऐसा जो कदाचित् गोव्यक्ति से पृथक् भी रह सकता है। इसीलिये गुण की परिभाषा इस प्रकार भी की जाया करती है—

'सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग् जातिषु दृश्यते। आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥'

अर्थात् वस्तुतः 'गुण' वह धर्म है जो द्रव्य पर आश्रित रहा करता है, अपने आश्रयभूत द्रव्य से भिन्न हुआ करता है और साथ ही साथ भिन्न जातीय द्रव्यों में ही दिखायी दिया करता है। यह उत्पाद्य (जैसे कि 'रक्तो घटः' आदि में रक्तत्व) और अनुत्पाद्य (जैसे कि **'आकाशो महान्'**

(लक्षणाशक्ति-निरूपण)

अथ लक्षणा—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥ ५ ॥

प्रक्रिया' का ही अनुसरण करते हुये संकेतित अर्थ का चातुर्विध्य माना है जिस पर उपमादि अलंकारों की रूपरेखा का समीचीन विश्लेषण निर्भर है।

अनुवाद—लक्षणाशक्ति क्या है ?

लक्षणाशक्ति वह शब्द-शक्ति है जो कहीं मुख्यार्थ के (अन्वयबोध के) बाधित अथवा अनुपपन्न हो जाने पर वहाँ एक ऐसे अर्थ का अवबोधन करवाया करती है जो कि मुख्यार्थ से (सर्वथा असंबद्ध नहीं अपितु) किसी न किसी रूप से सम्बद्ध तो अवश्य रहा करता है किन्तु मुख्यार्थ के स्वभाव से भिन्न स्वभाव का ही हुआ करता है और ऐसा होने का कारण या तो 'रूढि' (प्रयोग-प्रवाह) है (जो वक्ता के वश में नहीं) या 'प्रयोजन-विवक्षा' (जो वक्ता के अधिकार की बात है)।

विमर्श—(क) लक्षणाशक्ति की मान्यता का इतिहास ब्राह्मणयुग से क्रमरूप से मिलता चला आ रहा है। निरुक्तकार यास्क ने ब्राह्मणग्रन्थों में 'भक्तिवाद' का प्रायः सर्वत्र' आश्रयण स्वीकार किया है (**बहुभक्तिवादीनि हि ब्राह्मणानि भवन्ति**)। मीमांसासूत्रकार भगवान् जैमिनि के कतिपय सूत्र 'लक्षणा' की मान्यता किंवा उपयोगिता के सूचक हैं। न्यायदर्शनकार महर्षि गौतम का यह सूत्र

'सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः ।' (न्यायदर्शन २-२-६४)

'लक्षणा' की रूपरेखा का एक स्पष्ट संकेत है। कालान्तर में की गयी लक्षणा की यह मीमांसा—

**'अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ।
वैपरीत्यात् क्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥'**

वस्तुतः लक्षणाविषयक प्राचीन मान्यताओं का ही एक सार-संक्षेप है। आलंकारिकों के लिये लक्षणा का स्वरूपचिन्तन तो रूपकादि अर्थालंकारों के भावगत मूलबीज का ही दर्शन है। पद की लाक्षणिकता की भित्तिपर काव्यभवन की कक्षाओं का उत्थान काव्याचार्य माना ही करते हैं।

(ख) 'मुख्यार्थबाध', 'मुख्यार्थयोग' किंवा 'रूढि अथवा प्रयोजन'—ये तीनों लक्षणाशक्ति के उत्थान के समुदित अथवा संवलितरूप से हेतु माने गये हैं। साहित्यदर्पणकार की लक्षणा-परिभाषा भी इसी 'हेतुत्रय' को लक्षणाहेतुरूप में मानती प्रतीत हो रही है। यहाँ 'मुख्यार्थबाध' के दो अभिप्राय लिए जा सकते हैं—(१) अन्वयानुपपत्ति और (२) तात्पर्यानुपपत्ति। इन दोनों में पहले अर्थात् 'अन्वयानुपपत्ति' में कुछ कमी है क्योंकि यदि लक्षणा के मूल में 'अन्वयानुपपत्ति' को ही देखा जाय तब **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** (चिड़ियों से दही बचाओ) आदि प्रयोगों में लक्षणा नहीं हो सकती। **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** जैसे प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं। यहाँ जैसा लक्षणा का बीजभूत मुख्यार्थबाध' है उसमें 'अन्वय अथवा संसर्ग बोध की अनुपपत्ति' नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्यभूत वाक्यार्थ के अवबोध का अभाव (तात्पर्यानुपपत्ति) स्पष्ट है। इसीलिये कतिपय आचार्य 'मुख्यार्थबाध' में 'अन्वयानुपपत्ति' के बदले 'अन्वयाद्यनुपपत्ति' का प्रतिसंधान

(लक्षणा-विवेक)

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थे-

---

मानकर 'तात्पर्यानुपपत्ति' का भी यहाँ समावेश कर देते हैं जिसके बिना लक्षणा-विवेक ही असम्भव है। कुछ आचार्य केवल 'तात्पर्यानुपपत्ति' के प्रतिसंधान को ही लक्षणाबीज मानते हैं। विश्वनाथ कविराज ने व्यस्त अथवा समस्त रूप से, दोनों अभिप्रायों में यहाँ 'मुख्यार्थबाध' को लक्षणा का मूल माना है।

'मुख्यार्थयोग' के ही विश्लेषण में तादात्म्य, सादृश्य, तत्सामीप्य, तत्साहचर्य और तादर्थ्य इन 'लक्षणापञ्चक' का सिद्धान्त निकला है जिसे साहित्यदर्पणकार ने लक्षणा के उदाहरणों में परिलक्ष्य से निर्दिष्ट किया है। जैसे कि तादात्म्यसम्बन्ध से लक्षणा—'कलिङ्गः साहसिकः'; सादृश्यसम्बन्ध से लक्षणा—'गौर्वाहीकः', तत्सामीप्यसम्बन्ध से लक्षणा—'गङ्गायां घोषः'; तत्साहचर्यसम्बन्ध से लक्षणा—'कुन्ताः प्रविशन्ति' और तादर्थ्यसम्बन्ध से लक्षणा—(इन्द्रार्थासु स्थूणासु)-'अमी इन्द्राः'।

काव्यप्रकाशकार की भाँति साहित्यदर्पणकार ने भी 'रूढि' और 'प्रयोजन' को लक्षणा के द्विविध नियामक किंवा नियामकोपाधि के रूप में स्वीकार किया है और लक्षणाभेदों में रूढि किंवा प्रयोजन की उपाधियों को अनुस्यूत मानकर दोनों के पृथक्-पृथक् उदाहरण दिये हैं।

लक्षणा को शब्द की 'अर्पित' शक्ति कहा जाता है 'सहजा' नहीं। काव्यप्रकाशकार ने भी लक्षणा को 'आरोपिता क्रिया' ही कहा है—'लक्षणारोपिता क्रिया' (काव्यप्रकाश २. ९)। लक्षणा के शब्द पर 'अर्पित' अथवा 'आरोपित' होने के दो अभिप्राय लिये गये हैं जो कि वस्तुतः 'अभिधा' के सम्बन्ध में दो सिद्धान्तों के सूचक हैं। मीमांसकों के अनुसार यदि 'अभिधा' शब्द की स्वाभाविक शक्ति है क्योंकि शब्द और अर्थ का वाच्यवाचकभावरूप सम्बन्ध भी स्वाभाविक है तो लक्षणा के 'अर्पित' अथवा 'आरोपित' शक्ति होने का अभिप्राय होगा उसके 'स्वाभाविकेतर' होने का। इसी प्रकार यदि नैयायिकों के अनुसार अभिधा ईश्वरोद्भावित शब्दशक्ति हुई क्योंकि पदपदार्थ का 'अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्यः' ईश्वरेच्छारूप है तो लक्षणा के 'अर्पित' अथवा 'आरोपित' कहे जाने का तात्पर्य होगा उसके 'ईश्वरानुद्भावित' (मनुष्यकृत) होने का। दोनों दृष्टियों से लक्षणा 'अर्पित' है, अभिधा की भाँति 'सहजा' नहीं। नीचे की पङ्क्तियाँ 'अभिधा' और 'लक्षणा' के इस तारतम्य को स्पष्ट कर रही हैं—

'अभिधानाभिधेयत्वमता शब्दार्थयोः स्थिरम्।
सम्बन्धोऽप्यभिधा द्वेधा बोध्या मुख्यजघन्यता॥
अभिधार्थीयव्यापारा शब्दस्य व्यापारचिन्तकः।
शब्दशक्तिरभिधा सा स्वार्थे मुख्याभिधीयते॥
स्वार्थाभिधानद्वारेण जघन्यार्थान्तरे मता॥' (न्यायपरिशुद्धि—शब्दाध्याय)

अर्थात् शब्द की जो स्वाभाविकी शक्ति अर्थात् अभिधा है वही मुख्य और जघन्य (सहजा और अर्पिता अथवा आरोपिता) दोनों रूपों में कृतार्थ हुआ करती है।

अनुवाद—उदाहरण के लिये 'कलिङ्गः साहसिकः' 'कलिङ्ग साहसी है' इत्यादि प्रयोग यदि किये जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता कि 'कलिङ्ग' आदि शब्द की अभिधाशक्ति के द्वारा 'कलिङ्ग' आदि का जो अर्थ निकलेगा वह 'एक देशविशेष आदि' रूप ही अर्थ होगा और यह अर्थ ऐसा अर्थ होगा जो यहाँ बाधित अथवा अनुपपन्न होगा (क्योंकि अचेतन-कलिङ्ग आदि देश और साहसादिरूप चेतन-धर्म का परस्पर सम्बन्ध कैसा ?)। अब जिस शक्ति के द्वारा (ऐसी अनुपपत्ति दूर की जाया करती है और)

संभवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यया च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं तटादि बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतुं विनापि यस्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्—'रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति।

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—कुशाँ-

---

'कलिङ्ग' आदि शब्द अपने देशविशेषादिरूप मुख्य अर्थ से संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध पुरुषादिरूप अर्थ का अवबोध करवाया करते हैं शब्द की वह शक्ति है जिसे 'लक्षणाशक्ति' समझा जाना चाहिये। इसी प्रकार ऐसे स्थलों जैसे कि 'गङ्गायां घोषः'–'गंगा पर कुटिया है', आदि में, जहाँ शब्द की अभिधाशक्ति से 'गङ्गा' आदि का अर्थ प्रवाहादिरूप ही निकल सकता है जो कि यहाँ अनन्वित अथवा असंगत प्रतीत हो रहा है (क्योंकि 'गङ्गा'–जलप्रवाह और 'घोष'–कुटिया में आधाराधेयभावरूप सम्बन्ध क्योंकर स्थापित हो जाय?) यह लक्षणाशक्ति का ही महत्त्व है कि 'गङ्गा' आदि शब्द अपने मुख्यार्थभूत जलप्रवाहादिरूप अर्थ के साथ सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध 'तटादि' रूप अर्थ की प्रतीति करवाया करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि (अभिधाशक्ति जहाँ शब्द की स्वाभाविक अथवा ईश्वरप्रदत्त शक्ति है, वहाँ) लक्षणा वह शक्ति है जो शब्द की स्वाभाविक शक्ति नहीं और न जिसे ईश्वरप्रदत्त ही कह सकते हैं क्योंकि वह तो एक ऐसी शब्दशक्ति है जिसे काल्पनिक कहा जा सकता है और ऐसा इसलिये क्योंकि यह तो बाधित मुख्यार्थ की शक्ति है जिसे वह शब्द के लिये समर्पित कर दिया करता है। पहले (अर्थात् 'कलिङ्गः साहसिकः' आदि) उदाहरण में लक्षणा का जो हेतु है वह 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह है और दूसरा जो उदाहरण है (अर्थात् 'गङ्गायां घोषः') उसमें जो लक्षणा का हेतु है वह है शीतलता, पवित्रता आदि की उत्कटता का अवबोधनरूप प्रयोजन, जो कि 'गङ्गातटे घोषः'–'गंगा के तीर पर कुटिया है' इस प्रकार के प्रयोग में कदापि प्रतीत नहीं हो सकता (क्यों? इसलिये कि शीतता और पवित्रता आदि की विशेषतायें गङ्गा की धारा की विशेषतायें हैं न कि गङ्गा के तीर की और 'तीर' का तात्पर्य गङ्गा की धारा से अत्यन्त संयुक्त स्थलभाग ही नहीं अपितु कुछ दूरस्थ भूभाग भी हो सकता है जहाँ गङ्गा की धारा की शीतता और पावनता का कोई सम्बन्ध नहीं)। बिना किसी रूढि अथवा प्रयोजनविवक्षा के केवल मुख्यार्थ से यथाकथञ्चित् सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन हो लक्षणारूप शब्दशक्ति का कार्य नहीं क्योंकि तब तो किसी भी शब्द का कुछ भी लक्ष्यार्थ निकलने लगे? इसलिये (इस बौद्धिक अराजकता को रोकने के लिये) रूढि अथवा प्रयोजन-विवक्षा को लक्षणा के हेतुरूप से मानना नितान्त आवश्यक है जैसा कि 'रूढेः प्रयोजना-द्वापि' इस कारिकांश से स्पष्ट है।

लक्षणा के रूढिरूप हेतु का उदाहरण कुछ लोग (अर्थात् काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट) 'कर्मणि कुशलः' (कार्य में दक्ष) दिया करते हैं और इसका यह अभिप्राय बताया करते हैं—'यहाँ 'कुशल' शब्द लाक्षणिक शब्द है क्योंकि इस शब्द की 'कुशान्

ज्ञातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादि-साधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहि-रूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' (उणादि-२।६७) इति गम्धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात्।

लाति (छिनत्ति) इति कुशलः' इस व्युत्पत्ति से सिद्ध जो 'कुश उखाड़ने वाला' यह मुख्य अर्थ है वह यहाँ असङ्गत किंवा अनुपपन्न है और इस असङ्गति अथवा अनुपपत्ति के निराकरण में यह शब्द 'दक्ष' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ का प्रतिपादन किया करता है क्योंकि इस शब्द के 'कुशोत्पाटक' रूप मुख्यार्थ और 'दक्ष' अथवा 'निपुण' रूप लक्ष्यार्थ में एक सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध 'साधर्म्य' का सम्बन्ध है क्योंकि कुश उखाड़ने वाले में जैसी विवेचकता हुआ करती है वैसी ही विवेचकता किसी कार्य के सुचारु रूप से सम्पादन करने वाले में भी आवश्यक है।' किन्तु दूसरे लोग (जिनके साथ साहित्य-दर्पणकार भी सहमत हैं) यहाँ यह सब ठीक नहीं समझते और उनका ऐसा समझना उचित भी है क्योंकि भले ही 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ 'कुश का उखाड़ने वाला' हो, इसका जो प्रसिद्ध अर्थ है वह तो 'दक्ष' अथवा 'निपुण' ही है। क्योंकि बात यह है कि शब्दों की व्युत्पत्ति और शब्दों की प्रवृत्ति (व्यवहार) के निमित्त एक नहीं अपितु भिन्न-भिन्न हुआ करते हैं। (इस प्रकार 'कुशल' शब्द की व्युत्पत्ति—प्रकृति-प्रत्यय-विभागकल्पना से 'कुशोत्पाटक' अर्थ भले ही निकला करे किन्तु इस शब्द का व्यवहार तो एकमात्र 'दक्ष' अथवा 'निपुण' अर्थ में ही हुआ करता है। इसमें क्या प्रमाण कि व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ ही मुख्यार्थ हो और वह अर्थ जो प्रवृत्तिनिमित्तक हो मुख्यार्थ न हुआ करे! इससे यही सिद्ध है कि 'कुशल' शब्द का मुख्यार्थ 'दक्ष' है।) क्योंकि व्युत्पत्तिनि-मित्तक अर्थ ही यदि सर्वत्र मुख्यार्थ हुआ करे तब 'गौः शेते'–गौ सोती है' यहाँ भी लक्षणा ही हुआ करेगी क्योंकि 'गौ' शब्द की व्युत्पत्ति है—'गच्छतीति गौः, जिसमें गम-नार्थक 'गम्लृ' (गम्) धातु से 'गमेर्डोः' इस उणादि (२—६७) सूत्र के अनुसार 'डो' प्रत्यय लगा हुआ है जिससे इसका वाचकरूप से प्रयोग तभी उचित है जब कि गौ चलती रहा करे। गाय बैल के लिये उनके सोते समय 'गौः' शब्द का प्रयोग हो ही नहीं सकता (और यदि होता है और अवश्य होता है तब तो यही मानना पड़ेगा कि 'गौः शेते' आदि प्रयोग लाक्षणिक प्रयोग हैं)।

विमर्श—(क) लक्षणा को 'समारोपित शब्दव्यापार' कहने का वही अभिप्राय है जो कि उसे 'सान्तरार्थनिष्ठ' कहने का है। काव्यप्रकाश के व्याख्याकार आचार्य कमलाकर ने लक्षणा के 'सान्तरार्थनिष्ठ' होने का यही अभिप्राय लिया है—

'अन्तरं मुख्येन व्यवधानं तेन सहितो योऽर्थस्तीरादिस्तन्निष्ठः स्वनिरूपितसम्बन्धस्य स्वावृत्तित्वात् लक्ष्यनिष्ठः। ······मुख्यार्थधीपूर्वकत्वात् व्यवहितार्थनिष्ठापि मुख्यसम्बन्धि-तीरविषयत्वाद्वृत्तेर्विषयतासंबन्धेन शब्दनिष्ठेत्यर्थः।'

अर्थात् वस्तुतः तो लक्षणा अर्थव्यापार है क्योंकि यह तो मुख्यार्थ ही है जो कि अपने तात्पर्य के अनुपपन्न हो जाने पर अपने से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ का अवबोधक हुआ करता है। किन्तु इस मुख्यार्थ के व्यापार को शब्द में इसलिये आरोपित कर दिया जाया करता है क्योंकि अन्ततोगत्वा 'बाधितमुख्यार्थ' शब्द ही तो लक्ष्यार्थ का उत्थापक हुआ करता है।

(लक्षणा के भेद-प्रभेदः १ म = उपादानलक्षणा)

तद्भेदानाह—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये ।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ॥ ९ ॥

प्रदीपकार का भी यही कथन है—

'शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयत्वाच्छब्दे आरोपित एव स व्यापारः । वस्तुतोऽर्थनिष्ठ एव । तदेतदुक्तम्—'सान्तरार्थनिष्ठः इति ।

अर्थात् वस्तुतः तो लक्षणा अर्थनिष्ठ शक्ति है। इसे शब्दशक्ति इसलिये कहा करते हैं क्योंकि अर्थव्यापार को शब्दव्यापार के रूप में मान लिया करते हैं। अभिधा जैसे शब्द का 'शक्यार्थविषयक' व्यापार है वैसे ही लक्षणा शब्द का **'शक्यव्यवहितलक्ष्यार्थविषयक'** व्यापार है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने रूढि को लक्षणाप्रयोजक तो अवश्य माना है किन्तु **'कर्मणि कुशलः'** इस प्रयोग में मम्मटनिर्दिष्ट रूढिलक्षणा के खण्डन के लिये यह सिद्ध किया है कि 'कुशल' शब्द लाक्षणिक नहीं अपि तु वाचक है। काव्यप्रकाशकार ने तन्त्रवार्तिककार आचार्य कुमारिल भट्ट की मान्यता के आधार पर 'कुशल' शब्द में निरूढलक्षणा मानी है और सर्वदर्शनसंग्रहकार आचार्य सायणमाधव ने काव्यप्रकाशकार का ही समर्थन किया है—

'तत्र कर्मणि कुशल इत्यादि रूढिलक्षणाया उदाहरणम् । कुशांल्लातीति व्युत्पत्त्या दर्भादानकर्तरि यौगिकं कुशलपदं विवेचकत्वसारूप्यात् प्रवीणे प्रवर्तमानमनादिवृद्धव्यवहारपरम्परानुपातित्वेनाभिधानवत् प्रयोजनमनपेक्ष्य प्रवर्तते तदाह-'निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्' इति ।' (सर्वदर्शनसंग्रह : पातञ्जलदर्शन)

यहाँ साहित्यदर्पणकार की यह युक्ति है—'शब्द का मुख्यार्थ व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही नहीं अपि तु प्रवृत्तिलभ्य भी हुआ करता है। और इस प्रकार 'कुशल' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भले ही लक्षणा उत्थापक हो उसका जो प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है अर्थात् दक्ष अथवा प्रवीण वह तो यही सिद्ध करता है कि कुशल शब्द वाचक शब्द है, लाक्षणिक नहीं।'

अनुवाद—जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का परित्याग किये बिना भी, अपने अन्वय अर्थात् अन्य पदार्थ के साथ युक्तियुक्त सम्बन्ध की सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न किसी अर्थ का आक्षेप अथवा प्रत्यायन किया करता है वह शक्ति 'उपादानलक्षणा' कही जाया करती है।

विमर्श—'उपादानलक्षणा' का शब्दार्थ ही यह बता देता है कि इस प्रकार की लक्षणा में शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग नहीं किया करता (उपादीयते मुख्यार्थोऽप्यनयेति उपादानलक्षणा)। काव्यप्रकाशकार ने इसीलिये उपादान' का यह अभिप्राय बताया है—

'स्वसिद्धये पराक्षेपः..........उपादानम्' (काव्यप्रकाश २.१०)

अर्थात् 'उपादान' वह है जिसे वाच्यार्थ का, अपने अन्वय की उपपत्ति अथवा सिद्धि के लिये, अपने से भिन्न अर्थ का आक्षेप करना कहा जाता है। काव्यप्रकाशकार के इसी अभिप्राय का 'प्रदीप'कार ने इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है—

अर्थात् स्वार्थपरित्याग के बिना ही स्वार्थभिन्न अर्थ का प्रत्यायन 'उपादान' है।

'स्वार्थापरित्यागेन परार्थलक्षणमुपादानम्'

यह 'उपादानलक्षणा' ही वैयाकरणों की **'अजहत्स्वार्था वृत्ति'** है जिसका बड़ा सुन्दर उदाहरण **'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'** यह प्रयोग है जहां 'काक' शब्द अपने वाच्यार्थ को

(उदाहरण-निरूपण)

रूढावुपादानलक्षणा यथा—'श्वेतो धावति'। प्रयोजने यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति'। अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयान्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम्। लक्षणलक्षणायां

रखते हुए ही एक वाच्यार्थभिन्न अर्थ अर्थात् 'दध्युपघातक प्राणिमात्र' का अवबोध कराया करता है। आचार्य भर्तृहरि—(वाक्यपदीय २.३१४) की इस प्रसङ्ग में यह उक्ति बड़ी सुन्दर है—

काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः।
उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥'

अर्थात् यदि किसी बालक को भी कहा जाय—'काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः' (अथवा-दधि) तो वह यही समझता है—'उपघातकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः'। इससे यही स्पष्ट है 'काक' पद की जो वृत्ति है वह 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' है अर्थात् मुख्यार्थ के ग्रहणपूर्वक मुख्यार्थभिन्न अर्थ के अवबोधन की वृत्ति (शक्ति) है।

अनुवाद—यह उपादानलक्षणा 'रूढि' अथवा प्रयोग-प्रवाह की दृष्टि से 'श्वेतो धावति-''सफेद दौड़ रहा है' इत्यादि प्रसङ्गों में और 'प्रयोजन' अथवा अभिप्राय-विशेष के प्रकाशन की दृष्टि से 'कुन्ताः प्रविशन्ति-''भाले प्रवेश कर रहे हैं'—इत्यादि प्रसङ्गों में देखी जा सकती है। यहाँ पहले अर्थात् 'श्वेतो धावति' और दूसरे अर्थात् 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यादि उदाहरणों में यह स्पष्ट है कि 'श्वेत' (सफेद रंग) और 'कुन्त' (भाला) दोनों चेतना-शून्य वस्तुएं हैं और इसलिये अपने आप में न तो 'श्वेत' ही दौड़ने की क्रिया के कर्ता के रूप में सम्बद्ध प्रतीत हो सकता है और न 'कुन्त' को ही प्रवेश करने की क्रिया कर्ता के रूप में समन्वित समझा जा सकता है। अब इन वाक्यों में 'श्वेत' और 'कुन्त' रूप पदार्थों के दौड़ने और प्रवेश करने की क्रियाओं के कर्ता के रूप में समन्वित होने के लिए यह आवश्यक है कि ये अपने से भिन्न किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध (समवाय अथवा संयोग) से सम्बद्ध अर्थों जैसे कि 'घोड़े' और 'मनुष्य' आदि का आक्षेप अथवा प्रत्यायन करा दें। यहाँ पहला अर्थात् श्वेतो धावति' आदि उदाहरण तो रूढि में उपादानलक्षणा का उदाहरण है क्योंकि इसमें किसी अभिप्रायविशेष का प्रकाशन नहीं किया जा रहा (इस प्रकार की भाषा तो वस्तुतः प्रतिदिन के व्यवहार में दिखायी दिया करती है) है। किन्तु दूसरे अर्थात् 'कुन्ताः प्रविशन्ति' आदि के सम्बन्ध में तो यह स्पष्ट ही है कि यहाँ एक अभिप्राय-विशेष का प्रकाशन किया जा रहा है और वह अभिप्राय-विशेष है—'कुन्तों (भालों) की अतिगहनता—किसी घने जंगल के वृक्षों की सी असंख्येयता' (जिसके देखते लोग भाग खड़े हों)।

'उपादानलक्षणा' इस नाम से ही यह सिद्ध है कि इस लक्षणा में शब्द का मुख्यार्थ अपने से भिन्न अर्थ को तो लक्षित किया ही करता है किन्तु अपने आप को भी छोड़ा नहीं करता। वस्तुतः इसीलिए यह लक्षणा, 'लक्षणलक्षणा' से, (जिसका अभी प्रतिपादन किया जायगा) जिसमें शब्द का मुख्यार्थ, अपने आप को छोड़-छाड़कर अपने से भिन्न अर्थ को ही केवल लक्षित किया करता है, सर्वथा भिन्न प्रकार की लक्षणा

तु परस्यैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः । इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते ।

(२य : लक्षणलक्षणा)

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये ।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा ॥ ७ ॥

हुआ करती है । 'उपादानलक्षणा' की ही 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' भी कहा करते हैं (क्योंकि 'उपादान'-मुख्यार्थ का अपने स्वरूप को ग्रहण किये रहना और 'स्वार्थ का परित्याग न करना' दोनों एक ही बातें हैं) ।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'उपादानलक्षणा' और 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' को एक ही शब्दशक्ति मान कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आलंकारिकों और वैयाकरणों में लक्षणा के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐकमत्य है और जो भी भेद है वह व्यपेक्षाभेद से नाम का ही भेद है । महावैयाकरण नागेशभट्ट ने भी 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' के विवेचन में 'उपादान' का अभिप्राय अन्तर्भूत ही रखा है—

'स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिकाऽजहत्स्वार्था । तेन 'छत्रिणो यान्ति,' 'कुन्तान् प्रवेशय,' 'यष्टीः प्रवेशय,' 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इत्यादौ छत्रिसहितसेना-कुन्तात्र-सहितपुरुष-यष्टिसहितपुरुष-काकसहितसर्वदध्युपघातकबोधः ।'

(परमलघुमन्जूषा : लक्षणाविचार)

अर्थात् जिस वृत्ति को 'अजहत्स्वार्था वृत्ति' कहा जाया करता है उसमें स्वार्थसंवलित परार्थ के प्रत्यायन का ही रहस्य छिपा रहता है ।

यह **'स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधान'** और 'उपादान' **'स्वसिद्धये पराक्षेपः······उपादानम्'** वस्तुतः एक ही वस्तु के दो नाम हैं ।

अनुवाद—**जिस शक्ति के द्वारा किसी शब्द का मुख्यार्थ, किसी वाक्यार्थ में, अपने स्वरूप का इसलिये सर्वथा परित्याग कर दिया करता है जिससे वहां उससे भिन्न (किन्तु किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध) किसी अर्थ का युक्तियुक्त समन्वय स्थापित हो जाय और ऐसा करते हुए वह (मुख्यार्थ) एकमात्र लक्ष्यार्थ का उपलक्षक बन जाया करता है, वह शब्दशक्ति 'लक्षणलक्षणा' कही जाया करती है ।**

विमर्श—'लक्षणलक्षणा' में 'उपादान' के विपरीत 'लक्षण' का सिद्धान्त लागू हुआ करता है । 'लक्षण' का अभिप्राय है—**'परार्थं स्वसमर्पणम्'** (काव्यप्रकाश २-१०) अर्थात् अनुपपन्न होने वाले मुख्यार्थ का, मुख्यार्थभिन्न अर्थ के लिये आत्मसमर्पण । प्रदीपकार ने इसीलिए 'लक्षण' की यह परिभाषा की है—

'स्वार्थपरित्यागेन परार्थलक्षणं लक्षणम् ।'

अर्थात् 'उपादान' तो 'स्वार्थापरित्यागपूर्वक' परार्थ को लक्षित करना है और जो 'लक्षण' है उसका अभिप्राय है 'स्वार्थपरित्यागपूर्वक' परार्थ को लक्षित करना ।

यह 'लक्षणलक्षणा' ही 'जहत्स्वार्था वृत्ति' कही जाती है । काव्य-शास्त्र-व्याख्याता आचार्य मल्लिनाथ ने 'उपादान' और 'लक्षण' अर्थात् 'स्वार्थापरित्याग' और 'स्वार्थपरित्याग' पर आश्रित लक्षणाओं के भेदद्वय का इसी प्रकार निर्देश किया है—

'स्वार्थत्यागे समानेऽपि सह तेनान्यलक्षणा ।
यत्रेयमजहत्स्वार्था जहत्स्वार्था तु तं विना ॥'

(उदाहरण-निरूपण)

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा—'कलिङ्गः साहसिकः' 'गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः।

यथा वा—

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥'

परमलघुमंजूषाकार की भी दृष्टि 'लक्षणलक्षणा' अथवा 'जहत्स्वार्था वृत्ति' का यही स्वरूप है—

'स्वार्थपरित्यागेनेतरार्थाभिधायिकाऽन्यथा (जहत्स्वार्था) तत्परित्यागश्च शक्यार्थस्य लक्ष्यार्थान्वयिनाऽनन्वयित्वम्।'

अर्थात् 'जहत्स्वार्था वृत्ति' वह वृत्ति है जो कि स्वार्थपरित्यागपूर्वक परार्थ की अभिधायिका वृत्ति है। जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि में 'गङ्गा' पद में 'जहत्स्वार्था वृत्ति' है क्योंकि यहाँ गङ्गापद अपने (शक्यार्थरूप) 'प्रवाह' अर्थ का परित्याग कर रहा है। 'गङ्गा' शब्द के 'स्वार्थपरित्याग' का यही तात्पर्य है कि यहां 'गङ्गा' शब्द अपने लक्ष्यार्थभूत तट के साथ आधाराधेयभावसम्बन्ध से संबद्ध घोषरूप अर्थ से अनन्वित ही रह जाता है क्योंकि प्रवाह और घोष में आधाराधेयभावरूप से क्या सम्बन्ध! निष्कर्ष यही है कि 'जहत्स्वार्था वृत्ति' अथवा 'लक्षणलक्षणा' केवल परार्थमात्र का प्रतिपादन करने वाली शब्दशक्ति है।

अनुवाद—यह लक्षणा भी 'रूढि' और 'प्रयोजन' दोनों अवस्थाओं में हुआ करती है। जैसे कि रूढि में—'कलिङ्गः साहसिकः'—'कलिङ्ग साहसी है' और प्रयोजन के प्रतिपादनार्थ, जैसे कि—'गङ्गायां घोषः'—'यह कुटी (अथवा आभीरपल्ली) गङ्गा पर है।' यहाँ पहली अर्थात् 'रूढलक्षणलक्षणा' में यह स्पष्ट है कि 'कलिङ्ग' शब्द (जिसका मुख्यार्थ एक प्रान्तविशेष-एक जड वस्तु-है और इसलिए जिसमें 'साहस' जैसे चेतन-पदार्थ के धर्म का समन्वय असंभव है) अपने स्वरूप और स्वभाव को इसलिये सर्वथा छोड़ चुका है जिससे इससे लक्षित होने वाला, इससे सर्वथा भिन्न अर्थ अर्थात् कलिङ्गनिवासी व्यक्तिविशेषरूप अर्थ यहाँ (जैसा कि युक्तियुक्त ही है) समन्वित हो जाय। दूसरी अर्थात् 'प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा' में भी यह निःसंदिग्ध है कि 'गङ्गा' शब्द (जिसका मुख्यार्थ जल की धारा है जो कि कुटी अथवा आभीरपल्ली के अधिकरण (आधार) होने के कदापि योग्य नहीं) अपने आपको, अपने लक्ष्यार्थ अर्थात् 'तट' रूप अर्थ के लिये सर्वथा सौंप चुका है क्योंकि 'तट' रूप लक्ष्यार्थ ही यहाँ वाक्यार्थ में युक्तियुक्त हो सकता है जैसा कि वस्तुतः प्रतीत ही हो रहा है ('गङ्गातटे घोषः' के बदले 'गङ्गायां घोषः' का प्रयोग इसीलिये किया जाया करता है जिसमें गङ्गा की शीतलता और पवित्रता कुटी के वातावरण के रूप में प्रतीत हो जाया करे)।

अथवा निम्न उदाहरण में 'प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा' देख ली जाय :—

(किसी कुटिल व्यक्ति के प्रति उसके किसी सहृदय मित्र की मार्मिक उक्ति)—अरे मित्र! तुमने जो मेरी भलाइयाँ की हैं उनका कहाँ तक बखान करूँ। अरे! तुमने तो अपना सभी सौजन्य मुझ पर प्रकट कर दिया!! बस ऐसा ही करते जाओ और जीवनभर, भगवान् करे, सुखी रहा करो!!!'

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमप्यपकारातिशयः। इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते।

(उपर्युक्त लक्षणाओं के निमित्त-भेद से अन्य भेद)

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः।

यहाँ 'उपकृत,' 'सुजनता' आदि-आदि शब्द अपने मुख्यार्थ से सर्वथा भिन्न अर्थ जैसे कि 'अपकार,' 'दुर्जनता' आदि-आदि के आगे आत्मसमर्पण किये पड़े हैं क्योंकि यहाँ वाक्यार्थ में इन लक्षित अर्थों का ही समन्वय संभव है और युक्तिसिद्ध भी है। यहाँ 'लक्षणा' का स्वरूप इस प्रकार प्रकाशित हो रहा है—(मुख्यार्थबाध) 'उपकृत', 'सुजनता' आदि शब्दों का अपना-अपना मुख्यार्थ अनुपपन्न होने से बाधित है क्योंकि कुटिलता का व्यवहार करने वाले को भला क्योंकर कोई उपकारी और सौजन्यपूर्ण कह सके! साथ ही साथ (मुख्यार्थ योग) यहाँ 'उपकार' और 'अपकार', 'सुजनता' और 'दुर्जनता' आदि-आदि मुख्य और लक्ष्य अर्थों में एक सम्बन्ध भी स्पष्ट है जो कि 'वैपरीत्य' रूप सम्बन्ध है। इस प्रकार के प्रयोग का एक प्रयोजन भी है जो कि यहाँ कुटिल मित्र की कुटिलता (और वक्ता की सुजनता) की पराकाष्ठा का प्रतिपादन है।

यह लक्षणलक्षणा ही 'जहत्स्वार्था वृत्ति' कही जाया करती है क्योंकि 'लक्षण'—अर्थात् शब्द का स्वार्थसमर्पणपूर्वक परार्थ का प्रतिपादन तथा 'अपने अर्थ को छोड़-छाड़ देना' दोनों एक ही बातें हैं।

विमर्श—'उपकृतम्' आदि सूक्ति में साहित्यदर्पणकार ने 'लक्षणलक्षणा' का जो दिग्दर्शन किया है वह आचार्य मम्मट के 'शब्दव्यापारविचार' (पृष्ठ ४) में इस प्रकार विशद रूप से निर्दिष्ट है—

'यथा वा 'उपकृतम्'......बहुभिरपकारैस्तप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम्। अतो वक्तृमहिम्ना मूर्खे बृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वमत्र लक्ष्यते।' और इसका जो तात्पर्य है वह यह है—'यत् त्वया बहु उपकृतं तद्विषये किं वाच्यम्। बहुत्वादुपकाराणां वक्तुं न शक्यते इत्यर्थः। भवता परं केवलं सुजनता प्रथिता प्रकटीकृता...... हे सखे! तस्मादहीशमेव सदा विदधत् शरदां वर्षाणां शतं सुखितं सुखयुक्तं यथा स्यात्तथा आस्स्व तिष्ठेति मुख्योऽर्थः। स एव प्रकरणादिना बुद्ध्यापकारिभावं प्रति बाधितः सन् विपरीतं लक्षयति। तद्यथा—उपकृतमपकृतम् सुजनता दुर्जनता।' (उदाहरणचन्द्रिका)

ऐसे प्रसङ्गों में लक्षणा के स्वरूपविचार के लिये मम्मट द्वारा उद्धृत यह वचन स्मरण रखना चाहिये—

'वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद्विभिद्यते।'

अनुवाद—उपर्युक्त लक्षणाओं में भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' के कारण दो-दो भेद दिखायी दिया करते हैं।

यहाँ 'उपर्युक्त लक्षणाओं' का अभिप्राय है—चारों प्रकारों की लक्षणाओं का।

विमर्श—'आरोप' और 'अध्यवसान' उपचार के ही रूपभेद किंवा प्रकारभेद हैं। उपचार का व्यापक अर्थ भी है पारिभाषिक भी। व्यापक अर्थ में उपचार का तात्पर्य है—

'...अतद्भावेऽपि तदुपचारः' (न्यायसूत्र २. २. ६१) अर्थात् किसी सम्बन्ध-विशेष के कारण किसी वस्तु का उसके अवाचक पद द्वारा व्यपदेश अथवा अभिधान। न्यायभाष्यकार आचार्य वात्स्यायन ने इसे इस प्रकार समझाया है—'अतद्भावेऽपि तदुपचार इति–अतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति। सहचरणाद् यष्टिकां भोजयेति, यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयते। आचार्य उद्योतकर के अनुसार उपर्युक्त 'उपचार' का यह स्वरूप है—

'निमित्तादतद्भावेऽपि तदुपचारः।......यथा यष्टिकाशब्देन द्रव्यविशेषोऽभिधीयते इति यष्टिकाशब्दात्तु पुनः साहचर्याद् ब्राह्मणविशेषोऽभिधीयते।...किं पुनरत्रोपचारबीजं यष्टिका ब्राह्मण इति।......यष्टिकायां तावदयं यष्टिकाशब्दो जातिनिमित्तः यष्टिकात्वं जातिः सा यष्टिकायां वर्तते तया यष्टिकात्वयुक्तया यष्टिकया ब्राह्मणस्य योगः साहचर्यात् संयुक्तसमवेतां जातिं ब्राह्मणेऽध्यारोप्य ब्राह्मणं यष्टिकेत्याह। एवं शेषाण्युपचारबीजानि स्वयमुत्प्रेक्षणीयानि।'—(न्यायवार्तिक २. २. ६१)

अर्थात् किसी न किसी निमित्तविशेष से किसी अन्य वस्तु के लिये किसी अन्य वस्तुवाचक शब्द का प्रयोग करना 'उपचार' है। जैसे कि—**'यष्टिकां भोजय'** आदि प्रयोगों में निमन्त्रित ब्राह्मणादि के लिये 'यष्टिका' शब्द का प्रयोग 'उपचार' है। उपचार के अनेकानेक बीज अथवा निमित्त संभव हैं। 'यष्टिका' शब्द जातिवाचक शब्द है जिसका अर्थ है 'छड़ी'। 'ब्राह्मण' के लिये 'यष्टिका' (छड़ी) शब्द के प्रयोग में 'ब्राह्मण' और 'यष्टिका' का साहचर्य ही निमित्त है। इसी प्रकार अन्य औपचारिक प्रसङ्गों में अन्य उपचार बीज देखे जा सकते हैं।

अलङ्कारशास्त्र में 'उपचार' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार 'उपचार' का अभिप्राय है—'...**अत्यन्तं विशकलितयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्**' अर्थात् परस्पर भिन्न दो वस्तुओं में, उनके सादृश्यातिशय के कारण, भेद के अवभास का स्थगित हो जाना। 'उपचार के अमिश्रण में लक्षणा 'शुद्धा' कही जाती है।' **उभयरूपा चेयं शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्**—(काव्यप्रकाश उल्लास २)—यह काव्यप्रकाशकार का 'उपचार-विचार' साहित्यदर्पणकार के 'उपचारलक्षण' से एकरूप है। 'प्रदीप'कार ने इसीलिये दोनों का सामञ्जस्य निर्दिष्ट किया है—

'उपचारश्च सादृश्यसंबन्धेन प्रवृत्तिः, सादृश्यातिशयमहिम्ना भिन्नयोर्भेदप्रतीतिस्थगनं वा।'

अर्थात् सादृश्यसम्बन्ध से शब्दप्रयोग 'उपचार' है अथवा यह भी कह सकते हैं कि सादृश्यातिशय के कारण परस्पर भिन्न दो वस्तुओं के भेद की प्रतीति का स्थगित होना ही 'उपचार' है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आलङ्कारिकों ने, व्यापक किंवा पारिभाषिक दोनों अर्थों में 'उपचार' शब्द का प्रयोग किया है। जैसे कि काव्यप्रकाशकार ने ही अपनी उपर्युक्त वृत्ति में तो 'उपचार' का अभिप्राय सादृश्यातिशय से किसी वस्तु के लिये किसी अन्यवस्तुवाचक शब्द का प्रयोग किया है किन्तु **'क्वचित्तादर्थ्यादुपचारः......'** आदि वृत्ति-वाक्य में उपचार को अन्यनिमित्तक भी निर्दिष्ट कर दिया है। प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में 'उपचार' के सम्बन्ध में दोनों विचारधारायें दिखायी देती है। अभिधावृत्तिमातृकाकार आचार्य मुकुल भट्ट ने 'उपचार' के सामान्य और पारिभाषिक दोनों अर्थों को मिला कर 'शुद्धोपचार' और 'गौणोपचार' का सिद्धान्त स्थापित किया था। वस्तुतः इसी का प्रभाव काव्यप्रकाशकार के उपचारसम्बन्धी अभिप्रायद्वैविध्य पर पड़ा है। साहित्यदर्पणकार ने केवल 'सादृश्यातिशय'–निमित्तक उपचार को ही उपचार माना है। किन्तु शुद्धा लक्षणाओं में भी 'आरोप' और 'अध्यवसान' को मानते हुए उपचार का सामान्य अर्थ भी स्वीकार किया है।

(सारोपा और साध्यवसाना लक्षणायें)

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥ ८ ॥
सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

अनुवाद—वह लक्षणा 'सारोपा' लक्षणा कही जाया करती है जिसमें 'विषय (अर्थात् आरोप विषय-जिस पर आरोप किया जाय) अपने स्वरूप में विराजमान रहते हुये भी अपने से भिन्न अर्थात् विषयी (अर्थात् आरोप्यमाण-जिसका आरोप किया जाय, उस) के साथ एकरूप अभिन्न-प्रतीत हुआ करता है। और वह लक्षणा जिसे 'साध्यवसानिका' लक्षणा कहा करते हैं ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा आच्छन्न-स्वरूप 'विषय' के अभेद का अनुभव हुआ करता है।

विमर्श—'आरोप' (अध्यारोप) का अभिप्राय है दो परस्पर भिन्न पदार्थों का 'सामानाधिकरण्य' द्वारा निर्देश। परस्पर भिन्न दो पदार्थों का 'सामानाधिकरण्य' द्वारा निर्देश तभी संभव है जब कि सादृश्यातिशय के कारण उनमें अभेद अभिप्रेत हो। आचार्य मुकुलभट्ट ने 'आरोप' का उपर्युक्त अभिप्राय इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'यत्राध्यारोप्यारोपविषययोर्भेदमनपह्नुत्यैव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते, तत्रानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वादध्यारोपः।...तथा हि—आयुर्घृतमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्तिः। स्वरूपेणैव तस्य प्रतिपत्तेः। स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुःकारणत्वादायुष्ट्वं प्रतीयते। तेनाऽत्राध्यारोपः। एवं गौर्वाहीक इत्यत्राप्युपमानोपमेयस्वरूपानपह्नवात्। तदेवं यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूपं नापह्नूयते तत्राध्यारोपः।' (अभिधावृत्तिमातृका, पृष्ठ ८)

अर्थात् आरोप का अभिप्राय है 'अध्यारोप' का। 'अध्यारोप' दो की अपेक्षा करता है—(१) अध्यारोप्य और (२) आरोपविषय। जब 'अध्यारोप्य' और 'आरोपविषय' के परस्पर भेद को बिना छिपाये ही पहली वस्तु पर दूसरी वस्तु का, जो उससे अधिक गुण वाली हो आरोप किया जाय, पहली के लिए दूसरे के वाचक पद का प्रयोग किया जाय, तब वहाँ यह समझा जाता है कि 'अध्यारोप' हुआ है जैसे कि—'आयुर्घृतम्' इस प्रयोग में 'अध्यारोप' है। यहाँ यह स्पष्ट है कि 'घृत' और 'आयु' परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं। 'घृत' आयुवृद्धि का कारण है और 'आयु' घृत-सेवन का फल है। अब 'घृत' को अर्थात् (आयुष्य के) कारण को 'आयु' अर्थात् कार्य कहना उपचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है! यह उपचार ऐसा है जिसमें विषय और विषयी दोनों अपने-अपने वाचक शब्दों द्वारा उपस्थित किये गये हैं। इसी प्रकार 'गौर्वाहीकः' आदि प्रयोगों में भी 'उपचार' ही है जहाँ उपचर्यमाण-विषय (आरोपविषय) 'वाहीकः' किंवा उपचर्यमाण (आरोप्यमाण अथवा विषयी) 'गौः'-दोनों अपने स्वरूप में विद्यमान है और दोनों का 'सामानाधिकरण्य' भेद में भी अभेदावभास का साधक बन रहा है।

'अध्यवसान' का तात्पर्य है—आरोप विषय (जैसे कि 'गौरयम्' में 'अयम्'—कोई निर्दिष्ट पुरुष-विशेष) का आरोप्यमाण (जैसे कि 'गौरयम्' में गौः) में अन्तर्लय, जिसमें 'आरोपविषय' का स्वरूप पृथक् न प्रतीत हुआ करे। आचार्य मुकुलभट्ट के शब्दों में 'अध्यवसान' का यही स्वरूप निर्दिष्ट है—

'यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नवः क्रियते तत्राध्यवसानम्।' —(अभिधावृत्तिमात्रिका, पृष्ठ ८)

(उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के उदाहरण)

विषयिणा अनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा। इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा—'अश्वः श्वेतो धावति'। अत्र हि श्वेतगुणवानश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते।

प्रयोजने यथा—'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'। अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुष-निर्देशात्।

आरोप' और 'अध्यवसान' की सरल परिभाषा यह है—

आरोपविषयविषयिणोर्भेदेनोपन्यासः आरोपः।

अर्थात् आरोप-विषय और आरोप्यमाण (विषयी) का भेदपूर्वक जो उपन्यास है वह 'आरोप' है।

अध्यवसानविषयिणा विषयतिरोभावोऽध्यवसानम्।

अर्थात् आरोप्यमाण (विषयी) के द्वारा आरोप-विषय का जो तिरोभाव अथवा स्वरूपापह्नव है वह 'अध्यवसान' है।

अनुवाद—लक्षणा के 'सारोपा' होने का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की लक्षणा आरोप के विषय और उसके विषयी में ऐसा अभेद बतलाया करती है जिसमें 'विषय' का स्वरूप 'विषयी' के द्वारा ढँका-ढँकाया नहीं प्रतीत हुआ करता। यही लक्षण वस्तुतः रूपक-अलङ्कार का बीज है। उदाहरण के लिये, रूढि में आरोपगर्भित उपादान लक्षणा (रूढोपादानसारोपा)—'अश्वः श्वेतो धावति' 'सफेद घोड़ा दौड़ रहा है' इत्यादि में देखी जा सकती है। 'यहाँ सफेद रंग वाला घोड़ा दौड़ रहा है यही अभिप्राय निकला करता है। वस्तुतः बात यह है कि 'सफेद रंग वाला घोड़ा' न कहकर 'सफेद घोड़ा' ही कहा जाया करता है क्योंकि इस प्रकार के प्रयोग की एक रूढि अथवा परम्परा चली आ रही है। साथ ही साथ यहाँ 'श्वेत' शब्द एक रंगविशेष का अभिप्राय रखने के कारण 'दौड़ता है' इस क्रिया के साथ असम्बद्धार्थक सा होकर, इस वाक्यार्थ में समन्वित हो सकने के लिये, अपने मुख्यार्थ को बिना छोड़े-छाड़े भी, अपने से भिन्न (किन्तु समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध) 'श्वेत गुण युक्त' रूप पदार्थ का बोधक हो रहा है और इस प्रकार यहाँ 'उपादान' का सिद्धान्त सर्वथा लागू दिखायी दे रहा है। इसके अतिरिक्त यहाँ 'आरोप' भी स्पष्ट है क्योंकि आरोप के विषय 'अश्व' का स्वरूप विषयी अर्थात् 'श्वेत' से ढका नहीं है (क्योंकि दोनों साक्षात् शब्दतः प्रतिपादित हैं) और तब भी 'अश्व' रूप द्रव्य और उसमें समवायसम्बन्ध से रहने वाला श्वेत रूप गुण दोनों परस्पर अभिन्न रूप से बताये जा रहे हैं (क्योंकि बिना ऐसा हुये 'श्वेत' और 'अश्व' शब्दों का सामानाधिकरण्य = समानविभक्ति द्वारा उपादान—कदापि नहीं हो सकता)।

प्रयोजन की विवक्षा में, उपादानवती सारोपा लक्षणा (प्रयोजनवती सोपादान सारोपा लक्षणा) इस प्रकार के प्रयोगों, जैसे कि 'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'—'ये भाले प्रवेश कर रहे हैं' आदि में देखी जा सकती है। यहाँ 'आरोप' स्पष्ट है क्योंकि 'एते'—'ये'—इस सर्वनाम शब्द से निर्दिष्ट लोगों (अनिगीर्ण स्वरूप विषय) और 'कुन्ताः'—'भाले' (विषयी) इन दोनों के तादात्म्य (अभेद) का पता चल रहा है (जिससे इस दृश्य की भयावहता बढ़ती प्रतीत हो रही है)।

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'। अत्र कलिङ्ग-पुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः।

प्रयोजने यथा—'आयुर्घृतम्'। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्धसम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

यथा वा—राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति। अत्र स्वस्वामि-भावलक्षणः सम्बन्धः। यथा वा—अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्'। अत्रावय-वावयविभावलक्षणसम्बन्धः। 'ब्राह्मणेऽपि तक्षाऽसौ'। अत्र तात्कर्म्यलक्षणः।

इसी प्रकार रूढि में आरोप गर्भित लक्षण लक्षणा (रूढ सारोपा लक्षणलक्षणा) ऐसे प्रयोगों, जैसे कि 'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'—'यह कलिङ्ग पुरुष लड़ा रहा है'-इत्यादि में देखी जा सकती है। जहाँ 'कलिङ्ग' (देश विशेष और) 'पुरुष' में 'आधार' और 'आधेय' का सम्बन्ध होने के कारण 'कलिङ्ग' (विषयी) और 'पुरुष' (विषय) का अभेद भी (सामानाधिकरण्य अर्थात् एक विभक्ति के प्रयोग में) स्पष्ट पता चलता रहा है (और यह तो निश्चित ही है कि 'कलिङ्ग' शब्द अपने देशविशेष रूप मुख्यार्थ का सर्वथा परित्याग कर एकमात्र 'कलिङ्ग निवासी' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है अन्यथा यहाँ वाक्यार्थ में इसका समन्वय कैसे ?)

प्रयोजन के प्रतिपादन में आरोप गर्भित लक्षणलक्षणा (प्रयोजनवती सारोपा लक्षण-लक्षणा) का उदाहरण है—'आयुर्घृतम्'-'घी आयु है'। यहाँ 'आरोप' का अभिप्राय है—'घृत', जो दीर्घ जीवन का कारण है और 'आयु'-'दीर्घजीवन', जो घृत के सेवन का परिणाम है—दोनों में तदात्म्य अथवा अभेद की प्रतीति (साथ ही साथ यहाँ 'आयु' शब्द अपने मुख्यार्थ (दीर्घ जीवन) का सर्वथा परित्याग कर इस मुख्यार्थ से कार्यकारण-भावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध, 'आयु के कारण' रूप अर्थ का उपलक्षक हो रहा है)। यहाँ जिस उद्देश्यविशेष के बोध के लिये 'आयुर्घृतम्' कहा गया है वह है अन्य पौष्टिक पदार्थों की अपेक्षा घृत की संजीवन शक्ति का आधिक्य।

इसी प्रकार मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में अन्यान्य अनेकों सम्बन्ध जहां-तहां दिखाई पड़ा करते हैं जिनके आधार पर लक्षणा टिका करती है जैसे कि जब कोई राज-कर्मचारी जा रहा हो तो लोग कह उठते हैं—'वह राजा साहब जा रहे हैं' (राजाऽसौ गच्छति)। अब यहां जो बात है वह है 'असौ'-'वह' (राजकर्मचारी) और 'राजा'-दोनों (अर्थात् विषय और विषयी (का स्पष्टतया अपने-अपने शब्दों द्वारा उपादान किंवा दोनों में अभेद का प्रत्यायन, जिसका कारण है दोनों का स्वस्वामिभावरूप सम्बन्ध से सम्बद्ध रहना (इस प्रकार यहां भी सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दे रही है)। अथवा जब केवल अपने या किसी दूसरे के हाथ के अगले हिस्से को लक्ष्य कर कहा जाता है—'यह हाथ' (हस्तोऽयम्) तब भी वस्तुतः रूढसारोपा लक्षणलक्षणा का ही आश्रय लिया गया प्रतीत होता है क्योंकि 'हाथ' और 'हाथ के अगले हिस्से' में अवयवावयविभाव सम्बन्ध विराजमान है (हाथ तो अवयवी है और उसका अगला हिस्सा उसका अवयव है) जिसके कारण 'अयम्' 'यह' (विषय) और 'हस्तः'-'हाथ' (विषयी) अभेदारोप स्पष्ट प्रतीत होता है। इसी प्रकार जब तक तक्षण-कला में कुशल किसी ब्राह्मण के लिये कहा जाता है—'वह तो बढ़ई है (तक्षाऽसौ) तब वहां भी

इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः'। अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। एवमन्यत्रापि। निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्साध्यवसाना। अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव। तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा।

प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा स्पष्ट दिखायी दिया करती है क्योंकि 'असौ'–'यह ब्राह्मण' और 'तक्षा'–'बढ़ई'–दोनों में 'तात्कर्म्य' (जो जिसका कार्य न हो उसका उस कार्य में सामर्थ्य) रूप सम्बन्ध विद्यमान है जिसके कारण दोनों में अभेद-प्रतीति स्पष्ट है और साथ ही साथ यहाँ निर्दिष्ट व्यक्ति के तक्षण-कौशल के भी प्रकाशित करने का उद्देश्य झलक रहा है। इसी भांति जब यज्ञ में इन्द्र के उद्देश्य से स्थापित 'स्थूणाओं (स्तम्भों) को लक्ष्य कर कहा जाता है—'अमी इन्द्राः'–'ये रहे इन्द्र' तब वहां भी प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा ही दिखायी दिया करती है क्योंकि 'अमी' अर्थात् स्थूणाओं (स्तम्भों) और 'इन्द्राः'–'इन्द्र' दोनों में 'तादर्थ्य' (एक के, दूसरे के उद्देश्य से, प्रतीक रूप से अवस्थान) का सम्बन्ध विराजमान है जिसके कारण दोनों में तादात्म्य की प्रतीति करवायी गयी है और साथ ही साथ इन्द्र की पूज्यता के भाव को स्थूणाओं में प्रतिष्ठित करने का उद्देश्य भी स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। इसी भांति के अनेकानेक अन्य प्रयोग हुआ करते हैं जहाँ सारोपा लक्षणलक्षणा का दर्शन किया जा सकता है।

अब वह लक्षणा जिसमें 'अध्यवसान' का सिद्धान्त लागू रहा करता है (साध्यवसाना लक्षणा) ऐसी हुआ करती है जिसमें 'विषयी' के द्वारा अन्तर्हित किये हुये (और इसीलिये शब्दतः अनुपात्त) 'विषय' का 'विषयी' के साथ तादात्म्य अथवा अभेद बताया जाया करता है। इस लक्षणा के चारों प्रकारों को उपर्युक्त सारोपा लक्षणा के उदाहरणों–(के किंचित परिवर्तन) द्वारा समझा जा सकता है (जैसे कि रूढ साध्यवसाना उपादान-लक्षणा–'श्वेतो धावति'—'सफेद दौड़ रहा है' प्रयोजनवती साध्यवसाना उपादान लक्षणा 'कुन्ताः प्रविशन्ति'–'भाले प्रवेश कर रहे हैं'। यहां श्वेतः' और 'कुन्ताः' ये विषयी तो शब्दतः उपात्त हैं किन्तु 'अश्वः' और 'एते' ये आरोप–विषय अन्तर्हित हैं और इसलिये शब्दतः प्रतिपादित नहीं किये गये)। इसी प्रकार रूढ साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा–'कलिङ्गः साहसिकः'–'कलिङ्ग साहसी है'–और प्रयोजनवती साध्यवसाना लक्षण-लक्षणा–'गङ्गायां घोषः'–'गङ्गा पर कुटी है' यहां भी 'कलिङ्गः' और 'गङ्गायां'-ये दोनों 'विषयी' तो विद्यमान हैं किन्तु आरोप विषय जैसे कि 'असौ' और 'अत्र' विद्यमान नहीं। किन्तु दोनों में अभेद का बोध स्वभावतः हो रहा है।

विमर्श—(क) 'सारोपा लक्षणा रूपक अलङ्कार का बीज है' (**इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्**) यह अलङ्कारशास्त्र की परम्परागत मान्यता है। 'रूपक' अलङ्कार के स्वरूपोत्थान में प्रकृत और अप्रकृत (उपमेय और उपमान) का 'अभेदप्राधान्य' कारणरूप से रहा करता है। उपमेय और उपमान में 'अभेदप्राधान्य' तभी संभव है जब कि उनके भेद का वास्तविक सद्भाव अक्षुण्ण हो। 'प्रधान'–और 'अप्रधान' शब्द परस्पर सापेक्ष शब्द हैं। 'अभेद की प्रधानता' से ही भेद की अप्रधानता (और इसीलिये भेद-सद्भाव) का निष्कर्ष निकल पड़ता है। अभेद की प्रधानता (किंवा भेद-सद्भाव की अवश्यंभाविता) 'आरोप' में ही संभव है, 'अध्यवसान' में नहीं। 'आरोप' में ही यह संभव है कि विषय और विषयी (उपमेय और उपमान) पृथक् भी निर्दिष्ट हों और अभिन्न रूप से भी प्रतीत हुआ करें (**विषयविषयिणोः पृथङ्निर्दिष्टयोरभेद आरोपः**–रसगङ्गाधर–द्वितीय आनन)। 'आरोप' भी शब्दारोप नहीं अपि तु अर्थारोप है।

(निमित्तभेद से उपर्युक्त लक्षणा-भेदों के अन्य प्रभेद)

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः ॥ ९ ॥

(शुद्धा और गौणी लक्षणाओं के दृष्टान्त)

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः । सादृश्येतरसंबन्धाः कार्यकारणभावादयः । अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव । रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा—

'मुखं चन्द्रः' में आरोप है अर्थात् प्रकृत (विषय अथवा उपमेय) 'मुख' और अप्रकृत विषयी अथवा उपमान) 'चन्द्र' में, भेद के सद्भाव में भी, अभेद विवक्षित है किन्तु यहां 'मुख' शब्द पर 'चन्द्र' शब्द का आरोप नहीं क्योंकि दोनों शब्द पृथक्-पृथक् अपने-अपने स्वरूप में प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। यहां जो बात है वह है मुखरूप उपमेयभूत पदार्थ पर चन्द्ररूप उपमानभूत पदार्थ का आरोप। ऐसा 'आरोप' भ्रान्तिवश नहीं अपि तु प्रयोजनवश ही किया जाया करता है। इस प्रकार 'आरोप' अथवा अपने-अपने स्वरूप में विराजमान 'विषय' और 'विषयी' (उपमेय और उपमान) के अभेदावभास के ही फलक पर रूपकालङ्कार की रूपरेखा खिंचा करती है। इसी प्रकार विषय और विषयी (आरोपविषय और आरोप्यमाण) में उनके परस्पर पृथक् से उपस्थित होने पर भी तादात्म्य प्रतीति सारोपा लक्षणा की प्रतीति है। 'रूपक' में आरोप चमत्कार का कारण हुआ करता है इसलिये रूपक को 'अलङ्कार' कहा जाया करता है। 'लक्षणा' में आरोप वाग्व्यवहार का स्वभाव हुआ करता है इसलिये उसे लोकयात्रा का निर्वाहक माना गया है।

(ख) 'अरोप' की भांति 'अध्यवसान' में भी 'तादात्म्य' अथवा 'अभेद की ही प्रतीति हुआ करती है किन्तु 'आरोप' में होने वाली अभेदप्रतीति की अपेक्षा 'अध्यवसान' में होने वाली अभेदप्रतीति अधिक उत्कट हुआ करती है (**आरोपादभेदेऽध्यवसायः प्रकृष्यते**-अलङ्कार-सर्वस्व)। इसका कारण यही है कि 'अध्यवसान' में विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) पृथक् रूप से निर्दिष्ट नहीं रहा करते। 'अध्यवसान' में तो विषयी (उपमान) अपने विषय (उपमेय) को ऐसे ढक लिया करता है विषयों के अतिरिक्त विषय का अस्तित्व ही नहीं रह पाता (**अपृथङ्निर्दिष्टे विषये विषय्यभेदोऽध्यवसानम्**—रसगङ्गाधर-द्वितीय आनन) यह 'अध्यवसान' उत्प्रेक्षालङ्कार का बीज है (**तदेवं विषयस्य निगीर्यमाणत्वाद्विषयिणश्च निश्चयात् सिद्धमध्यवसायमूलत्वमस्या (उत्प्रेक्षाया) इति यथोक्तमेव (उत्प्रेक्षा०) लक्षणं पर्यालोचिताभिधानम्**—जयरथ-अलङ्कारसर्वस्वविमर्शिनी)।

अनुवाद—ये उपर्युक्त अष्टविध (चार प्रकार की सारोपा और चार प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणायें भी 'शुद्धा' और 'गौणी'-इन दो भेदों में विभक्त होकर १६ प्रकार की हुआ करती हैं। 'शुद्धा' का अभिप्राय है-उपर्युक्त अष्टविध लक्षणाओं में सादृश्यरूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के ही सम्बन्ध जैसे कि कार्यकारणभावादिरूप सम्बन्ध का पाया जाना और 'गौणी' का तात्पर्य है उपर्युक्त अष्टविध लक्षणाओं में सादृश्य सम्बन्ध का ही प्रयोजक होना।

अनुवाद—यहां कारिका में 'ताः'-'उन' (लक्षणाओं) का अभिप्राय है पूर्वोक्त आठों प्रकारों की (४ प्रकार की सारोपा + ४ प्रकार की साध्यवसाना) लक्षणाओं का। 'सादृश्येतरसम्बन्धाः'-'सादृश्य रूप सम्बन्ध से भिन्न प्रकार के सम्बन्धों से सम्बद्ध होने' का तात्पर्य है कार्यकारणभाव आदि-आदि रूप सम्बन्धों से सम्बद्ध होने का। इन लक्षणाओंमें 'शुद्धा' लक्षणाओं के तो उदाहरण वे ही हैं जिन्हें अभी-अभी निर्दिष्ट किया जा चुका है

'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'। अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायैव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्त्तते। प्रयोजने यथा—राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा-'तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा-'राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'।

(जैसे कि 'अश्वः श्वेतो धावति' आदि-आदि)। अब 'गौणी' लक्षणाओं के जो उदाहरण हैं वे ये हैं जैसे कि—रूढि में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा—'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'—ये वे तेल हैं जो हेमन्तऋतु में सुखकर हुआ करते हैं।

यहाँ लक्षणा के उपादानवती (और साथ ही साथ रूढि में गौणी सारोपा) होने का अभिप्राय यह है कि 'तैल' शब्द अपने मुख्य अर्थ अर्थात् तिलों से निकाले गये स्नेहन-पदार्थरूप अभिप्राय को बिना छोड़े हुए ही सरसों आदि-आदि से निकाले गये स्नेहन पदार्थों का बोधक हो रहा है (क्योंकि तिल और सरसों आदि पदार्थों में स्निग्धता का सादृश्य सर्वविदित है) साथ ही साथ यहाँ रूढि भी स्पष्ट है क्योंकि 'तैल' शब्द प्रायः समस्त स्निग्ध पदार्थों के निचोड़ के लिये व्यवहृत हुआ करता है। इसके अतिरिक्त 'एतानि' (विषय) और 'तैलानि' (विषयी) दोनों पृथक् पृथक् निर्दिष्ट हैं और दोनों में अभेद का भी अनुभव हो रहा है जो कि 'सामानाधिकरण्य' से वस्तुतः प्रतिपादित किया हुआ है)।

प्रयोजन में गौणी सारोपा उपादानलक्षणा जैसे कि—'एते राजकुमाराः गच्छन्ति'—'ये राजकुमार लोग चले जा रहे हैं'—यह वाक्य। ऐसा वाक्य वस्तुतः राजकुमारों को ही जाते हुए निर्दिष्ट कर नहीं बोला जाया करता अपि तु राजकुमारों जैसे लगने वाले सुन्दर नवयुवकों को भी लक्ष्य कर बोला जाया करता है (यहाँ यह स्पष्ट है कि 'एते' (विषय) और 'राजकुमाराः' (विषयी) दोनों का, पृथक् निर्देश होने से, अभेदारोप किया गया है और ऐसे आरोप में सादृश्यसम्बन्ध के ही एकमात्र निमित्त होने से लक्षणा का गौणी होना भी स्वयंसिद्ध है। साथ ही साथ यहाँ 'राजकुमाराः' यह शब्द अपने मुख्यार्थ को बिना छोड़े हुए भी अपने मुख्यार्थ से भिन्न सजे-धजे सुन्दर युवकों को लक्षित कर रहा है जिसमें उपादान का स्वरूप स्पष्ट प्रतीत हो रहा है। ऐसे प्रयोग का एक प्रयोजन भी है और वह है यहाँ निर्दिष्ट लोगों की रोबीली चाल-ढाल आदि की ओर संकेत करना)।

रूढि में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि—'तैलानि हेमन्ते सुखानि'—तेल हेमन्त ऋतु में आनन्द दिया करते हैं' और प्रयोजन में साध्यवसाना गौणी उपादानलक्षणा जैसे कि—'राजकुमाराः गच्छन्ति'—'राजकुमार लोग चले जा रहे हैं' (यहाँ दोनों उदाहरणों में रूढि और प्रयोजन-प्रतिपादन तो क्रमशः स्पष्ट ही है। साथ ही साथ 'तैलानि' और 'राजकुमाराः' (विषयी) के द्वारा 'एतानि' और 'एते' (विषय) का स्वरूप अन्तर्निगीर्ण है जिसमें अध्यवसानमूलक अभेद सिद्ध हो रहा है)।

रूढि में गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि—'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'—'राजा अपने कांटे गौड़राज को उखाड़ रहा है'। [यहाँ 'कण्टक' शब्द अपना आत्मसमर्पण कर रहा है क्योंकि बिना ऐसा किये यहाँ के वाक्यार्थ में 'गौडेन्द्र' शब्द की संगति नहीं बैठ सकती। भला 'कण्टकम्' और 'गौडेन्द्र'—में कैसा सामानाधिकरण्य! यह सामा-

प्रयोजने यथा—'गौर्वाहीकः'। रूढौ लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'राजा कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा—'गौर्जल्पति'।

नाधिकरण्य तो गौडराज और कांटे में दुःखदायी होने के सादृश्य के ही कारण संभव है। इस प्रकार 'कण्टक' शब्द वस्तुतः 'दुःखद नीच शत्रु'-इस अर्थ का ही उपलक्षक मात्र है (गौणी लक्षणलक्षणा)। यहाँ रूढि है क्योंकि क्षुद्र शत्रु के लिये 'कण्टक' शब्द प्रयोग-प्रवाह में पड़ निकला है। साथ ही साथ पृथक्-पृथक् निर्दिष्ट 'कण्टकम्' (विषयी) और 'गौडेन्द्रम्' (विषय) दोनों में तादात्म्य अथवा अभेद भी प्रतीत ही हो रहा है—सारोपा लक्षणा]।

प्रयोजन में, गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा जैसे कि—गौर्वाहीकः'—'वाहीक (पञ्जाबी) बैल है, (यहाँ 'गौः' बैल' और 'वाहीक'—पञ्जाबी किसी व्यक्ति'—में मूर्खता का सादृश्य होने से गौणी लक्षणा का स्वरूप स्पष्ट दिखायी दे रहा है। इस प्रकार के प्रयोग से उस व्यक्ति की अत्यधिक मूर्खता का प्रकाशन ही यहाँ वक्ता का प्रयोजन है। साथ ही 'गौ' शब्द मूर्ख का ही उपलक्षण करने में चरितार्थ है जिसमें लक्षणलक्षणा की रूपरेखा स्पष्ट झलक रही है)।

रूढि में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि—'राजा कण्टकं शोधयति'—'राजा कांटे को उखाड़ रहा है' (यहाँ रूढि तो इसलिये है क्योंकि 'कण्टक' शब्द क्षुद्रशत्रु के अर्थ में साधारणतया प्रयुक्त हुआ करता है; साथ ही यहाँ अध्यवसान के सिद्धान्त को भी लागू देख सकते हैं क्योंकि 'कण्टक'-इस 'विषयी' के द्वारा 'गौडेन्द्र'-यह विषय अन्तर्निगूढ पड़ा है जिसमें दोनों का सर्वथा भेदाभाव स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है, इसके अतिरिक्त 'कण्टक' और 'गौडेन्द्र' के बीच लक्षणा-प्रयोजक दुःखदायित्वरूप गुण का सादृश्य भी स्पष्ट है और साथ ही साथ 'कण्टक' शब्द एकमात्र क्षुद्रशत्रु का ही उपलक्षक हो रहा है क्योंकि अपने मुख्यार्थ में तो इसका यहाँ के वाक्यार्थ में, समन्वय होने से रहा)।

प्रयोजन में, गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा जैसे कि—'गौर्जल्पति'-'बैल बोल रहा है' (यहाँ किसी मूर्ख व्यक्ति को बोलते देख वक्ता ने जो 'गौर्जल्पति' जैसा वाक्य प्रयुक्त किया है उसमें उसका उद्देश्य वस्तुतः उस व्यक्ति की मूर्खता की पराकाष्ठा का ही प्रतिपादन है। निर्दिष्ट व्यक्ति और बैल में मूर्खता के गुण का सादृश्य ही यहां लक्षणा का प्रयोजक है। साथ ही साथ 'गौ' इस विषयी के द्वारा आरोप के विषय-'वाहीक'—के स्वरूप के सर्वथा अन्तर्हित होने से लक्षणा का साध्यवसाना होना भी निःसंदिग्ध है। इसके अतिरिक्त 'गौ' शब्द एकमात्र मूर्खरूप अर्थ का ही उपलक्षण है जिसमें 'लक्षण' भी अथवा 'किसी शब्द के, अपने अर्थ से भिन्न अर्थ के लिये, आत्मसमर्पण' का अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत हो जाता है)।

'गौर्वाहीकः' किं वा 'गौर्जल्पति' आदि लाक्षणिक प्रयोगों में लक्षणा के रहस्य के उद्घाटन में विद्वानों का कुछ मतभेद है। जैसे कि कुछ लोगों का कहना है—'वाहीक बैल है'—इस प्रयोग में लक्षणा के द्वारा केवल जड़ता और मन्दता आदि गुणों का ही बोध हो सकता है क्योंकि ये गुण ऐसे हैं जो कि 'गौ' शब्द के मुख्यार्थ के साथ उसके नित्य-संपृक्त धर्म के रूप में विराजमान रहा करते हैं। अब जब कि 'गौ' शब्द अपनी लक्षणा-शक्ति के द्वारा जाड्य, मान्द्य आदि गुणों को लक्षित कर चुका तब इन्हीं गुणों की महिमा से यह संभव है कि 'गौ' शब्द की अभिधाशक्ति 'वाहीक' रूप अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ हो जाय क्योंकि वस्तुतः जड़ता, मन्दता आदि के गुण ही तो यहाँ 'गौ' शब्द के

अत्र केचिदाहुः—गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते। ते च गोशब्दस्य वाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति। तदयुक्तम्—गोशब्दस्यागृहीत-सङ्केतं वाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च। अभिधाया विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात्।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते। तदप्यन्ये न मन्यन्ते। तथाहि—अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते, न वा? आद्ये गोशब्दादेव वा? लक्षिताद्वा? गुणाद्वा? अविनाभावाद्वा? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्थेऽस्यासंकेतित्वात्। न द्वितीयः,—अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात्। शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते। न द्वितीयः,—यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते; तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसमञ्जसं स्यात्।

वाहीक के अर्थ में व्यवहृत होने के निमित्त (प्रवृत्तिनिमित्त) हैं।' किन्तु ऐसी बात ठीक नहीं लगती। 'गो' शब्द अभिधा के द्वारा 'वाहीक' अर्थ का उपस्थापक कदापि नहीं माना जा सकता क्योंकि इस शब्द का इस अर्थ में कहीं कोई संकेत नहीं दिखायी देता। साथ ही साथ 'गो' पद की अभिधा तो अपने मुख्यार्थमात्र के अवबोधन में ही समाप्त हो चुकी है और यहाँ उसके मुख्यार्थ की अनुपपत्ति से ही लक्षणा को प्रोत्साहन मिला है। अब जब एक बार अभिधा की शक्ति समाप्त हो चुकी और उसके पुनरुज्जीवित होने का कोई कारण नहीं तो फिर 'पद की अभिधा की क्या चर्चा!

कुछ दूसरे लोगों का यह कहना है 'गौर्वाहीक'–जैसे प्रयोग में ऐसी बात नहीं कि 'गो'पद अपनी अभिधाशक्ति के द्वारा 'वाहीक' रूप अर्थ का बोध करवाया करता है क्योंकि यहाँ तो वस्तुतः 'गो' पद की लक्षणाशक्ति से ही वाहीकरूप अर्थ के साथ संबद्ध वे जाड्य मान्द्य आदि गुण बताये जाया करते हैं जिनका गोपद के मुख्यार्थ के साथ नित्य संबद्ध जाड्य-मान्द्य गुणों आदि के साथ सादृश्य रहा करता है।' किंतु इस मत से भी कई लोग सहमत नहीं हैं। उनका यहां यह अभिप्राय है—'पहले तो यह निर्णय होना चाहिये कि गोपद से वाहीकरूप अर्थ का बोध होता है या नहीं होता? यदि ऐसा कहा जाय कि गोपद से वाहीकरूप अर्थ का बोध हुआ करता है तब यह बताना आवश्यक है कि वाहीकरूप अर्थ का बोध क्या केवल गोपद से ही हुआ करता है या गोपद से लक्षित उन जाड्य, मान्द्य आदि गुणों के द्वारा जो कि गोपद के मुख्यार्थ के साथ अपृथक्सिद्धरूप से रहा करते हैं? अब ऐसा तो कहा नहीं जा सकता कि गोपद से ही वाहीकरूप अर्थ का अभिधान हुआ करता है क्योंकि गोपद और वाहीक अर्थ में वाच्यवाचकभाव रूप सम्बन्ध कैसे! यहाँ यह कहना भी युक्तियुक्त नहीं कि गोपद से लक्षित जाड्य, मान्द्य आदि गुण ही गोपद के द्वारा वाहीक रूप अर्थ के अभिधान में प्रवृत्तिनिमित्त बना करते हैं क्योंकि आक्षेपतः प्रतीत होने वाले, गोपद के मुख्यार्थ से नित्यसम्बद्ध जाड्य, मान्द्य आदि गुण यहाँ शाब्द-बोध में क्योंकर समाविष्ट मान लिये जायँ! शाब्दबोध का तो सिद्धान्त ही यह है कि शब्द से सम्बद्ध आकांक्षा शब्द से ही पूर्ण की जाय (न कि अर्थ के आक्षेप अथवा अध्याहार से)! यहाँ इन झंझटों से यह कर नहीं बचा जा सकता कि गोपद से वाहीक रूप अर्थ का बोध नहीं हुआ करता। क्योंकि जब कि गोपद से वाहीक-रूप अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती तब 'गौः' और 'वाहीकः' में सामानाधिकरण्य

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयति । वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम् ।

इयं च गुणयोगाद्गौणीत्युच्यते । पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा । उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम् । यथा—'अग्निर्माणवकयोः'। शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा ।

कैसे ? अन्ततोगत्वा निष्कर्ष यही है कि यहाँ अभिधा से 'गौः' और 'वाहीकः' में कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता । यह तो लक्षणा की ही शक्ति है जो यहां मूर्खता आदि के सादृश्य को अपना प्रयोजक बनाकर गोपद से वाहीकरूप अर्थ को लक्षित किया करती है । यहां लाक्षणिक गोपद के प्रयोग में वक्ता का एक उद्देश्य छिपा है और वह है-वाहीक की अत्यधिक मूर्खता का अवबोधन अथवा अभिव्यञ्जन । लक्षणा के 'गौणी' कहे जाने का भी यह अभिप्राय है कि इस प्रकार की लक्षणा में, शब्द के मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में जो योग अथवा सम्बन्ध रहा करता है वह साधर्म्य अथवा सादृश्यरूप ही योग अथवा सम्बन्ध हुआ करता है । गौणी के अतिरिक्त जो लक्षणा है । अर्थात् शुद्धा उसे इसीलिये शुद्धा' कहा करते हैं क्योंकि उसमें किसी प्रकार के 'उपचार' का अभिप्राय नहीं रहा करता । 'उपचार' क्या है ? 'उपचार' है—दो सर्वथा भिन्न पदार्थों में, उनके अधिकाधिक साधर्म्य अथवा सादृश्य के कारण, उनकी परस्पर भिन्नता की प्रतीति का स्थगित हो जाया करना । जैसे कि 'अग्निर्माणवकः' इत्यादि प्रयोगों में 'अग्नि' और 'माणवक' (बालक) रूप पदार्थों में, तेजस्विता आदि के गुणों के सादृश्य के कारण, परस्पर भिन्नता की प्रतीति स्थगित है (क्योंकि बिना ऐसा हुहे दो भिन्नार्थक पदों में सामानाधिकरण्य क्योंकर दिखाई दे !) । इसका यह अभिप्राय नहीं कि जहां भी सामानाधिकरण्य हो वहां 'उपचार' ही रहा करे । 'शुक्लः पटः' में सामानाधिकरण्य है किन्तु 'उपचार' नहीं क्योंकि यहां 'शुक्ल' और 'पट' रूप पदार्थ (गुण और द्रव्य होने के नाते) भले ही भिन्न हों किन्तु ऐसे परस्पर सर्वथा भिन्न नहीं जैसे कि 'अग्नि' और 'माणवक' रूप पदार्थ हैं । इसलिये 'शुक्लः पटः' आदि प्रयोगों में (गौणी की कोई संभावना नहीं अपि तु) केवल शुद्धा लक्षणा ही मानी जाया करती है (गौणी लक्षणा तो वस्तुतः 'उपचार' पर निर्भर है) ।

विमर्श—(क) मीमांसक लोग गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति माना करते हैं । आचार्य कुमारिलभट्ट की इस सम्बन्ध में यह उक्ति है—

'अथवा गौण्या वृत्तेरिह निमित्तमभिधीयते न लक्षणायाः । किं चानययोर्भेदोऽप्यस्ति । बाढमस्ति । कुतः—

अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता ॥

तत्र यथैवाकृतिवचनः शब्दस्तत्सहचरितां व्यक्तिं लक्षयति तथैव यष्टिमञ्चाश्वादयस्तत्संबद्धपुरुषलक्षणार्था भवन्ति । अग्निर्माणवक इति तु नाग्नित्वाविनाभावेन माणवकः प्रतीयते । किं तर्हि—

वह्निवज्ज्वलितादर्थाद् यत् पैङ्गल्यादि गम्यते ।
तेन माणवके बुद्धिः सादृश्यादुपजायते ॥

(तन्त्रवार्तिक, पृष्ठ ३१८)

अर्थात् 'गौणी' और 'लक्षणा' एक ही वृत्ति के दो नाम नहीं अपि तु भिन्न-भिन्न प्रकार की वृत्तियां है। लक्षणा तो वह वृत्ति हैं जिससे अभिधेय से अविनाभूत अथवा सामीप्यादि सम्बन्ध से सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति हुआ करती है जैसे कि 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' में मञ्च का अभिधेयार्थ मचान हैं जिसके साथ क्रोशन (चिल्लाने) की क्रिया की संगति के लिये मञ्च का लक्ष्यार्थ-'मञ्चस्थ पुरुष'-लिया जाया करता हैं। 'मञ्च' शब्द में लक्षणा का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' सम्बन्ध है। किन्तु गौणी वृत्ति वह वृत्ति है जिसके लिये अभिधेय और लक्ष्य अर्थों का अविनाभाव नियामक नहीं अपि तु लक्ष्यमाण गुण-सादृश्य ही नियामक रहा करता है जैसे कि 'अग्निर्माणवकः' में। 'अग्निर्माणवकः' में गौणी वृत्ति का यही अभिप्राय है कि यहां अग्नि शब्द के लक्ष्यार्थ और माणवक शब्द के वाच्यार्थ में अविनाभावरूप सम्बन्ध नहीं माना जाया करता। यहां तो अग्नि शब्द से लक्षित होने वाले तेजस्वितादि गुणों के साथ 'माणवक' का सादृश्य सम्बन्ध ही एक मात्र नियामक संबन्ध रहा करता है।

(ख) किन्तु आलङ्कारिकों ने गौणी को लक्षणा में ही अन्तर्भूत सिद्ध किया है। ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य की इस उक्ति अर्थात्—'भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः।' की व्याख्या में लोचनकर अभिनवगुप्तपादाचार्य ने स्पष्ट कहा है—

'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्तिः, तत आगतो गौणोऽर्थो भाक्तः। भक्तिः प्रतिपाद्ये सामीप्यतैक्ष्ण्यादौ श्रद्धातिशयः, तां प्रयोजनत्वेनोद्दिश्य तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येवं मुख्यार्थबाधानिमित्तं, प्रयोजनमिति त्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्तं भवति।......गुणाः सामीप्यादयो धर्मास्तैक्ष्ण्यादयश्च। तैरुपायैर्वृत्तिरर्थान्तरे यस्य, तैरुपायैर्वृत्तिर्वा शब्दस्य यत्र स गुणवृत्तिः शब्दोऽर्थो वा। गुणद्वारेण वा वर्तनं गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः

—(ध्वन्यालोकलोचन-प्रथम उद्योत)

अर्थात् 'भाक्त' शब्द और अर्थ को ही गौण अथवा लाक्षणिक शब्द और अर्थ कहा जाया करता है। जैसे कि 'सिंहो माणवकः' में 'सिंह' शब्द गौण अथवा लाक्षणिक शब्द है। यहाँ 'सिंह' शब्द गौण अथवा लाक्षणिक इसलिये है क्योंकि यह अपने मुख्यार्थ अर्थात् सिंहत्वजाति या सिंहत्वविशिष्ट व्यक्तिरूप अर्थ का अभिधायक होने पर भी अपने अर्थ से सदा सम्बद्ध शौर्यादिगुणों का भी आक्षेपतः प्रतिपादन कर रहा है। इसे 'गौण' अथवा 'लाक्षणिक' इसलिये भी कहना चाहिये क्योंकि इसका प्रयोग एकमात्र शौर्यादि गुणों अवबोध के लिये किया गया है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह निःसंदिग्ध है कि 'गौणी' और 'लक्षणा' दो भिन्न-भिन्न शब्दशक्तियां नहीं। गौणी और लक्षणा वृत्तियों का पार्थक्य आलंकारिकों ने जिस दृष्टि से मिटाया हैं वह है 'लक्षणा' का शुद्धा और गौणी इन दो भेदों में विभाजन। साथ ही साथ लक्षणानियामक सम्बन्धों में 'सादृश्य सम्बन्ध' की प्राचीन मान्यता भी इसी बात का प्रमाण है कि लक्षणा के अतिरिक्त गौणी की पृथक् वृत्ति मानने की अपेक्षा लक्षणा का ही शुद्धा और गौणी रूप से विभाजन अधिक युक्तियुक्त है। लक्षणा, चाहे वह 'शुद्धा' हो या 'गौणी' हो मुख्यार्थ की अनुपपत्ति के साथ साथ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ के परस्पर सम्बन्ध पर ही अवलम्बित हैं। 'अनुपपत्ति' (मुख्यार्थबाध) 'सम्बन्ध' (मुख्यार्थयोग) किं वा 'प्रयोजन' की दृष्टि से **'अग्निर्माणवकः'** और **'गङ्गायां घोषः'**—इन गौणी और शुद्धा लक्षणा-प्रयोगों में कोई भेद नहीं। जैसे **'अग्निर्माणवकः'**

(प्रयोजनमूलक उपर्युक्त लक्षणाओं के अन्य भेद)

व्यङ्ग्यस्य गूढागूढत्वाद्द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥ १० ॥

(गूढव्यङ्ग्या और अगूढव्यङ्ग्या लक्षणाओं के दृष्टान्त)

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य गूढागूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः। तत्र गूढः, काव्यार्थभावनापरिपकबुद्धि-

---

में 'अग्नि' का अभिप्राय 'अग्निसादृश्यविशिष्ट' निकला करता है वैसे ही **'गङ्गायां घोषः'** में **'गङ्गायाम्'** का अभिप्राय **'गङ्गासम्बन्धविशिष्टतीरे'** हुआ करता है। **'गङ्गायां घोषः'** में **'गङ्गायाम्'** का अर्थ **'गङ्गासम्बन्धोपलक्षिततीरे'** कदापि नहीं हो सकता क्योंकि तब तो **'गङ्गायां घोषः'** और **'गङ्गातीरे घोषः'** में कोई भेद ही नहीं बनाया जा सकता। इस प्रकार जब कि 'गौणी और 'लक्षणा' में 'विशेषणवैशिष्ट्यसंबन्ध' ही नियामक रूप से पड़ा है, तब 'गौणी' और 'लक्षणा' का भेद ही क्या रहा! 'गौणी' तो 'लक्षणा' का एक प्रकार सिद्ध हुई। शुद्धा से गौणी का भेद 'सादृश्य' से 'सादृश्येतर सम्बन्ध' के भेद पर ही निर्भर रहा। जब लक्षणा 'सादृश्यनिबन्धन' और 'सम्बन्धनिबन्धन' रूप से दो प्रकार की हुई तब लक्षणा में गौणी का अन्तर्भाव तो अनायास ही सिद्ध हो गया।

(ग) **'गौर्वाहीकः जल्पति'** किं वा **'गौर्जल्पति'** ये प्रयोग गौणी सारोपा लक्षणलक्षणा तथा गौणी साध्यवसाना लक्षणलक्षणा के प्रयोग हैं। इनमें लक्ष्यार्थनिष्पत्ति के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत हैं उनका निर्देश काव्य-प्रकाशकार ने भी किया है। यहाँ साहित्य-दर्पणकार का मत वही है जो कि काव्य-प्रकाशकार का है क्योंकि **'गौर्वाहीकः'** अथवा **'गौर्जल्पति'** में दोनों आचार्यों ने लक्षणा का एक ही अभिप्राय लिया है। आचार्य मम्मट का निर्देश है—**साधारणगुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे'**—(काव्य-प्रकाश–द्वितीय उल्लास) और विश्वनाथ कविराज का कथन है—**'तस्मादत्र गोशब्दो मुख्या वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद् वाहीकार्थं लक्षयति।'** दोनों का तात्पर्य यही है कि **'गौर्वाहीकः'** आदि प्रयोग में जो 'सामानधिकरण्य' है वह अभिधा की दृष्टि से नहीं किन्तु लक्षणा की ही दृष्टि से ठीक-ठीक समझा जा सकता है। यहाँ उपचार है जिसके कारण दो भिन्न वस्तुओं की भेद-प्रतीति स्थगित हो रही है। **'गौर्वाहीकः'** का सीधा अर्थ **'गोसादृश्यविशिष्टः वाहीकः'** है और **'जडः वाहीकः'** के बदले **'गौर्वाहीकः'** का प्रयोग करने वाला व्यक्ति वाहीक की अज्ञता नहीं अपितु अज्ञता-पराकाष्ठा का अभिप्राय प्रकाशित किया करता है। **'गौर्वाहीकः'** में 'गोत्व' और गोत्व-सम्बद्ध जाड्य'मान्द्यादि गुण दोनों को **गोशब्द** का 'प्रवृत्तिनिमित्त' मानना अनुचित है क्योंकि ऐसा करने से यहाँ के उपचार का रहस्योद्घाटन क्योंकर होने लगा! यहाँ ऐसा भी नहीं कि लक्षणा से गोगत जाड्यादिसदृश वाहीकगत जाड्यादि गुण ही पता चला करें क्योंकि ऐसा होने से भी 'उपचारक' का रहस्य अनिर्भिन्न ही रह जायगा।

अनुवाद—उपर्युक्त आठों प्रकारों की प्रयोजनवती लक्षणाओं के भी दो-दो भेद स्पष्ट हैं—(१) गूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणायें और (२) अगूढ (प्रयोजन) व्यंग्या लक्षणायें।

प्रयोजनवती लक्षणाओं के द्विविध भेद का तात्पर्य यह है—

आठ प्रकार की जो प्रयोजनवती लक्षणायें बतायी जा चुकी हैं उनमें प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ के गूढ (सहृदयजनसंवेद्य) किं वा अगूढ (सर्वजनसंवेद्य) होने के कारण प्रत्येक के दो-दो भेद हुआ करते हैं जिससे इनके सोलह भेद सिद्ध होते हैं। प्रयोजनरूप

विभवमात्रवेद्यः। यथा—'उपकृतं बहु तत्र—' इति। अगूढः, अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। यथा—

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि ॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते। आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

व्यङ्ग्यार्थ के 'गूढ' होने का अभिप्राय है उसके एकमात्र ऐसे व्यक्तियों के द्वारा वेद्य होने का जिनकी बुद्धि काव्यार्थतत्त्व के सतत मनन-चिन्तन से परिपक्व हो चुकी है। गूढव्यङ्ग्या लक्षणा के उदाहरण के लिये—'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति पर्याप्त है (जहाँ सहृदयों को वक्ता की उदारहृदयता की सूक्ष्म प्रतीति स्वभावतः हुआ करती है)। प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यार्थ के 'अगूढ' होने का तात्पर्य है उसके सभी लोगों के द्वारा अत्यन्त स्फुटतया प्रतीत हो जाने का, जैसा कि—

'यौवन का मद ही रमणियों को समस्त हाव-भावों का उपदेश किया करता है' इत्यादि सूक्ति में स्पष्ट है जहाँ 'उपदिशति'-'उपदेश किया करता है'-का अभिप्राय 'आविष्करोति'-'प्रकट किया करता है'—निकला करता है (जो कि वाच्य नहीं अपितु लक्ष्यरूप अर्थ है) और जहाँ वक्ता का प्रयोजन अर्थात् हावभावों के प्रकाशन की विचित्रता और पूर्णता का अभिप्राय वाच्यार्थ की भाँति अत्यन्त स्पष्ट है।

विमर्श—(क) जैसे आठ प्रकार लक्षणाओं के भेदप्रयोजक रूप में आरोप आदि निर्दिष्ट किये जा चुके हैं वैसे ही इनमें प्रत्येक के दो-दो भेदों के प्रयोजक रूप में व्यङ्ग्यार्थ की गूढता और अगूढता का निर्देश उचित ही है और युक्तियुक्त भी है। काव्यप्रकाश की 'प्रदीप' व्याख्या के रचयिता ने स्पष्ट कहा है—'लक्षणाभेदप्रयोजक आरोपादिर्यथा भिद्यते तथा तत्प्रयोजकं व्यङ्ग्यमपीति…'।

(ख) 'गूढव्यङ्ग्य' का अभिप्राय है सहृदयसंवेद्य व्यङ्ग्य का और सहृदय वह है जो 'काव्यभावनापरिपक्वबुद्धि' हो (काव्यभावनापरिपक्वबुद्धिः सहृदयः—काव्यप्रदीप, पृष्ठ २६)। गूढव्यङ्ग्या-सहृदयसंवेद्या-लक्षणा का बड़ा सुन्दर उदाहरण आचार्य मम्मट ने दिया है—

'मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरो मुकुलितस्तनं जघनमंसबन्धोद्धुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणिमोद्गमो मोदते ॥'—(काव्यप्रकाश)

जिसमें व्यङ्ग्यार्थ की गूढता का अभिप्राय प्रदीपकार के शब्दों में इस प्रकार है—

'अत्र विकासः पुष्पधर्मः स्मितेऽनुपपन्न इति प्रसृतत्वं लक्षयता विकसितपदेन लोकोत्तररमणीयतातिशयो व्यज्यते। स च गूढः। एवं वशितसमुच्छलितापास्तसंस्थामुकुलितोद्धुरमोदनशब्दैरायतत्वोल्लसितत्वोल्लसितत्वानेकविषयसञ्चारित्वयोग्यत्वानियन्त्रितत्वानि लक्षयद्भिर्युक्तानुरागित्वसकलवशीकारित्वानुरागातिशयालिङ्गनयोग्यत्वरमणीयत्वस्पृहणीयत्वानि गूढानि व्यज्यन्ते।'—(काव्यप्रदीप, पृष्ठ २७)

इस प्रसङ्ग में साहित्यदर्पणकार ने 'उपकृतं बहु तत्र' आदि सूक्ति को जो उद्धृत किया है उसमें आचार्य मम्मट की दृष्टि से ऐसी कोई गूढव्यङ्ग्यता नहीं दिखायी देती। मम्मट ने 'उपकृतम्' आदि के संबन्ध में स्पष्ट कहा है—'वक्तृमहिम्ना मूर्खे बृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वमत्र लक्ष्यते'—(शब्दव्यापारविचार, पृष्ठ ४)। 'उपकृतं बहु तत्र' आदि में जो

(उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं के अन्य भेद)

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा ।

(प्रयोजनवती लक्षणाओं में धर्मिगत और धर्मगत प्रयोजन के निदर्शन)

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः ।

दिङ्मात्रं यथा—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाकाघना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यसि हहा हा देवि धीरा भव ॥'

वैपरीत्य लक्षणा है उसका अनुभव 'काव्यभावनासंभूत बुद्धिपरिपाक' पर निर्भर नहीं अपितु 'वक्तृस्वभावपर्यालोचनमात्र' पर ही अवलम्बित है । विश्वनाथ कविराज ने भी वस्तुतः यही मानकर **'उपकृतम्'** आदि सूक्ति उद्धृत की है (साहित्यदर्पण २.७ की वृत्ति) ऐसा लगता है जैसे मम्मट द्वारा उद्धृत **'मुखं विकसितस्मितम्'** आदि सूक्ति के पुनरुद्धरण के भय से और साथ ही साथ कुछ नवीनता की भी दृष्टि से साहित्यदर्पणकार ने **'उपकृतम्'** आदि को ही दुहरा दिया है ।

अगूढव्यङ्ग्या लक्षणा को काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण ने एक ही उदाहरण—**'उपदिशति'** आदि से समझाया है । यहाँ दोनों आलङ्कारिक आचार्यों ने **'उपदिशति'** इस लाक्षणिक पद के प्रयोग का प्रयोजन 'अगूढ' निर्दिष्ट किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है । 'उपदेश' का अभिप्राय 'किसी अज्ञात वस्तु के ज्ञान की अनायास सिद्धि' है जो कि सहृदय और असहृदय सबके लिये समान रूप से एक प्रसिद्ध अर्थ है । 'उदाहरणचन्द्रिका' में इसीलिये कहा गया है—

'लक्षितज्ञानेऽनायासो व्यङ्ग्यः । प्रयोजनं सहृदयासहृदयवेद्यमित्यगूढव्यङ्ग्योदाहरणम् । उपदेशादनायासेन ज्ञानमित्यस्य प्रसिद्धत्वात् ।'

अनुवाद—ये उपर्युक्त १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें भी अपने व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के धर्मिगत किं वा धर्मगत होने के कारण दो-दो भेदों में विभक्त हो जाया करती हैं ।

इन अभी-अभी प्रतिपादित १६ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाओं में प्रत्येक के पुनः द्विविध होने का अभिप्राय है इनमें प्रत्येक में व्यङ्ग्यरूप से विराजमान प्रयोजन के धर्मिगत किं वा धर्मगत-दो रूपों में प्रतीत होने का, जिसके कारण इन लक्षणाओं के ३२ भेद बन गये । संक्षिप्त निदर्शन के लिये यह सूक्ति पर्याप्त है—

मैं तो राम ठहरा ! भले ही विहार करती बकपंक्ति से भरे बादल अपनी स्निग्ध श्यामल कान्ति से आकाश को रँगते हुये उमड़ पड़ें, भले ही शीतल मन्द समीर चतुर्दिक झूमती चले और भले ही मेघों के प्रेमी मयूरों की मादकताभरी केकाध्वनि सर्वत्र गूंज उठे, मैं तो यह सब कुछ सह लूंगा ! मेरा हृदय तो पत्थर का ठहरा ! लेकिन सुकुमार, कोमल हृदय वाली सीता क्या करेगी ? हा देवि ! सीते ! धीरज धरना !'

अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम्।

यहाँ जो प्रयोजन अभिव्यक्त हो रहा है अर्थात् एक के बाद एक अनेकों दुःखों के सहन करते करते दुःख की पीडा से शून्य-चेतन एक संकटापन्न व्यक्तित्व, वह धर्मिगत है क्योंकि यह वस्तुतः अनेकानेक दुःखों के सहन करने वाले रामरूप धर्मी—यहाँ 'राम' पद का एक मात्र अर्थ दुःखों का भोगने वाला ही है—को ही सहृदयों के हृदयपटल पर उत्कटता से अंकित कर देता है (न कि धर्मों को अर्थात् राम के सहे सब दुःखों को)। प्रयोजन का धर्मगत होना 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में देखा जा सकता है जहाँ शीतलता और पवित्रता के धर्मों पर ही सहृदयों का ध्यान अँटकता है (न कि तटरूप धर्मी पर जो कि 'गङ्गा' शब्द का लक्ष्यार्थ है)।

विमर्श—(क) व्यङ्ग्यरूप प्रयोजन के 'धर्मिगत' किं वा 'धर्मगत' होने से लक्षणाभेदों के द्वैविध्य का विचार काव्यप्रकाशकार ने नहीं किया। साहित्यदर्पणकार का यह विश्लेषण एक विशेषता अवश्य रखता है किन्तु '**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**' के प्रवर्त्तकाचार्य द्वारा लक्षणा के भेद-प्रभेदों का यह निष्कृष्ट निरूपण औचित्यपूर्ण होने के बदले पाण्डित्यपूर्ण लग रहा है। रसात्मक वाक्य की रचना लाक्षणिक पदों की अपेक्षा व्यञ्जक तत्त्वों पर निर्भर रहा करती है। '**स्निग्धश्यामल**' आदि सूक्ति में ध्वनिवादी आचार्यों ने 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्यध्वनि' का दर्शन किया है। यहाँ ध्वनिकार का यह कथन है—

'स्निग्धश्यामल''''''देवि धीरा भव॥' इत्यत्र रामशब्दः। अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्।'

और लोचनकार का इस पर यह व्याख्यान है—'स्निग्धया जलसंबन्धसरसया श्यामलया द्रविडवनितोचितासितवर्णया कान्त्या चाकचक्येन लिप्तमाच्छुरितं वियन्नभो यैः। वेल्लन्त्यो विजृम्भमाणास्तथा चलन्त्यः परभागवशात् प्रहर्षवशाच्च बलाकाः सितपक्षिविशेषाः येषु त एवं विधा मेघाः। एवं नभस्तावद्दुरालोकं वर्तते। दिशोऽपि दुःसहाः, यतः सूक्ष्मजलकणोद्गारिणो वाता इति मन्दमन्दत्वमेषामनियतं दिगागमनं च बहुवचनेन सूचितम्। तर्हि गुहासु क्वचित् प्रविश्यास्यतामित्यत आह—पयोदानां ये सुहृदस्तेषु च सत्सु ये शोभनहृदया मयूरास्तेषामानन्देन हर्षेण कलाः षड्जसंवादिन्यो मधुराः केकाः शब्दविशेषाः ताश्चसर्वं पयोदवृत्तान्तं दुःसहं स्मारयन्ति। स्वयं च दुःसहा इति भावः। एवमुद्दीपनविभावोद्बोधितविप्रलम्भः'''प्रियतमां हृदये निधायैव स्वात्मवृत्तान्तं तावदाह—कामं सन्त्विति। दृढमिति सातिशयम् कठोरहृदय इति। रामशब्दार्थध्वनिविशेषावकाशदानाय कठोरहृदयपदम्।'''अन्यथा रामपदं दशरथकुलोद्भवत्वकौसल्यास्नेहपात्रत्वबाल्यचरितजानकीलाभादिधर्मान्तरपरिणतमर्थं कथं न ध्वनेदिति। अस्मीति। स एवाहं भवामीत्यर्थः। भविष्यतीति क्रियासामान्यम्। तेन किं करिष्यतीत्यर्थः। अथ च भवनमेवास्या असंभाव्यमिति। उक्तप्रकारेण हृदयनिहितां प्रियां स्मरणशब्दविकल्पपरम्परया प्रत्यक्षीभावितां हृदयस्फोटनोन्मुखीं ससम्भ्रममाह—हहा हेति। देवीति। युक्तं तव धैर्यमित्यर्थः। अनेनेति। रामशब्देनानुप्रयुज्यमानार्थेनेति भावः। व्यङ्ग्यं धर्मान्तरप्रयोजनरूपं राज्यनिर्वासनाद्यसंख्येयम्। तच्चासंख्यत्वादभिधाव्यापारेणाशक्यसमर्पणम्। क्रमेणार्प्यमाणमप्येकधीविषयभावाभावान्न चित्रचर्वणापदमिति न चारुत्वातिशयकृत्। प्रतीयमानं तु तदसंख्यमनुद्भिन्नविशेषत्वेनैव किं किं रूपं न सहत इति चित्रपानकरसापूपगुडमोदकस्थानीयविचित्रचर्वणापदं भवति।''''''एष एव प्रयोजनस्य प्रतीयमानत्वेनोत्कर्षहेतु-

(निर्दिष्ट लक्षणाभेद-संकलन)

तदेव लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः ॥ ११ ॥

(लक्षणा के ४० भेदों का निरूपण)

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः ।

मन्तव्यः । मात्रग्रहणेन संज्ञी नात्र तिरस्कृत इत्याह'''तेन शब्देऽर्थे मुख्ये बाधानिमित्तं तत्रार्थे तद्धर्मसमवायः । तेन निमित्तेन रामशब्दो धर्मान्तरपरिणतमर्थं लक्षयति । व्यङ्ग्यान्य-साधारणान्यशब्दवाच्यानि धर्मान्तराणि ।'—(ध्वन्यालोकलोचन-द्वितीय उद्योत)

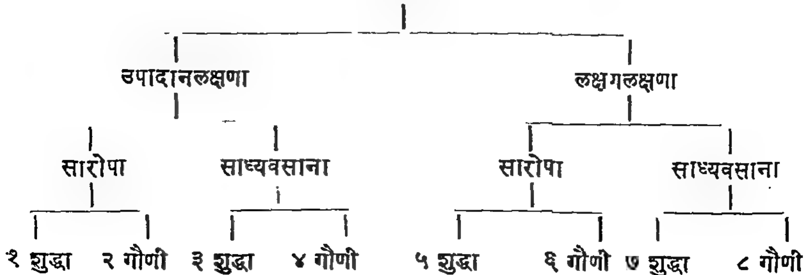
वस्तुतः इन सब बातों का ही ध्यान रख कर साहित्यदर्पणकार ने 'राम' पद की लक्षणा के गूढव्यङ्ग्य प्रयोजन का 'धर्मिगत' रूप निर्दिष्ट किया है ।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने **'गङ्गायां घोषः'** में 'गङ्गा' पद की लक्षणा का प्रयोजन 'धर्मगत' माना है अर्थात् यह प्रतिपादित किया है कि 'गङ्गायां घोषः' कहने में शैत्यपावनत्वादि धर्मों के अतिशय का प्रत्यायन ही वक्ता का प्रयोजन है । इस पर साहित्यदर्पण के 'विमला' व्याख्याकार ने आक्षेप किया है और कविराज विश्वनाथ के इस अभिमत को **'स्ववचनविरोधादेवापास्तम्'** ('विमला', पृष्ठ ५५) कह दिया है । किन्तु यह आक्षेप निर्मूल है । साहित्यदर्पण का वाक्य है—**'अत्रात्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम् । 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम् ।'** यहाँ यह निःसंदिग्ध है कि गंगा पद का लक्ष्यार्थ शीतत्वपावनत्वादि नहीं अपि तु 'तट' कहा गया है क्योंकि **'तटे'** के बाद **'लक्ष्ये'** अध्याहृत है ऐसी परिस्थिति में 'विमला' व्याख्या की यह उक्ति कि **'गङ्गायां घोषः'** इस उदाहरण में धर्म लक्ष्य है ही नहीं; प्रत्युत तटरूप धर्मी लक्ष्य है । काव्यप्रकाश में लिखा है—**'गङ्गायां घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते'** और स्वयं विश्वनाथजी भी **'गङ्गादिशब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात् प्रकृतेऽसंभवन्''''''तटादिं बोधयति'** लिख चुके हैं', निरर्थक ही लग रही है । विश्वनाथ कविराज ने लक्षणा में व्यङ्ग्य वक्तृप्रयोजन के 'धर्मगत' होने को **'गङ्गायां घोषः'** इस उदाहरण से जो समझाया है वह सर्वथा चतुरस्र लग रहा है । विश्वनाथ कविराज का यह अभिप्राय है—**'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतः'** आदि सूक्ति में तो 'राम' पद की लक्षणा दुःखसहिष्णु राम को ही अधिकाधिक दुःखसहिष्णु रूप में प्रकाशित करना चाहती है किन्तु **'गङ्गायां घोषः'** में 'गङ्गा' पद की लक्षणा शैत्यपावनत्वादिरूप धर्म की ही उत्कटता प्रकाशित कर रही है न कि इस धर्म से युक्त तटरूप धर्मी की ।

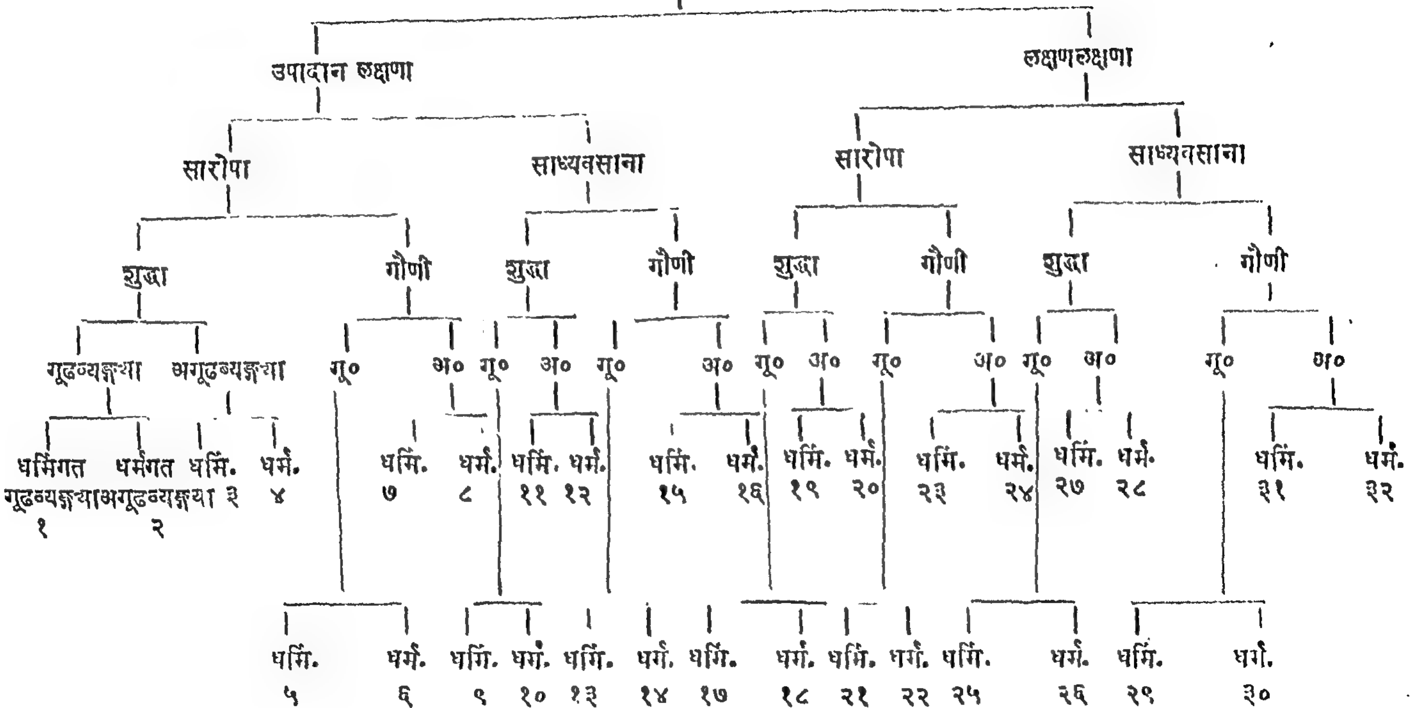
अनुवाद— **इस प्रकार जैसा कि काव्याचार्यों का मत है, लक्षणा के ४० भेद सिद्ध होते हैं ।**

यहां लक्षणा के ४० भेद यों सिद्ध हैं—८ प्रकार की रूढ लक्षणायें + ३२ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणायें = ४० प्रकार की लक्षणायें ।

विमर्श—(क) रूढि में लक्षणा का साहित्यदर्पण-सम्मत कक्षाविभाग यह है—



(ख) प्रयोजनवती लक्षणा का साहित्यदर्पणकार ने यह श्रेणी-विभाजन किया है—



(व्यञ्जनाशक्तिः लक्षण)

अथ व्यञ्जना—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते परः ॥ १२ ॥
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

(व्यञ्जना लक्षणा-परिष्कार)

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु यया अपरोऽन्योऽर्थो बोध्यते, सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।

एत एवाहुः—

शक्तिं भजन्ति सरलाः लक्षणां चतुरा नराः ।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमनाः जनाः ॥

अनुवाद—व्यञ्जनाशक्ति शब्द और अर्थ आदि की वह शक्ति है जो अभिधा आदि शक्तियों के शान्त हो जाने पर (अपने-अपने कार्य कर चुकने के बाद क्षीण सामर्थ्य हो जाने पर) एक ऐसे अर्थ का अवबोधन कराया करती है जो (वाच्य, लक्ष्यादिरूप अर्थों से) सर्वथा एक विलक्षण प्रकार का अर्थ हुआ करता है ।

अनुवाद—यहाँ अभिधादि शक्तियों के शान्त हो जाने का अभिप्राय यह है—एक सामान्य सिद्धान्त है—'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' अर्थात् एक बार जब शब्द, बुद्धि और कर्म अपना-अपना व्यापार कर चुकते हैं तब फिर उनमें कोई व्यापार नहीं हो सकता । इस सिद्धान्त के अनुसार यह मानना अनिवार्य है कि अभिधा लक्षणा और तात्पर्य की शक्तियां जब एक बार अपना-अपना अर्थ उपस्थित कर चुकीं तब फिर किसी अर्थ का उपस्थापन कदापि नहीं कर सकतीं । अब यदि कहीं वाच्य, लक्ष्य और तात्पर्य रूप अर्थों से सर्वथा भिन्न अर्थ प्रतीति हो रहा हो जैसा कि हुआ ही करता है तब यह निश्चित है कि जिस शक्ति के द्वारा वह अर्थ उपस्थापित किया जा रहा है वह शक्ति व्यञ्जनाशक्ति है । इस शक्ति को व्यञ्जन कहें, ध्वनन कहें, गमन कहें, प्रत्यायन कहें या और जो चाहें कहें किन्तु इसे अभिधादि से विलक्षण ही मानना पड़ेगा क्योंकि यह शक्ति केवल शब्द की नहीं, किन्तु अर्थ की (और अर्थ की ही क्यों) प्रकृति की, प्रत्यय की, उपसर्ग की और निपात आदि-आदि की शक्ति के रूप में स्फुरित हुआ करती है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार की यह व्यञ्जना परिभाषा आचार्य अभिनवगुप्त की निम्न उक्ति का सारांश है—

'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत्' इत्यादिनाभिधाव्यापारस्य विरम्य व्यापारासंभवाभिधानात् ।......प्रतिपत्तिश्चान्वयस्य नाभिधाशक्त्या, तस्याः पदार्थप्रतिपत्त्युपक्षीणाया विरम्याव्यापारात् इति तात्पर्यशक्त्यैवान्वयप्रतिपत्तिः ।......'सिंहो माणवकः' इत्यत्र द्वितीयकक्ष्यानिविष्टतात्पर्यशक्तिसमर्पितान्वयबाधकोल्लासानन्तरमभिधातात्पर्यशक्तिद्वयव्यतिरिक्ता तावत्तृतीयैव शक्तिस्तद्बाधकविधुरीकरणनिपुणा लक्षणाभिधाना समुल्लसति ।......न चैवं भक्तिरेव ध्वनिः, भक्तिर्हि लक्षणव्यापारस्तृतीयकक्ष्यानिवेशी । चतुर्थ्यां तु कक्ष्यायां ध्वननव्यापारः ।...तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणाव्यतिरिक्तश्चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जन-

(व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण : शाब्दी व्यञ्जना)

तत्र—

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

(१—अभिधामूलक व्यञ्जना)

अभिधामूलामाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ॥ १४ ॥

प्रत्यायनावगमनादिसोऽपरस्परदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्यः।' (ध्वन्यालोकलोचन, द्वि० उद्योत)।

अर्थात् व्यङ्ग्यार्थप्रतीति में अभिधा-तात्पर्य किंवा लक्षणादिकों का कोई हाथ नहीं हो सकता। अभिधा का हाथ तो इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ सांकेतिक अर्थ नहीं हुआ करता। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन इसलिए असम्भव है क्योंकि जिसे व्यङ्ग्यार्थ कहते हैं वह पदार्थों का परस्पर संसृष्ट अथवा अन्वित अर्थ नहीं अपितु एक वैसोत्तर अन्तर्गत अर्थ हुआ करता है। लक्षणा व्यङ्ग्यार्थ में क्योंकर प्रवेश करने लगी जब कि वहाँ इसके लिए कोई स्थान नहीं और न कोई हेतु अथवा प्रयोजन है। इन तीनों व्यापारों के अतिरिक्त किंवा इन तीनों व्यापारों से सर्वथा उदीर्ण ध्वनन अथवा द्योतन का व्यापार ही वह व्यापार है जिसे व्यङ्ग्यावबोध के लिए अनिवार्यरूप से मानना पड़ता है।

(ख) साहित्यदर्पणकार ने अभिधावादि अर्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ के अवबोध में अभिधादि के व्यापार-विराम और व्यञ्जना के सामर्थ्य का जो उल्लेख किया है उसका आधार लोचनकार की यह उक्ति है—

'योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः स शब्दार्थः' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति, तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुतः ? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ ? तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्तः। सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापारः शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां पदार्थविद्भिर्निषिद्धः असजातीये चास्मन्नय एव। (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ ६४, चौखम्बा)'।

(ग) 'साहित्यसार' के रचयिता अच्युतराय ने ध्वनिवादी आलङ्कारिकों की इस 'व्यञ्जनादृष्टि' का इस प्रकार विश्लेषण किया है—

'लक्ष्यव्यङ्ग्यसंबोधादुलन्द्वानन्ददायिनी। दृशोरञ्जनवत्ः किं न व्यञ्जना रञ्जनं जनाः॥
ततो निमित्तादिभिदा सिद्धा हृष्टिमयेतरा। चोरैकगम्या वदने व्यञ्जना च स्थितिस्त्रिधुतिः॥
पदं वाक्यं पदार्थश्च वाक्यार्थो धातुरप्यथ। सुप् तिङ् च प्रातिपदिकं कालो वचनमेव च॥
अपि पूर्वनिपातश्च विभक्तिः चापि तद्धितः। निपाताश्चाप्युपसर्गास्तथैव च॥
सर्वनामाप्यपीभाव इममित्र प्रत्ययस्तथा। आकारः कर्मभूतलयो वर्णाश्च रचनास्तथा॥
प्रबन्धाश्च कविप्रौढोक्ती रसो वस्त्वलङ्कृतिः।
संकरश्चापि संसृष्टिरिति द्विषु इकस्यष्टेऽस्ति सा॥

जिसमें 'व्यञ्जना' के २८ आधारों का निरूपण है

अनुवाद—इस व्यञ्जना के सम्बन्ध में सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि शब्द की व्यञ्जना दो प्रकार की हुआ करती है—(१) अभिधामूलकव्यञ्जना और (२) लक्षणामूलकव्यञ्जना।

अनुवाद—अभिधामूल व्यञ्जना का निरूपण यह है—अभिधामूलकव्यञ्जना शब्द

(२–अभिधानियामक तत्त्व और अभिधामूलक व्यञ्जना : स्वरूप-परिष्कार)

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः ।

उक्तं हि—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति ।

'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते । 'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव ! 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः । 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः । 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः । 'सर्वं

की वह शक्ति है जो कि संयोगादिरूप अभिधानियामकों में से किसी के द्वारा कहीं किसी अनेकार्थक शब्द के किसी एक प्राकरणिक अर्थ में नियन्त्रित कर दिये जाने पर एक ऐसे अर्थ को उपस्थित किया करती है जो कि वाच्यार्थ से सर्वथा विलक्षण अर्थ हुआ करता है ।

अनुवाद—यहां 'संयोगाद्यैः' इत्यादि कथन से अभिधानियामक तत्त्वों में 'संयोग' के अतिरिक्त जिन अन्यान्य तत्त्वों का समावेश अपेक्षित है उनमें 'विप्रयोग' आदि-आदि समझे जाने चाहिये । वस्तुतः इस प्रसङ्ग में (आचार्य भर्तृहरि की) यह सूक्ति स्मरणीय है—

'ऐसे प्रसङ्गों में, जहां किसी (अनेकार्थक) शब्द के अर्थ का परिच्छेद अथवा निर्णय न हो रहा हो, जिन कारणों से किसी अर्थ-विशेष का ज्ञान संभव है वे हैं—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोधिता, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तरसान्निध्य, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि ।'

उपर्युक्त अर्थ विशेष-स्मारक तत्त्वों के उदाहरण—

(१) संयोग—जैसे कि, 'सशङ्खचक्रो हरिः' । यहां (अनेकार्थक) 'हरि' शब्द इसलिये केवल भगवान् विष्णु का ही अर्थ दे सकता है क्योंकि शङ्ख और चक्र का सम्बन्ध इसी अर्थ में उपपन्न है (न कि अन्य अर्थों जैसे कि यम, अनिल, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, सिंह, भेक आदि आदि में) ।

(२) विप्रयोग—जैसे कि 'अशङ्खचक्रो हरिः' । यहाँ शङ्ख और चक्र के विश्लेष के कारण 'हरि' शब्द एकमात्र विष्णुवाचक ही बन रहा है (क्योंकि जैसे शङ्ख और चक्र का संयोग विष्णु से ही स्वभावतः सिद्ध है वैसे ही इनका विश्लेष अथवा वियोग भी विष्णु से ही संभव है न कि यमादि से) ।

(३) साहचर्य—जैसे कि 'भीमार्जुनौ' । यहाँ अर्जुन पद अनेकार्थक है (क्योंकि 'अर्जुन' के अर्थ पृथापुत्र पाण्डवप्रवीर किंवा एक वृक्षविशेष-दोनों हैं) । किन्तु 'साहचर्य' के कारण अर्थात् 'भीम' पद के भीमसेनरूप और 'अर्जुन' पद के पाण्डवप्रवीर भीमानुज अर्जुनरूप अर्थों में ही सहचरभाव की संगति के कारण 'अर्जुन' पद का अर्थ एकमात्र पृथापुत्र अर्जुन ही हो सकता है (न कि वृक्षविशेष) ।

(४) विरोधिता—जैसे कि 'कर्णार्जुनौ' । यहाँ 'विरोधिता' अर्थात् पारस्परिक वैरवि-

जानाति देवः' इति देवो भवान्। 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः। 'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः। 'मधुना मत्तः पिकः' इति मधुर्वसन्तः। 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम्। 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी। 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः। 'भाति रथाङ्गम्' 'रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम्। स्वरस्तु वेद एव विशेषप्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।

रोध के भाव के कारण 'कर्ण' पद का अर्थ केवल सूतपुत्र कर्ण ही हो सकता है (न कि कान आदि आदि)।

(५) अर्थ—जैसे कि 'स्थाणुं वन्दे'। यहां 'अर्थ' अर्थात् वन्दना के अर्थ अथवा प्रयोजन की दृष्टि से 'स्थाणु', पद का अभिप्राय एक मात्र भगवान् शिव हो सकता (न कि और कुछ जैसे कि ठूंठ आदि।

(६) प्रकरण——जैसे कि 'सर्वं जानाति देवः'। यहाँ 'देव' पद, जो कि अनेकार्थक है, प्रकरण के कारण एक मात्र 'आप' इस अर्थ का ही उपस्थापक हो रहा है (न कि देवता आदि आदि का)।

(७) लिङ्ग—जैसे कि 'कुपितो मकरध्वजः'। यहाँ लिङ्ग अर्थात् मीनध्वजरूप धर्मविशेष के कारण 'मकरध्वजशब्द' का अर्थ एकमात्र 'कामदेव' ही हो सकता है (न कि 'समुद्र' आदि) क्योंकि समुद्ररूप अर्थ में यह धर्मविशेष साक्षात् संगत नहीं)।

(८) शब्दान्तरसान्निध्य—जैसे कि 'देवः पुरारिः'। यहाँ 'अन्यशब्दसन्निधि' के कारण अर्थात् 'देव' शब्द के सामीप्य से 'पुरारिः' पद केवल शिव का ही वाचक हो सकता है (न कि किसी शत्रुनगरसंहारक अन्य राजवीर आदि का)।

(९) सामर्थ्य—जैसे कि 'मधुना मत्तः पिकः'। यहाँ सामर्थ्य के कारण अर्थात् कोकिल को उन्मत्त बनाने के सामर्थ्य के कारण 'मधु' पद का एकमात्र अर्थ वसन्त ऋतु ही हो सकता है (न कि और कुछ जैसे कि दैत्यविशेष, मधु आदि)।

(१०) औचिती—अथवा औचित्य, जैसे कि 'पातु वो दयितामुखम्'। यहाँ औचित्य के कारण अर्थात् कामार्त्त प्रेमी के परित्राण की योग्यता की दृष्टि से 'मुखम्' पद का अर्थ एक मात्र 'साम्मुख्य' अथवा अनुकूलता ही निकल सकता है (न कि मुंह जिसमें प्रेमी के परित्राण की कोई योग्यता नहीं)।

(११) देश—जैसे कि 'विभाति गगने चन्द्रः'। यहाँ 'देश' के कारण अर्थात् आकाशरूप देश अथवा स्थान के विवक्षित होने की दृष्टि से 'चन्द्र' पद (जो कि कर्पूर आदि अर्थों का भी वाचक है) एक मात्र 'चन्द्रमा' का अर्थ रख सकता है।

(१२) काल—जैसे कि 'निशि चित्रभानुः' पद (जो कि अग्नि और सूर्य दोनों अर्थों का वाचक है) केवल 'अग्नि' का ही अर्थ रख सकता है।

(१३) व्यक्ति—जैसे कि 'भाति रथाङ्गम्'। यहाँ 'रथाङ्ग' पद (जो कि चक्र और चक्रवाक दोनों अर्थों का वाचक है) व्यक्ति अर्थात् नपुंसकलिङ्ग के कारण एकमात्र रथ के चक्र (पहिये) का ही अर्थ दे सकता है।

(१४) स्वर—'स्वर' के द्वारा अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय केवल वेद में ही संभव है न कि काव्य-साहित्य में। स्वर की अर्थ-नियामकता का उदाहरण इसीलिये यहाँ नहीं दिया जा रहा है।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः—स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव। उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव' इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तन्न; तथाहि—स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव विशेषं प्रत्याययन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम्। किञ्च यदि यत्र क्वचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूपस्वरवशेनैकत्रनियमनं वाच्यं, तदा तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः; न च तथा, अत एवाहुः श्लेषनिरूपणप्रस्तावे—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नयः, इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु काटक्षनिक्षेपेण। आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी'इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम्।

किन्तु कतिपय काव्याचार्य यह मानने को तैयार नहीं कि स्वर केवल वेद में ही अर्थ नियामक हुआ करता है। उनका यह कहना है—'स्वर अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार का ध्वनिविकाररूप कण्ठस्वर तो काव्य में अर्थविशेष का परिच्छेदक हुआ ही करता है (क्योंकि भरतनाट्यशास्त्र की यही मर्यादा है)। साथ ही साथ उदात्तादि रूप स्वर भी जैसा कि (नाट्यशास्त्रकार) भरतमुनि ने के पाठ्य के धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है, शृङ्गारादि भिन्न-भिन्न रस भावों के प्रत्यायन करने में समर्थ ही हैं। ऐसी परिस्थित में काव्य-साहित्य में स्वर की अर्थनियामकता का उदाहरण देना तो उचित ही है।' किन्तु वस्तुतः यह कथन युक्तियुक्त नहीं। क्यों? इसलिये कि ध्वनि विकार अथवा उदात्तादिरूप स्वर भले ही व्यङ्ग्यरूप अर्थविशेष के प्रत्यायक हों, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकल सकता कि इनके द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द का किसी एक अर्थ नियन्त्रण भी, जिसका यहां प्रतिपादन अभीष्ट है, किया जाया करता है। यहां एक और भी बात ध्यान देने की है और वह यह है—किसी श्लिष्ट प्रसङ्ग को लें, जहां प्रकरणादि के द्वारा किसी अनेकार्थक शब्द के अर्थ का निर्णय सम्भव नहीं और उस शब्द के दो (अथवा दो से अधिक) अर्थ बिना किसी रोकटोक के निकल रहे हों। अब यदि यह कहा जाय कि उस शब्द का पाठ्योचित स्वर उस शब्द के दोनों अर्थों में से किसी एक अर्थ का निर्णायक बन जाया करता हैं तब तो इसके बदले यही कहा जायगा कि ऐसे प्रसङ्गों में श्लेषालङ्कार नाम की कोई चीज ही नहीं हुआ करती। किन्तु बात तो यह है कि ऐसे प्रसङ्ग श्लेषालङ्कार के ही प्रसङ्ग हुआ करते हैं। वस्तुतः इसीलिये श्लेषालङ्कार-निरूपण के प्रसङ्ग में यह कहा गया है (जैसा कि काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने ही कहा है) 'काव्य का क्षेत्र ऐसा है जहां स्वर का कोइ काम नहीं'। अन्ततोगत्वा सिद्धान्त यही निकला कि काव्य में स्वर को अर्थनियामक नहीं माना जा सकता (और इसलिये इसके उदाहरण न दिये जाने की जो बात कही गयी वह ठीक ही कही गयी)। इस सम्बन्ध में और भी बहुत कुछ कहा जा सकता है किन्तु अच्छा है न कहा जाय क्योंकि ऐसा करना प्राचीन प्रामाणिक काव्याचार्यों की समीक्षाओं पर कटाक्ष करना ही होगा।

(१५) स्वर के अतिरिक्त जिन अन्य अर्थनियामक तत्त्वों को 'आदि' शब्द द्वारा समुच्चित किया गया है ('स्वरादयः' इत्यादि में) उनमें चेष्टा अथवा अभिनयमुद्रा आदि-आदि अन्तर्भूत हैं। चेष्टा अथवा हाथ आदि की मुद्राओं के द्वारा अर्थ का निर्णय, जैसे कि—'एतावन्मात्रस्तनी' आदि में। यहां हाथ की चेष्टाओं से ही 'एतावत्' शब्द

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यञ्जना।

यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वर-श्रीचन्द्रशेखरसांधिविग्रहिकाणाम्—

'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा
प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः॥'

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेव-नृपतिरूपेऽर्थे नितन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते। एवमन्यत्।

कमलकोरक आदि-आदि अभिप्रायों को दिया करता है जिससे यहां नायिका के स्तनों की रूप-रेखा का निर्देश यह विवक्षित है।

इस उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हुआ कि अभिधामूला व्यञ्जना वह शक्ति है जिसके द्वारा किसी शब्द का एक अन्य ही अर्थ निकला करता है और वहाँ निकला करता है जहां उस शब्द की अभिधा (किसी न किसी अभिधा-नियामक तत्त्व के द्वारा) किसी एक अर्थ में नियन्त्रित कर दी गयी है। अभिधामूला व्यञ्जना के उदाहरण के रूप में चतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्ग, महाकवीश्वर, महापात्र पूज्य पितृचरण श्रीचन्द्रशेखर सांधिविग्रहिक की यह सूक्ति पर्याप्त है—

'(दुर्गालङ्घितविग्रहः) जिसकी सामरिक शक्ति को बड़े-बड़े दुर्ग भी नहीं रोक सकते, (मनसिजं तेजसा संमीलयन्) जिसके सौन्दर्य से कामदेव भी परास्त पड़ा है, (प्रोद्यद्राजकुलः) जिसने कितने ही अभ्युदयशील राजगणों को अपना वशवर्ती बना रखा है, (गृहीतगरिमा) जिसके आगे गौरव अथवा महत्त्व पराजित रहा करता है, (विष्वग्वृतो भोगिभिः) जिसके चतुर्दिक् महावैभवशाली लोग रहा करते हैं, (नक्षत्रेशकृतक्षणः) जो बड़े-बड़े राजाओं पर भी उपेक्षादृष्टि रखा करता है, (गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्) जिसकी भगवान् शिव में प्रगाढ भक्ति है, (गामाक्रम्यविभूतिभूषिततनुः) और जो कि दिग्विजय करने के कारण अपने समस्त ऐश्वर्य में सुशोभित है वह (उमावल्लभः) महारानी उमा का प्राणपति महाराज श्री भानुदेव (राजति) सदा विराजमान रहे।'

यहां अभिधामूला व्यञ्जना इसलिये है क्योंकि प्रकरण ने भले ही 'उमावल्लभ' शब्द को एकमात्र 'उमा नाम की महरानी के पति महाराज श्री भानु देव' के अर्थ में निमन्त्रित कर रखा हो जैसा कि वस्तुतः कर ही रखा है, किन्तु यह निश्चित है कि इसका यहां एक अन्य ही अर्थ अर्थात् पार्वतीपति शिवरूप अर्थ निकल पड़ता है (और अन्त में महराज भानुदेव और भगवान् शिव का परस्पर औपम्य भी स्पष्ट अभिव्यक्त हो उठता है)। इसी (नि इस व्यञ्जना के अन्यान्य उदाहरण स्वयं देखे जा सकते हैं।

वाक दोन—र्श—(क) शक्तिनियामक तत्त्वों का उदाहरणपूर्वक लक्षण 'साहित्यसार' (ऐरावत-
(पहिये) क—करण) के इन श्लोकों में स्पष्ट है—

(१४) स्वर-शब्दे शक्तिग्रहनियामकाः। संयोगाद्य एवात्र ज्ञेया प्राचीनसम्मताः॥
संभव है न कि का—ऽत्र संयोगाद्विष्णुरुच्यते। अशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रेन्द्रः स्याद्वियोगतः॥
नहीं दिया जा रहा है—र सीतेशः साहचर्यतः। हरिर्नागं हिनस्त्यत्र विरोधात्सिंहदन्तिनौ॥

स्थाणुं भज्यच्छिदे पश्येत्यत्र शंभुः प्रयोजनात्। सैन्धवं त्वानयेत्यत्र चारः प्रकरणाद् भवेत्॥
माधवस्तुष्यतीत्यत्र लिङ्गान्नारायणः खलु। देवत्रिपुरहेत्यत्र शिवोऽन्यपदसन्निधेः॥
मधुना कोकिलो मत्तोऽत्र सामर्थ्याद्वसन्तकः। औचित्यात्सा मुखं यातीत्यत्र सांमुख्यमुच्यते॥
हंसः सरसि भातीति देशयोगान्मरालकः। चित्रभानुः स्फुरत्यत्र दिवार्को निशि पावकः॥
मित्रमस्तीत्यत्र सुहृद्व्यक्त्या मित्रः प्रभाकरः। हन्तः स दंत्यः प्राहर्षीरिति चेष्टावशात्स्वयम्॥'

(ख) शक्तिनियामक तत्त्वों का सर्वप्रथम दिग्दर्शन महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि का किया हुआ है। 'वाक्यपदीय' के रचयिता आचार्य भर्तृहरि ने **'संयोगो विप्रयोगश्च'** आदि कारिका में शब्द-दार्शनिकों की शक्तिनियामकतासम्बन्धी धारणाओं का संग्रह किया है। आचार्य भर्तृहरि की इस सम्बन्ध में अपनी धारणा यह है।

'वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥' (वाक्यपदीय २, ३१६)

अर्थात् वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल—ये वे अर्थनियामक तत्त्व हैं जो किसी शब्द के अर्थ के निर्धारक हुआ करते हैं। कोई शब्द अपने स्वरूप मात्र से अपने अर्थ का निर्धारण नहीं किया करता।

कतिपय आचार्य केवल 'सामर्थ्य' को ही मुख्य अर्थनिर्णायक माना करते हैं और संयोगादि को सामर्थ्य का ही व्यञ्जक-प्रपञ्च सिद्ध करते हैं। महावैयाकरण नागेशभट्ट ने **'संयोगो विप्रयोगश्च'** का यह अभिप्राय लिया है—

'एते 'संयोगादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे सन्देहे तदपाकरणद्वारेण विशेषस्मृतिहेतवो निर्णयहेतव इत्यर्थः। उपस्थितानामनेकेषामेकतरमात्रार्थतात्पर्यनिर्णयद्वारा तन्मात्रार्थविषयकान्वयबोधजनका इति भावः। (वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा, पृष्ठ १०९)

अर्थात् संयोगादि को 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' कहने का जो अभिप्राय है वह यह है—कतिपय शब्द अनेकार्थक हुआ करते हैं। ऐसे शब्दों के अर्थों के निर्धारण में संदेह का होना स्वाभाविक है। संयोग, विप्रयोग आदि-आदि के द्वारा ही ऐसा संभव है कि अनेकार्थक शब्द के अनेकों अर्थों में एक अर्थ का निर्णय हो सके। इसीलिये संयोगादि को 'विशेषस्मृतिहेतु' अर्थात् 'अर्थनिर्णयहेतु' कहा जाया करता है।

संयोगादि के द्वारा अनेकार्थक शब्द के **'अर्थनियमन'** अथवा **'अर्थनियन्त्रण'** का यही अभिप्राय है कि एक अर्थ का शब्दबोध पहले हो। किन्तु इसका यह निष्कर्ष नहीं कि यदि बाद में दूसरे अर्थ का शाब्दबोध हो तो वह भी अभिधा द्वारा ही हो। इसलिये नागेशभट्ट का कथन है—

'क्वचित् प्राकरणिकार्थबोधोत्तरं वक्तृबोद्धव्यवैशिष्ट्यप्रतिभादिसहकारेण द्वितीयार्थबोधोऽपि।'

अर्थात् प्राकरणिकार्थबोध के बाद यदि वक्तृवैशिष्ट्य अथवा बोद्धव्यादिवैशिष्ट्य के कारण प्रतिभा-सम्पन्न लोगों के मन में किसी अप्राकरणिक वाच्यार्थभिन्न अर्थ का बोध हो तो वहां अभिधा नहीं अपितु व्यञ्जना का ही हाथ मानना चाहिये। इसलिये व्यञ्जना का यह स्वरूप है—

'मुख्यार्थबोधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसंबद्धासंबद्धसाधारणप्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धसंस्कारविशेषो व्यञ्जना। वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा पृष्ठ १५९।'

अर्थात् नैयायिकों द्वारा लक्षणा में व्यञ्जना का अन्तर्भाव युक्तियुक्त नहीं। वस्तुतः व्यञ्जना तो अर्थ-विषयक एक संस्कार विशेष है, जिसका कारण प्रतिभा है, नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा है। लक्षणा में यह बात कहाँ? व्यङ्ग्यार्थ का स्वरूप, क्या मुख्यार्थ और क्या अमुख्यार्थ, दोनों से भिन्न

है। मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ की प्रतीति के सहायक तत्त्व कुछ और हैं और व्यङ्ग्यार्थ-प्रतीति के सहायक तत्त्व और।

(ग) संयोगादि जो शक्तिनियामक अथवा अभिधानियामक तत्त्व हैं उनमें प्रत्येक का स्वरूप असंकीर्ण है। जैसे कि 'संयोग' और 'साहचर्य' एक नहीं अपितु परस्पर भिन्न तत्त्व हैं। 'संयोग' का अभिप्राय है प्रसिद्ध 'संवन्ध-सामान्य' और यह संयोगवाचक शब्द द्वारा प्रकट किया जाया करता है। जैसे कि **'सशङ्खचक्रो हरिः'** आदि में। **'सशङ्खचक्रो हरिः'** आदि में शङ्ख और चक्र का भगवान् विष्णु से जो संवन्ध है वह प्रसिद्ध है किंवा साक्षात् शब्दोपात्त है। 'साहचर्य' में संयोग का अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि 'साहचर्य' का अभिप्राय स्वस्वामिभाव, जन्यजनकभाव, स्वामिभृत्यभाव आदि २ विशिष्ट सम्बन्धों से संबद्ध और इसीलिये द्वन्द्वादिसमासगत परस्परसंबन्धी पदार्थों का है जैसे कि 'रामलक्ष्मणौ' आदि में, यहाँ 'लक्ष्मण' का साहचर्य राम शब्द की अभिधा का 'राघव' अर्थ में नियामक है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट कहा है—**'संयोगशब्दस्य संवन्धसामान्यपरतया यत्र शब्दोपात्तं प्रसिद्धं संवन्धसामान्यं शक्तिनियामकं तदाऽस्य (संयोगस्य), यत्र तु द्वन्द्वादिगतः संवन्धएव केवलस्तदा तत्साहचर्यस्योदाहरणमिति प्राचामाशयात्। इत्थं च 'सगाण्डिवोऽर्जुनः' इति संयोगस्य, गाण्डिवाऽर्जुनाविति साहचर्यस्योदाहरणम्।'**

(रसगङ्गाधरः, पृष्ठ १४९)

'संयोग' और 'विप्रयोग' को पृथक् २ मानने का अभिप्राय यह है कि 'अशङ्खचक्रो हरिः' आदि में विभाग अथवा विप्रयोग के संयोग-पूर्वक किंवा संयोग-सापेक्ष होने से वस्तुतः तो 'संयोग' ही अभिधानियामक माना जाना चाहिये किन्तु 'संयोग' के गौण होने और 'विप्रयोग' के प्रधान होने के कारण 'विप्रयोग' को ही अभिधानियामक मानना उचित है और माना भी गया है। रसगङ्गाधरकार ने इसीलिये कहा है—**'यद्यप्यत्र गुणतया वर्तमानस्तादृशसंयोग एवाभिधा-नियमनायालम्, तथापि गुणप्रधानयोः संनिपाते प्रधानानुरोध एव न्याय्य इत्याशयेन विप्रयोगस्य नियामकत्वमुक्तम्'**।

विरोधिता का तात्पर्य प्रसिद्ध वैर किंवा सहानवस्थान (साथ न रहना)। **'रामार्जुनगति-स्तयोः'** इस प्रयोग में विरोधिता अथवा प्रसिद्ध वैर के द्वारा ही राम और अर्जुन पद की अभिधा भार्गव और कार्त्तवीर्य अर्थों में एक समय नियन्त्रित की जाया करती है। 'सहानवस्थान' के द्वारा अभिधानियन्त्रण का उदाहरण 'छायातपौ' है। **'रामाऽर्जुनगतिस्तयोः'** में प्रकरण द्वारा अभिधा का नियन्त्रण नहीं क्योंकि यहाँ प्रकरण से दो व्यक्तियों के पारस्परिक विरोध का भाव भले ही निकले, भार्गव और कार्तवीर्य के विरोध का भाव यहां प्रकरण-प्राप्त कहां? पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिये कहा है—**'न च प्रकरणादविशेषः। विरोधस्य प्रक्रान्तत्वेऽपि भार्गव-कार्तवीर्ययोः शक्तिनियमाधिकरणयोरप्रक्रान्तत्वात्।'**

'अर्थ और 'लिङ्ग' एक नहीं अपितु भिन्न २ अभिधानियामक हैं। **'स्थाणुं भज भवच्छिदे'** में 'अर्थ' को अभिधानियामक कहने और **'कुपितो मकरध्वजः'** में 'लिङ्ग' को अभिधानियायक मानने का पृथक् २ उद्देश्य है। **'स्थाणुं भज भवच्छिदे'** में तो भवच्छेदकारणभूत भजन एक ऐसा विशिष्ट धर्म है जो शाब्दबोध का विषय नहीं अपि तु मानस-बोध का विषय है किन्तु **'कुपितो मकरध्वजः'** में जो कोपरूप धर्म है वह साक्षात् शब्द वेद्य है। रसगङ्गाधर के व्याख्याकार आचार्य नागेशभट्ट ने इसीलिये कहा है—

'एवं चासमस्ताखण्डैकपदार्थो लिङ्गमिति फलितम्। भवच्छेदनादिकं च भजनादि-रूपभिन्नपदार्थान्वितमेव भवधर्म इति भावः। (रसगङ्गाधर : गुरुमर्मप्रकाश, पृष्ठ १५२)

'प्रकरण' का अर्थ है वक्ता और श्रोता की 'बुद्धिस्थता' का-**वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थता** (वृत्तिवार्तिक, ६) जैसे कि यदि किसी राजा को संबोधित कर कोई कहे-**'सर्वं जानाति देवः'** तो 'देव' पद का अर्थ संबोध्य व्यक्ति ही होगा क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों के मन में इस पद का यही अर्थ है।

'अन्य शब्दसन्निधि' के अभिधानियामक होने का तात्पर्य यह है—यदि कहीं किसी अनेकार्थक पद के साथ किसी ऐसे निश्चितार्थक पद का सामानाधिकरण्य हो जो कि उस (अनेकार्थक पद) के किसी एक अर्थ से ही अन्वित अथवा संबद्ध हो सके तो वहाँ वह (अनेकार्थवाचक पद) अपने समानाधिकरण पद के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रित किया जाया करता है—**'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नियतार्थकशब्दान्तरसामानाधिकरण्यम्,'**-(काव्यप्रकाशप्रदीप, पृष्ठ ४४) जैसे कि **'देवस्य पुरारातेः'** अथवा **देवस्य त्रिपुरारातेः'** आदि प्रयोगों में 'पुराराति' अथवा 'त्रिपुराराति' पद के सामानाधिकरण्य से अनेकार्थक 'देव' पद की अभिधा महादेव शंकर के अर्थ में नियमित की हुई है क्योंकि 'देव' शब्द के राजविशेष आदि अर्थ के साथ 'त्रिपुरान्तकता' का कोई संबन्ध नहीं हो सकता। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'शब्दान्तरसंनिधि' का यह लक्षण किंवा उदाहरण ठीक नहीं माना है। उनका यहाँ यह कहना है कि **'देवस्य त्रिपुरारातेः'** में 'शब्दान्तर सान्निध्य' नहीं अपि तु 'लिङ्ग' ही अभिधा का नियन्त्रण करता है क्योंकि 'त्रिपुराराति' पद ही साक्षात् महादेव शंकर की 'त्रिपुरान्तकता' के धर्म को प्रकट कर देता है। 'शब्दान्तरसन्निधि' का उदाहरण तो **'करेण राजते नागः'** आदि है। जहाँ 'कर' पद की अभिधा 'नाग' पद के सान्निध्य और 'नाग' पद की अभिधा 'कर' पद के सान्निध्य से शुण्डादण्ड (सूँड़) और गज (हाथी) रूप अर्थों में एक साथ ही नियन्त्रित हुआ करती है। यहाँ ऐसा नहीं कि दोनों पदों के परस्पर शक्तिनियमन में परस्पर सापेक्षता होने से अन्योन्याश्रय दोष पड़ता हो क्योंकि यहाँ तो एक साथ ही दोनों पदों की शक्ति नियमित हुआ करती है। यदि ऐसा न हो तो 'कर' शब्द के 'हाथ' और 'नाग' शब्द के 'साँप' अर्थ लेने पर किस प्रकार का अन्वय यहाँ युक्तियुक्त हो? इसलिये 'शब्दान्तरसन्निधि' का तात्पर्य है-**'शब्दस्यान्यस्य सन्निधिर्नानार्थपदैकार्थमात्रसंसर्ग्यर्थान्तर-वाचकपदसमभिव्याहारः'** (रसगंगाधर, पृष्ठ १५२)। अर्थात् 'शब्दान्तरसन्निधि' वह है जिसे किसी अनेकार्थक पद के साथ एक ऐसे भिन्नार्थक पद का समभिव्याहार (साथ प्रयोग) कहना चाहिये जो उस अनेकार्थक पद के एक ही अर्थ से अन्वित हो सके।

'सामर्थ्य' का अभिप्राय है 'कारणता' का। **'मधुना मत्तः पिकः'** आदि में अनेकार्थक 'मधु' पद की अभिधा वसन्त ऋतु रूप अर्थ में इसलिये नियन्त्रित है क्योंकि पिक की उन्मत्तता की कारणता वसन्त ऋतु में ही देखी जा सकती है न कि मधु पद के अन्य अर्थों जैसे कि सुरा आदि में।

'औचिती' की अभिधानियामकता का अभिप्राय रसगंगाधरकार के शब्दों में यह है—
'औचिती योग्यता'। यथा 'पातु वो दयितामुखम्' इत्यत्र दयितामुखकर्तृकरक्षणकर्मत्वा-भिमतकामार्तानां संबोध्यपुरुषाणां त्राणं हि तस्याः सांमुख्येनैव भवति, न तु मुखमात्रेण, वैमुख्ये तेन त्राणायोगात्। अतस्त्राणार्हत्वं वदन-सांमुख्योभयप्रत्यायकस्य मुखशब्दस्य।' अर्थात् **'पातु वो दयितामुखम्'** आदि प्रसङ्गों में मुख और अनुकूलता दोनों के अर्थ रखने वाले 'मुख' पद की अभिधा अनुकूलता (सांमुख्य) के अर्थ में जिसके द्वारा नियन्त्रित हुआ करती है वह औचिती अथवा योग्यता है क्योंकि कामार्त्त पुरुषों की रक्षा का संबन्ध कामिनियों के मुखमात्र से नहीं अपि तु 'सांमुख्य' (अनुकूलता) से है।

'देश' का अभिप्राय नगर, ग्राम आदि स्थानविशेष का है। **'भात्यत्र परमेश्वरः'** आदि प्रयोगों में 'अत्र' (यहाँ) का अर्थ 'राजधानी' है जिससे 'परमेश्वर' पद का अर्थ एक 'राजविशेष'

ही निकल सकता है न कि 'भगवान्' आदि। पण्डितराज जगन्नाथ ने अभिधानियामकों में 'देश' का यही अभिप्राय लिया है—**'देशो नागरादिः। 'भात्यत्र परमेश्वरः' इत्यादौ परमेश्वरादिशब्दस्य राजादौ। तस्य नगरादिसंबन्धतदभावयोः संभवेनाभावव्यावृत्त्यर्थमधिकरणकीर्तनस्य सार्थक्यात्। परमात्मनस्तु सर्वगतस्य व्यावर्त्याभावात्तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तेः'**।

(रसगंगाधर, पृष्ठ १५५)

'स्वर' की अभिधानियामकता वेद-वाङ्मय में मानी जाती है। संस्कृत काव्य-साहित्य में 'स्वर' की अभिधानियामकता का कोई दृष्टान्त इसलिए नही क्योंकि परम्परा से काव्यमार्ग में स्वर की कोई महत्ता नहीं मानी गयी—**'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते।'** वेद में स्वर की शक्तिनियामकता शतपथब्राह्मण (१.६.३.१) की इस उक्ति से स्पष्ट है—

'अथ यदब्रवीत् इन्द्रशत्रुर्वर्धस्वेति तस्मादु हैनम् इन्द्र एव जघान। अथ यद्ध शश्वद्वचयदिन्द्रस्य शत्रुर्वर्धस्वेति शश्वदुह स एवेन्द्रमहनिष्यत्।'

अर्थात् 'इन्द्रशत्रु' में अन्तोदात्त स्वर के प्रयोग से (क्योंकि **'इन्द्रस्य शत्रुः इन्द्रशत्रुः'** इस तत्पुरुष समासान्त पद में 'समासस्य' 'पाणिनि अष्टाध्यायी ६.१.२२३' इस सूत्र के अनुसार पद का अन्तवर्ण ही 'उदात्त' स्वरयुक्त होगा) तो इन्द्र के शत्रु वृत्रासुर की ही विजयाकांक्षा पूर्ण हुई होती, किन्तु यहीं पूर्व पद पर उदात्त स्वर (**इन्द्रशत्रुः**) के प्रयोग के कारण (क्योंकि **'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्'**–पाणिनिः अष्टाध्यायी ६.२.१'—इस सूत्र से **'इन्द्रः शत्रुर्यस्य'** इस बहुव्रीहि समासान्त पद में पूर्व पद पर उदात्त सर्वथा उचित ही है) वृत्रहन्ता इन्द्र की ही विजय मनायी गयी।

स्वर के द्वारा वेद में अर्थपरिच्छेद का यह सिद्धान्त काव्यप्रकाशकार मम्मट को भी मान्य है—

'इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेदे एव न काव्ये स्वरोऽर्थविशेषप्रतीतिकृत्' अर्थात् 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' आदि वेद-वाक्यों में ही स्वर के द्वारा किसी पद का अर्थनिर्णय संभव है काव्य में नहीं।

यहाँ साहित्यदर्पणकार ने आचार्य मम्मट की धारणा को अपनाया है और इस विषय में मम्मट के आलोचकों की आलोचना की है। मम्मट के आलोचकों की यहाँ यह धारणा थी कि उदात्तादिरूप स्वर अथवा काकुरूप स्वर काव्य में भी अर्थनिश्चायक हुआ करते हैं। इस धारणा का आधार नाट्यशास्त्र (१९.४३) की यह उक्ति थी—

'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे तपोधनाः॥'

तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वीररौद्राद्भुतेषु उदात्तकम्पितैः करुणावात्सल्यभयानकेषु अनुदात्तस्वरितकम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेत्'।

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने नाट्यशास्त्र की इस उक्ति का दूसरा अभिप्राय लिया। उनका कहना है—'काव्य–नाट्य में उदात्तादि अथवा काकादि स्वर अभिधानियामक नहीं अपितु अर्थविशेष के अभिव्यञ्जक हुआ करते है'—इस दृष्टि से ही भरत मुनि ने पाठ्य गुणों का निरूपण किया है और यही आचार्य मम्मट की भी दृष्टि है। तब तो यह निश्चित ही है कि काव्य-नाट्य में स्वर को अनेकार्थक पद का अर्थनियामक नहीं माना जा सकता।

प्रदीपकार का भी यहाँ यही अभिमत है—

'काकुस्थले तु न नानार्थाभिधानियमनं किं त्वपदार्थस्यैव व्यञ्जनम्' (काव्यप्रदीप पृ.४५)

अर्थात् काकुरूप स्वर का काव्य-नाट्य में प्रयोग भले ही हो किन्तु इसका उद्देश्य अनेकार्थ पदों का अभिधानियन्त्रण नहीं अपितु एक ऐसे अर्थ का अभिव्यञ्जन हुआ करता है जो वाच्यार्थ

(२—लक्षणामूलक व्यञ्जना)

लक्षणामूलामाह—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम् ।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया ॥ १५ ॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच्च

नहीं अपितु वाच्यार्थ से विलक्षण अर्थ हुआ करता है। अभिनय (विवक्षितार्थाकृतिप्रदर्शको हस्तादिव्यापारः अभिनयः—वृत्तिवार्तिक, पृष्ठ ८) अथवा हस्तादि चेष्टा द्वारा किसी पद के अर्थनिर्णय का उदाहरण 'एद्दहमेत्तावस्था' आदि है जो कि काव्यप्रकाशकार का ही दिया उदाहरण है। उदाहरणचन्द्रिका (पृष्ठ ५४) में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या दी हुई है—

'सौन्दर्यातिशयशालिन्या नयनगोचरमगताया गुणश्रवणमात्रजनितानुरागेण नायकेनावस्थायां पृष्टायां दूत्या इयमुक्तिः।......एतावत्परिमाणौ आमलकादिपरिमाणौ स्तनौ यस्याः सा एवमेतावत परिमाणं ययोस्ते एतावन्मात्रे विवक्षितकमलदलादिपरिमाणे ताभ्यामक्षिपत्राभ्यां नयनदलाभ्याम्। उपलक्षितेत्यर्थः। उपलक्षणे तृतीयानुशासनात्। तथा एतावन्मद्विवक्षितपरिमाणं दीर्वादि यस्यास्तथाभूता अवस्था स्वरूपं यस्याः सा एवमेतावद् बुद्धिस्थं परिमाणं संख्या येषां तथाविधैर्दिवसैर्लक्षणया संवत्सरैरुपलक्षिता। परिच्छिन्नेति यावत्। वर्षकथनस्यैव प्रायशो लोकव्यवहारसिद्धत्वात्। दिवसैरिति करणे वा तृतीया। अत्र मुकुलाकारहस्ताभिनयेन स्तनपरिमाणविशेषे, पद्मदलाकृतिना तेन नेत्रपरिमाणविशेषे अङ्गुल्यङ्कधारणादिरूपेण च दिवससंख्याविशेषे बुद्धिस्थमात्रशक्त्या एतावच्छब्दाः नियमितशक्तयः।'

अभिनय के अतिरिक्त 'अपदेश' को भी अर्थपरिच्छेदक मानने का अभिप्राय यह है- अपदेश कहते हैं विवक्षित अर्थ के स्पष्ट निर्देश को (विवक्षितार्थस्य भङ्गग्राहिकया निर्देशः अपदेशः)। 'इतः स दैत्यः प्राप्तश्रीः' (कुमारसंभव २.५५) आदि में 'इतः' का अभिप्राय 'वक्ता' ही निकलता है क्योंकि वक्ता ही इस पद के प्रयोग में अपने वक्षःस्थल पर अपना हाथ रखकर अपना निर्देश कर रहा है।

इस प्रकार इन उपर्युक्त अभिधानियामकों में से किसी एक के द्वारा किसी पद के अर्थनिर्णय के हो चुकने पर भी यदि कोई विलक्षण अर्थ प्रतीत हो उठे तो यह निश्चित है कि यहाँ अभिधा व्यापार की कोई संभावना नहीं। यहां तो एक मात्र व्यञ्जना का ही साम्राज्य है जो कि अभिधा-व्यापार के मस्तक पर चढ़ी, वस्तुतः हृदय में वसी, एक चमत्कारजनक अर्थ का प्रत्यायन किया करती है।

अनुवाद—अब लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया जा रहा है—

लक्षणामूलक व्यञ्जना वह है जिसके द्वारा प्रयोजन का प्रत्यायन करवाया जाया करता है जिसकी दृष्टि से लाक्षणिक पद का प्रयोग हुआ करता है।

(लाक्षणिक पद-प्रयोगों में लक्षणामूलक व्यञ्जना के द्वारा प्रयोजन के प्रत्यायन का रहस्य यह है-'गङ्गायां घोषः'-'गंगा पर कुटी जैसे प्रसंग में, जहां 'गङ्गा' शब्द ऐसा प्रयुक्त है जिसकी अभिधाशक्ति तो प्रवाहरूप अर्थ के अवबोध में ही क्षीण हो चुकी है और लक्षणा का व्यापार (सामीप्य सम्बन्ध की प्रयोजकता से) अधिक से अधिक तट-रूप अर्थ का ही उपस्थापन कर पाता है, यह तो एकमात्र यहां की लक्षणाश्रित व्यञ्जना

लक्षणायां विरतायां यथा शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना ।

का ही सामर्थ्य है जिसके द्वारा यहां शीतलता और पवित्रता के सुन्दर वातावरण की उत्कट प्रतीति करवायी जाया करती है (जिसको लक्ष्य में रखकर 'गङ्गातटे' इस वाचक पद के बदले 'गङ्गायाम्' इस लाक्षणिक पद का व्यवहार हुआ करता है)।

विमर्श—(क) शाब्दीव्यञ्जना के प्रथम भेद अर्थात् अभिधामूलक व्यञ्जना का स्वरूप-परिज्ञान उसके द्वितीय भेद अर्थात् लक्षणामूलकव्यञ्जना के विशद परिचय के लिये आवश्यक है और इसीलिए साहित्यदर्पणकार ने इसी क्रम से शाब्दी व्यञ्जना के प्रकारों का निरूपण भी किया है । व्यञ्जना को 'लक्षणामूलक' कहने से यह स्पष्ट सिद्ध है कि बिना व्यञ्जना के माने लक्षणा का भी रहस्य अनिर्भिन्न ही रह जायगा । काव्यप्रकाशकार ने इसीलिये कहा था—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते ।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया ॥'

अर्थात् प्रयोजन के प्रत्यायन के लिये यदि वाचक पदों को छोड़कर लाक्षणिक पदों का प्रयोग हुआ करता है तब तो यह निश्चित है कि व्यञ्जना को लक्षणा से पृथक् शब्दशक्ति माना जाय क्योंकि लक्षणा-ज्ञान और व्यङ्ग्यभूत लक्षणा-ज्ञानफल (जैसे कि 'गङ्गायां घोषः' में तटरूप लक्षणाज्ञान और शैत्यादिरूप व्यङ्ग्यलक्षणा-ज्ञानफल, दोनों को लक्षणा द्वारा उपस्थापित मानना ज्ञान और ज्ञानफल के स्वरूपगत भेद को दार्शनिक मीमांसा से अनभिज्ञता प्रदर्शित करने के ही बराबर है—'ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।' इसलिये कहा गया है—

'अन्वयानुपपत्त्या हि लक्षणा प्रसरन्ती यावदन्वयोपपादकं तावदेव विषयीकरोति, न त्वनुपपादकमपीति कथं तटे पावनत्वमपि विषयीकुर्यात् । नन्वन्वयानुपपत्त्या कल्प्यमानापि सानुद्देश्यमपि शैत्यं विषयीकरोति, यथा तापोपशमायोपादीयमानं चन्दनं शैत्यमपि जनयतीति चेत् , न । चन्दनस्य संनिधिमात्रेण शैत्यजनकत्वम् ; लक्षणायास्त्वनुपपत्तिप्रसारितयेति वैषम्यात् ।'

अर्थात् लक्षणा, जो कि अन्वय की अनुपपत्ति के कारण प्रवृत्त होती है, । उतने ही अर्थ को अपना विषय बना सकती है जो अन्वय की अनुपपत्ति को दूर किया करे। ऐसा भला कैसे कि लक्षणा द्वारा वह अर्थ भी प्रतीत हुआ करे जिसमें अन्वय की कोई उपपादकता नहीं । 'गङ्गायां घोषः' आदि प्रयोगों में लक्षणा द्वारा 'तट' रूप अर्थ ही प्रतिपादित हो सकता है । क्योंकि इसी अर्थ से अन्वय की स्वभावतः उपपत्ति हो जाया करती है शैत्यादिरूप अर्थ का प्रतिपादन लक्षणा द्वारा क्यों हो ? इस अर्थ में यहाँ अन्वय की क्या उपपादकता ?

इसी विचारधारा का प्रसार 'अलंकारमहोदधि (२ य तरङ्ग)' में इस प्रकार दृष्टिगत होता है—

'शब्दैरत्रोपचारेण विषयः प्रतिपाद्यते ।
क्रियान्तरस्यासद्भावात् व्यक्त्यैवातिशयः पुनः ॥

अत्रास्यामुपचारविचित्रतायामारोपस्य विषयस्तटादिः शब्दैर्गङ्गादिभिरुपचारेणोपचाराख्यव्यापारेण प्रतिपाद्यते प्रतिपत्तिगोचरतां नीयते।पावनत्वादिधर्मप्रतीतिरूपस्त्वतिशयो व्यक्त्यैव व्यञ्जनाव्यापारेणैव प्रतिपाद्यते । कुतः ? क्रियान्तरस्य व्यापारस्यासद्भावादसत्त्वात् । यतः पावित्र्यादिधर्माणां प्रतीतौ नाभिधा प्रवर्त्तते । गङ्गादिशब्दानां तेष्वसंकेतितत्वात् । नाप्युपचारस्तन्निमित्तानां मुख्यार्थबाध-तत्प्रत्यासत्त्यतिशयप्रतीतीनामभावात् । न ह्यत्र लक्षणीयं तटादि मुख्योऽर्थः । नाप्यत्र प्रवाहादिवत् कश्चिद्बाधः । न चास्य पावित्र्या-

(आर्थी व्यञ्जना)

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वार्थीमाह—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥ १६ ॥

यतिशयेन कापि प्रत्यासत्तिः । न चाप्यतिशये लक्ष्ये किञ्चिदतिशयान्तरारोपणमस्ति । नाप्यत्र तटादाविव गङ्गादिशब्दाः स्खलद्गतयः, तत् कथं पावित्र्यादयो लक्ष्याः ? एवं स्थितेऽपि यद्यतिशयभूतास्ते लक्ष्यन्ते, तत् केनाप्यतिशयेन सोऽप्यतिशयान्तरेणेत्यनवस्थाप्रसङ्गः ।'

(ख) काव्यप्रकाशकार ने लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण पहले किया है और अभिधामूलक व्यञ्जना का स्वरूप बाद में बताया है। काव्यप्रकाशकार के लिये यही प्रतिपादन-क्रम अपेक्षित था क्योंकि उन्हें 'व्यञ्जना' की प्रतिष्ठा करनी थी। 'लक्षणा' की सम्पूर्ण मान्यता व्यञ्जना के बिना युक्तियुक्त नहीं—इसलिये लक्षणामूलक व्यञ्जना की सिद्धि काव्यप्रकाशकार के लिये अपेक्षित ही है। साहित्यदर्पणकार को 'व्यञ्जना' की सिद्धि नहीं करनी है क्योंकि वह तो प्राचीन आचार्यों द्वारा ही सिद्ध की जा चुकी थी। साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये अभिधामूलक व्यञ्जना के निरूपण के बाद लक्षणामूलक व्यञ्जना का निरूपण किया है। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के सिद्धान्त के प्रवर्तक आचार्य के लिये व्यञ्जना द्वारा 'अर्थातिशय' का प्रत्यायन मानना स्वाभाविक है और युक्तिसंगत भी है। अलङ्कारमहोदधिकार ने व्यञ्जनावृत्ति के सम्बन्ध में इसीलिये कहा है—

'तेन व्यञ्जनवैचित्र्यमप्यास्ते शब्दगोचरम् ।
विदग्धत्वं कवीन्द्राणां यस्मिन् परिसमाप्यते ॥

यतो व्यञ्जनेनातिशयं शब्दः प्रत्याययति तेन कारणेन शब्दगोचरं शब्दाश्रयं न केवल-मभिधोपचारवैचित्र्यं व्यञ्जनवैचित्र्यमप्यास्ते इति प्रतीयते । यस्मिन् व्यञ्जनवैचित्र्ये कवीन्द्राणां विदग्धत्वं नैपुण्यं परिसमाप्यते परां काष्ठामधिरोहति । व्यञ्जनव्यापारभूषिता हि भारती कवीनां महन्माहात्म्यमुन्मुद्रयति ।'

अर्थात् अभिधामूलक और लक्षणामूलक शब्दाश्रित व्यञ्जना व्यापार तो है ही किन्तु स्वतन्त्र-रूप से भी व्यञ्जना का व्यापार-वैचित्र्य काव्य-साहित्य की एक अतिरिक्त विशेषता है और यह ऐसी विशेषता है जिसके कारण कवियों की कला चमकती है और काव्य का आन्तरिक सौन्दर्य निखरता है।

अनुवाद—इस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना का विश्लेषण करके अब आर्थी व्यञ्जना का विचार किया जा रहा है—

'अर्थसंभवा अथवा आर्थी व्यञ्जना वह व्यञ्जना है जो कि इन निम्नांकित कारणों से किसी अन्य ही अर्थ का प्रत्यायन कराया करती है—

१. कारण—वक्तृवैशिष्ट्य
२. " —बोद्धव्यवैशिष्ट्य
३. " —वाक्यवैशिष्ट्य
४. " —अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य
५. " —वाच्यवैशिष्ट्य
६. " —प्रस्ताववैशिष्ट्य
७. कारण—देशवैशिष्ट्य
८. " —कालवैशिष्ट्य
९. " —काकुवैशिष्ट्य
१०. " —चेष्टावैशिष्ट्य
११. " —अन्यान्यवैशिष्ट्य

व्यञ्जनेति सम्बध्यते।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम—

'कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।
केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-
र्दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य॥'

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते।

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा—

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः।
मिथ्यावादिनि! दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्॥'

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम्। तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते।

यहाँ कारिका में 'सा'–'वह' इस (सर्वनाम) पद के साथ 'व्यञ्जना' इस पद का सम्बन्ध है (न कि और किसी का)। इस प्रकार जिस शक्ति से ऐसा हुआ करता है वह शक्ति व्यञ्जना शक्ति ही है अन्य कोई शक्ति नहीं।

जैसे कि वक्तृवैशिष्ट्य, वाक्यवैशिष्ट्य, प्रस्ताववैशिष्ट्य, देशवैशिष्ट्य और कालवैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्य अर्थ के प्रत्यायन में आर्थी व्यञ्जना का स्वरूप इस स्वरचित सूक्ति में स्पष्ट है—

'वसन्त की मादक ऋतु आ पहुँची है, कामदेव की त्यौरियाँ चढ़ गयी हैं, रतिश्रम को दूर भगाने वाली हवा बहने लगी है, क्रीडावन भी ऐसा है जिसका अशोककुञ्ज बड़ा मनोहर दीख रहा है और पति भी पास नहीं। अरी सखी! तू ही बता कि अब किया भी जाय तो क्या किया जाय!'

यहाँ वस्तुतः बात यह है कि कोई नायिका अपनी सखी के प्रति यह अभिप्राय प्रकट करना चाहती है 'यथाशीघ्र तू इस एकान्त स्थान पर मेरे प्रच्छन्नकामुक को भेज' (और यह अर्थ ऐसा है जो इस समस्त सूक्ति के आपाततः प्रतीत अर्थ से सर्वथा भिन्न प्रकार का ही अर्थ है किन्तु वक्तृवैशिष्ट्यादि के कारण इसकी प्रतीति अवश्य हो उठती है और इसी में इस सूक्ति का सौन्दर्य भी झलक उठता है)।

बोद्धव्यवैशिष्ट्य के कारण किसी अर्थ के द्वारा अन्यार्थ की प्रतीति, जैसे कि—

'तेरे स्तनों के किनारे ऐसे जिनमें चन्दन का नामोनिशान नहीं बचा! तेरा अधर ऐसा जिसका रंग बिलकुल फीका हो गया! तेरी आँखें ऐसी जिनकी कोर में अंजन की छुआछूत न रही और तेरी दुबली-पतली देह ऐसी जो पुलकित हो उठी है! अरी मुझ सरीखे सखीजन की व्यथा को कुछ न समझने वाली, झूठी दूती! तू यहाँ से वापी में नहाने के लिये गयी थी, उस नीच के पास भला तू कहाँ गयी!'

यहाँ पहले तो (अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ में वैपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से)

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा—

'उअ णिच्चल णिप्पन्दा, भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ (दा)सङ्खसुत्ति व्व ॥'

[पश्य निश्चल निष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शंखशुक्तिरिव ॥]

अत्र बलाकाया निष्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुकं प्रत्युच्यते। अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम्।

'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः। एतद्वैशिष्ट्ये यथा—

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम्।

विपरीतलक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ निकल रहा है—'तू उसी (नीच) के पास गयी थी' और इस लक्ष्यार्थ के द्वारा व्यंग्यार्थ निकल रहा है 'रमण करने के लिये' (गयी थी)। इस प्रकार के व्यंग्यार्थ का बोध यहाँ 'बोद्धव्यवैशिष्ट्य' अथवा प्रतिपाद्य दूती के व्यक्तित्व की विशेषता के ही कारण संभव है।

अन्य सन्निधिवैशिष्ट्य के कारण व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति जैसे कि—

'अरे देखो तो कैसा दृश्य है! कमलिनी के पत्ते पर चुपचाप बैठी यह बलाका (मादा बगुला) ऐसी सुन्दर दीख रही ही है मानो किसी निर्मल नीलम की थाली में शंखशुक्ति (अंजन रखने की शंख की बनी सितुही) पड़ी हो।'

यहाँ बलाका की निष्पन्दता अथवा बिना हिले-डुले बैठने के अभिप्राय से यह व्यंग्यार्थ निकल रहा है कि इस स्थान पर निःशंकता विराज रही है जो वस्तुतः इस व्यंग्यार्थ का व्यञ्जक है कि यह स्थान ऐसा है जहाँ किसी के आने-जाने की संभावना नहीं। यह व्यंग्यार्थ भी अन्ततोगत्वा इस विचित्र व्यंग्यार्थ में लीन हो जाता है कि यही वह स्थान है जो प्रेम मिलन के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। अब यह अन्तिम व्यंग्यार्थ इसलिये प्रतीत हो रहा है क्योंकि यहाँ 'अन्यसंनिधिवैशिष्ट्य' की व्यंग्यार्थ प्रयोजकता विराजमान है क्योंकि यहाँ नायिका अपने समीप खड़े प्रच्छन्न प्रेमी के प्रति यह सब कुछ कहना चाह रही है। यहाँ एक और भी बात है और वह यह है कि यहाँ अभिव्यंग्य 'इस स्थान की निर्जनता' का जो अभिप्राय है वह भी (वाच्यवैशिष्ट्य की प्रयोजकता से) उपर्युक्त अन्तिम व्यंग्यार्थ अर्थात् 'यह स्थान ही प्रेम-मिलन का अत्यन्त सुन्दर स्थान है' इस अभिप्राय का ही अभिव्यञ्जक देखा जा सकता है।

काकुवैशिष्ट्य से व्यंग्यार्थ की प्रतीति के उदाहरण के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि 'काकु' (किसी भावावेश अथवा उद्देश्य विशेष के कारण) कण्ठ की बदली ध्वनि को कहा करते हैं और इसके अनेकानेक भेद आकर-ग्रन्थों जैसे कि नाट्यशास्त्र आदि काव्यालङ्कारशास्त्र के प्रामाणिक आधारभूत ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं। काकुवैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायकता यहाँ अर्थात्—

अरी सखी! भौंरों की गुञ्जार और कोयलों की कूक से सुहावने इस वसन्त समय में

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ॥'

अत्र नैष्यति, अपि तर्हि एष्यत्येवेति काका व्यज्यते—

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—

'संकेतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्द्योत्यते । एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम् ।

वे तो नहीं आवेंगे जो कि अपने माता-पिता के वशंवद होने के कारण कहीं दूर जाने को उद्यत हैं ?'

इत्यादि सूक्ति में देखी जा सकती है जहां 'नैष्यति' 'नहीं आवेंगे' पर पड़ने वाली 'काकु अथवा ध्वनि-विकृति' के द्वारा 'एष्यति' अवश्य आवेंगे' का अभिप्राय अभिव्यक्त हो उठता है ।

चेष्टावैशिष्ट्य में किसी अर्थ की व्यङ्ग्यार्थबोधकता जैसे कि—

'नायिका भी कितनी चतुर निकली कि जैसे ही उसने यह देखा कि उसका कामुक प्रेममिलन की वेला के जानने के लिये उत्सुक है वैसे ही उसने अपनी हँसती आंखों के इशारे से अपने हाथ में लिये लीलाकमल की पंखुड़ियों को बन्द कर दिया ।'

यहाँ किसी नायिका की, लीलाकमल की पंखुड़ियों के बन्द करने की चेष्टा से यही स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वह सायंकाल को अपने प्रम मिलन का समय बताना चाह रही है ।

अर्थव्यञ्जकता के उपकरणों के ये उपर्युक्त उदाहरण रहे, इन्हीं के ऐसे भी उदाहरण देखे जा सकते हैं, जिनमें या तो ये (व्यस्त रूप से) अलग अलग या (समस्त रूप से) मिले-जुले व्यङ्ग्यार्थप्रत्यायन के सहायक हुआ करें ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने व्यञ्जना को शाब्दी और आर्थी भेदों में विभक्त किया है और शाब्दी व्यञ्जना के अभिधामूलक और लक्षणामूलक दो भेद बताये है । यह विश्लेषण काव्यप्रकाशकार मम्मट द्वारा प्रमाणित है । काव्यप्रकाश के 'प्रदीप व्याख्याकार का इसीलिये यह कथन है—

'सा (व्यञ्जना) च द्वेधा-शब्दनिष्ठा अर्थनिष्ठा च ।
आद्या तु द्वेधा-अभिधामूला लक्षणामूला च ॥'

'एवं शब्दे निरूपिते उपोद्घातेन शब्दव्यञ्जनायां निरूपितायां प्रसङ्गेनार्थव्यञ्जना निरूपणीया (काव्यप्रदीप ६ उल्लास) ।

प्राचीन अलङ्कारशास्त्र में काव्य-साहित्य के शब्द-वैचित्र्य की मान्यता तो अवश्य थी किन्तु इस शब्द-वैचित्र्य का विश्लेषण नहीं हुआ था । ध्वनिवाद ने सर्वप्रथम शब्दवैचित्र्य के रहस्य का उद्घाटन किया और इसके मूल में शाब्दी व्यञ्जना का स्वरूप दिखाई दिया । अलङ्कारमहोदधिकार ने इसीलिये कहा हैं—

'न शब्दवैचित्र्यमिदं विनाऽश्नुते श्रियं कवीनां भणितिर्महत्यपि ।
मरीचयश्चण्डरुचो हि दर्पणे निपेतिवांसो विकसन्ति नाश्मनि ॥'

अर्थात् कोई भी कविता अपने उपकरणभूत शब्दवैचित्र्य से ही सुन्दर लगा करती है । इस शब्द-वैचित्र्य के मूल में कवि-प्रतिभा छिपी है । जब तक वाचक और लाक्षणिक शब्दों के हृदय में

व्यञ्जकता की झंकार न हो तब तक 'कविता' कहां से आ जाय ! सूर्यरश्मियां दर्पण पर गिर कर सहस्रधा प्रतिफलित हुआ करती हैं, पत्थर पर नहीं।

'आर्थीव्यञ्जना' का एक अलग महत्त्व है। अर्थवैचित्र्य के कारण कविजन महाकवि बना करते हैं। यह अर्थवैचित्र्य वस्तुतः आर्थीव्यञ्जना के कारण संभव है जैसा कि अलङ्कार-महोदधिकार का कथन है—

'अक्लिष्टप्रतिभाहवः सौकुमार्यमनोरमः।
रससंवलितानेकभङ्गीसर्वाङ्गभूषितः ॥
अयोनिरपरच्छायायोनिर्वा परभागभाक्।
स चेतनचमत्कारी धत्तेऽर्थः कविताङ्गताम् ॥

अर्थोऽभिधेयं वस्तु कविताङ्गतां काव्यकारणत्वं धत्ते धारयति। कीदृशः ? अक्लिष्टप्रतिभाहवः अक्लिष्टा कदर्थनारहिता या प्रतिभा नवनवोन्मेषशालो प्रज्ञाविशेषस्तया हवो विभावितोऽत एव सौकुमार्यमनोरमः। सुकुमारसंभूतं हि वस्तु सुकुमारमेव भवति। पुनः कीदृशः ? रसैः शृङ्गारादिभिः संवलिता मिश्रीभावशालिनी याऽनेका भङ्गी विच्छित्तिस्तया सर्वाङ्गमामूलचूलं भूषितः समलंकृतः अर्थो हि रसकल्लोलिनीं नवनवां विच्छित्तिमुररीकुर्वन्नेव चारिमाणमारोहति······।'

अर्थात् काव्य के दो अर्थ हैं—१. आपातरम्य अर्थ और २. पर्यन्तरम्य अर्थ। आपातरम्य अर्थ काव्य नहीं अपि तु काव्य का उपकरण है। काव्य में इस उपकरणभूत अर्थ का उपनिबन्ध इसीलिये है जिसमें इसके द्वारा उस चमत्कारजनक अर्थ का अवभास हुआ करे जो कि काव्य का सर्वस्व है और जिसमें कविप्रतिभा का उन्मेष है। इस उपकरणभूत अर्थ का वैचित्र्य ही वक्तृबोद्धव्यादि वैशिष्ट्य के रूप में अलङ्कारशास्त्र के विश्लेषण का आधार है। आर्थीव्यञ्जना के रूप से वस्तुतः कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा ही अपना प्रसार किया करती है और पूर्व प्रतिपादित काव्यार्थों को भी नवीन बनाया करती है।

(ख) आर्थी व्यञ्जना के प्रयोजक वक्तृ-बोद्धव्यादि वैशिष्ट्य माने गये हैं। एक शब्द में कविविवक्षा और सहृदय-वैदग्ध्य को आर्थी व्यञ्जना का नियामक कह सकते हैं। इसीलिये सभी आलङ्कारिक कविकृति और काव्यानुशीलन दोनों को अर्थव्यञ्जकता के कारणरूप से प्रतिपादित करते रहे हैं। आचार्य मम्मट ने आर्थीव्यञ्जना के निरूपण में स्पष्ट कहा है—

**'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥'** (काव्यप्रकाश १-२१, २२)

अर्थात् 'वक्तृवैशिष्ट्य आदि कविहृदयगत नानाविध नियामकों के ही कारण प्रतिभासम्पन्न काव्यानुशीलकों को जहां-तहां एक विलक्षण अर्थ प्रतीत हुआ करता है। यह अर्थ वस्तुतः आपाततः प्रतीत अर्थ की ही अभिव्यञ्जना का परिणाम है।'

किन्तु विश्वनाथ कविराज ने वक्तृवैशिष्ट्य आदि को ही आर्थी व्यञ्जना का नियामक माना है—

'वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः ।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च ॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्सार्थसंभवा।'

जिससे ऐसा लगता है जैसे आपाततः प्रतीत अर्थ से अभिव्यङ्ग्य अन्तरमणीय अर्थ का अनुभव किसी प्रकार की काव्यानुशीलनप्रतिभा की अपेक्षा नहीं किया करता। यहां विश्वनाथ कविराज के

(आर्थी व्यञ्जना के तीन प्रकार)

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ॥ १७ ॥

(आर्थी व्यञ्जना के उपर्युक्त प्रकारत्रय का निरूपण)

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः। तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—'कालो मधुः' इत्यादि। लक्ष्यार्थस्य यथा—'निःशेषच्युतचन्दनम्'—इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य यथा—'उअ णिच्चल-' इत्यादि। प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते।

मन में दो बातें हो सकती हैं—१. यह कि काव्यानुशीलन प्रतिभा की सहायता शाब्दी व्यञ्जना में भी अपेक्षित है और इसीलिये इसे आर्थीव्यञ्जना की ही विशेषता नहीं माना जा सकता और २. यह कि आर्थीव्यञ्जनाओं में व्यङ्ग्य अर्थ वस्तु अथवा अलङ्कार रूप भी हो सकता है न कि रसभावादि रूप ही और इसलिये इस व्यञ्जना को प्रतिभा-संवेद्य मानना रसात्मक वाक्यरूप काव्य की आनन्दानुभूति को इसके समकक्ष सिद्ध करने की धृष्टता करने के बराबर है। यहां विश्वनाथ कविराज की यह धारणा सर्वथा युक्तियुक्त है। यहां 'काव्यप्रकाश' के महान् व्याख्याकार महामहोपाध्याय श्री गोविन्द ठक्कुर की यह उक्ति असंगत सी लगती है—

'प्रतिभाजुषामित्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या वासनेत्युच्यते। तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति प्रतिपादितम्। अत एव वैयाकरणादीनां न तथा रसप्रतीतिः। तथा चोक्तम्—

सवासनानां नाट्यादौ रसस्यानुभवो भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तर्वेश्मकुड्याश्मसंनिभाः॥ (काव्यप्रदीप ३ उल्लास)

यह उक्ति असंगत इसलिये है क्योंकि यहां आर्थी व्यञ्जना की अनुभूति और रसानुभूति को समकक्ष मान लिया गया है।

अनुवाद—(अपने विविध व्यञ्जकता-नियामक तत्त्वों से उपकृत) ये आर्थी व्यञ्जनायें भी इसलिये तीन प्रकार की हुआ करती हैं क्योंकि व्यञ्जक अर्थ के तीन प्रकार हुआ करते हैं।

अभी जिन आर्थी व्यञ्जनाओं का निरूपण किया जा चुका है उनमें 'प्रकारत्रय' मानना इसलिये उचित है क्योंकि उनके अभिव्यञ्जक अर्थ भी वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप से तीन प्रकार के हुआ करते हैं। जैसे कि १. वाच्यार्थ की व्यञ्जना—'कालो मधुः' इत्यादि, २. लक्ष्यार्थ की व्यञ्जना—'निःशेषच्युतचन्दनम्' इत्यादि और ३. व्यङ्ग्यार्थ की व्यञ्जना—'उअ णिच्चल' (पश्य निश्चल) इत्यादि। इसके अतिरिक्त प्रकृति की व्यञ्जना, प्रत्यय की व्यञ्जना आदि आदि भी व्यञ्जना के प्रकार ही हैं जिनका विवेचन आगे (चतुर्थ परिच्छेद में) किया ही जायगा।

विमर्श—काव्यप्रकाशकार ने वाच्य-लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य रूप त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकता तो मानी है किन्तु इसके आधार पर आर्थी व्यञ्जना के तीन भेदों का कोई विश्लेषण नहीं किया है। विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जक अर्थों के त्रैविध्य के कारण अर्थ की व्यञ्जकता शक्ति को भी त्रिविध मान लिया है। वस्तुतः यहां आर्थी व्यञ्जना का त्रैविध्य-निरूपण उतना युक्तियुक्त नहीं लगता जितना कि त्रिविध अर्थों की व्यञ्जकताओं में एकविध व्यञ्जना का स्फुरण-निरूपण। वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थ स्वयं व्यञ्जक नहीं हुआ करते। इन्हें व्यञ्जक बनाना तो कविकला का काम है। तभी तो अलङ्कारमहोदधिकार का यह कहना है—

(शाब्दी और आर्थी व्यञ्जना में अर्थ और शब्द का क्रमशः उपयोग)

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः ।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥ १८ ॥

(व्यञ्जकता की दृष्टि से शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता की आवश्यकता)

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम् , तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या ।

'वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसंनिधेः । प्रस्तावदेशकालदेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम् ॥ मुख्योपचरितव्यङ्ग्याः क्वचिदर्थास्त्रयोऽप्यमी । बिभ्रति व्यञ्जकीभावं निजप्रागल्भ्यसंपदा ॥

मुख्याद्यास्त्रयोऽप्यर्थाः प्रतिभाजुषां वैदग्ध्यशालिनां विदग्धानां प्रतीत्यर्थः व्यञ्जकत्वं धारयन्ति । कया ? निजप्रागल्भ्यसंपदा तत् किञ्चित सन्निवेशनैपुण्यमुन्मीलति येन ते व्यञ्जका जायन्ते— (अलङ्कारमहोदधि ३ तरंग)

अर्थात् आर्थी व्यञ्जना के निमित्तदर्शक जैसे कि वक्तृवैशिष्ट्य आदि वस्तुतः वाच्य-लक्ष्य किंवा व्यङ्ग्य अर्थों के सन्निवेश-वैचित्र्य से सम्बद्ध कविकला के ही आविष्करणमात्र हैं और तभी यह संभव है कि प्रतिभावान् काव्यभावक इनका सूत्र पकड़ कर कवि के हृद्गत अभिप्राय तक पहुँच जाय और वही अनुभव करे जिसे कवि कर चुका है और जिसकी प्रेरणा से एक विशेष प्रकार का अर्थसन्निवेश उपस्थित हुआ है जिसकी सतह से काव्य-सौन्दर्य की तरंगें उठा करती हैं और सहृदयों के हृदयों का स्पर्श किया करती हैं ।

अनुवाद—(आर्थी व्यञ्जना में) वही अर्थ अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो शब्द द्वारा बोधित हो और (शाब्दी-व्यञ्जना में) वही शब्द अभिव्यञ्जक हुआ करता है जो एक से अधिक अर्थ का आश्रय हो—इसलिये जहां एक (शब्द अथवा अर्थ) प्रधान रूप से अभिव्यञ्जक रहा करता है वहां दूसरा (अर्थ अथवा शब्द) उसका सहायक हुआ करता है ।

(शाब्दी व्यञ्जना के क्षेत्र में) शब्द की व्यञ्जकता अर्थ की अपेक्षा किया करती है और (आर्थी व्यञ्जना के क्षेत्र में) अर्थ की व्यञ्जकता शब्द की अपेक्षा किया करती है—इससे यही मानना पड़ता है कि एक की व्यञ्जकता में दूसरे की व्यञ्जकता का हाथ अवश्य रहा करता है ।

विमर्श—(क) शब्द की व्यञ्जकता में अर्थ—साहाय्य और अर्थ की व्यञ्जकता में शब्द-साहित्य का सिद्धान्त व्यञ्जनावाद का एक मौलिक सिद्धान्त है । ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धन ने स्पष्ट कहा है—

'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥' (ध्वन्यालोक १-१३)

और इसीलिये आचार्य अभिनवगुप्त ने इसका यह अभिप्राय लिया है—

'व्यङ्क्त इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकस्तथाप्यर्थस्यापि सहकारिता न त्रुट्यति, अन्यथाऽज्ञातार्थोऽपि शब्दस्तद्व्यञ्जकः स्यात् विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव, विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्याव्यञ्जकत्वादिति सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननं व्यापारः ।......अर्थः शब्दो वेति विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण ।'

(शब्द की उपाधि-त्रैविध्य)

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः ।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ १९ ॥

(उपाधि-त्रैविध्य : स्पष्टीकरण)

अभिधोपाधिको वाचकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः ।

यही सिद्धान्त काव्यप्रकाशकार का भी है—

'(तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः) यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा ।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः ॥' (काव्यप्रकाश २-२०)
'शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तरं यतः ।
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता ॥' (काव्यप्रकाश ३-२३)

विश्वनाथ कविराज ने इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि में कहा है—

'तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्त्तव्या ।'

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी विषय को अपनी शैली में इस प्रकार प्रतिपादित किया है—

'यद्यपि शब्दशक्तिमूलकत्वमर्थशक्तिमूलकत्वं चेत्युभयमपि सकलव्यङ्ग्यसाधारणम्, शब्दार्थयोरनुसन्धानं विना व्यङ्ग्यस्यैवानुल्लासात्, तथापि परिवृत्त्यसहिष्णूनां शब्दानां प्राचुर्य तत्प्रयुक्तात् प्राधान्यात् सत्या अप्यर्थशक्तेरप्राधान्यान्न व्यङ्ग्यस्य शब्दशक्तिमूलकत्वेनैव व्यपदेशः । परिवृत्तिसहिष्णूनां तु प्राचुर्येऽर्थशक्तेरेव प्राधान्यात् सत्या अपि शब्दशक्तेः प्रधानानुगुण्यार्थतया मल्लग्रामादिवत् प्रधानेनैव व्यपदेशः ।

अर्थात् चाहे ध्वनि शब्दमूलक हो या अर्थमूलक हो, इतना निर्विवाद है कि बिना दोनों अर्थात् शब्द और अर्थ के अनुसन्धान के ध्वनि का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता । शब्द और अर्थ की परस्पर सहकारिता ही शब्दव्यञ्जकता और अर्थव्यञ्जकता का मूलभूत सिद्धान्त है । यह तो शब्दव्यञ्जना के उन्मेष में अर्थव्यञ्जना का निमेष है और इसी प्रकार अर्थव्यञ्जना के उन्मेष में शब्दव्यञ्जना का निमेष जिसके कारण शाब्दी और आर्थी व्यञ्जनाओं का स्वरूपभेद किया जाया करता है ।

अनुवाद—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना—इन तीन उपाधियों अथवा धर्मों की विशेषता के कारण शब्द भी तीन प्रकार के हुआ करते हैं जैसे कि १. वाचक, २. लक्षक और ३. व्यञ्जक ।

'वाचक' शब्द वह शब्द है जिसमें अभिधाधर्म सम्बद्ध रहा करता है (अभिधोपाधिक), 'लक्षक', वह जिसमें लक्षणाधर्म का सम्बन्ध है (लक्षणोपाधिक) और 'व्यञ्जक' वह जिसमें व्यञ्जनाधर्म सम्बद्ध रहा करता है ।

विमर्श—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना को आलङ्कारिकों ने उपाधि अथवा धर्म माना है जिसके कारण किसी शब्द को वाचक अथवा किसी को लाक्षणिक अथवा किसी को व्यञ्जक कहना अनुचित है क्योंकि कोई भी शब्द अपने अभिधादि व्यापारों के कारण वाचक अथवा लाक्षणिक अथवा व्यञ्जक हो सकता है । आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द और अर्थ के वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध को शब्द का स्वाभाविक धर्म और व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध को शब्द का नैमित्तिक धर्म माना है । काव्यप्रकाशकार ने स्पष्ट कहा है—

(एक अन्य वृत्ति-तात्पर्य)

किञ्च—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥ २० ॥

(अभिहितान्वयवाद और तात्पर्यवृत्ति)

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरामाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्बोधकं च वाक्यमित्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

अत्र मूलकारिकाः = २० । पूर्वाभिः सह २२ ।

उदाहरणश्लोकाः = ९ । पूर्वैः सह १५ ।



'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा ।' (काव्यप्रकाश २-१) जिसका अभिप्राय यही है कि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना की त्रिविध उपाधियों के कारक शब्द भी वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक हुआ करते हैं । यहां अभिधादि उपाधिओं का त्रित्व मानना युक्तियुक्त है जिसके कारण उपाधेय का (उसका, जिसकी अभिधादि उपाधि है अर्थात् शब्द का) त्रित्व प्रतीत होता है ।

साहित्यदर्पणकार को भी अभिधादि उपाधियों का त्रित्व अभिप्रेत है न कि उपाधेय का । उपाधेय (शब्द) का त्रित्व तो उपाधित्रित्व के कारण है ।

अनुवाद—इसके अतिरिक्त कतिपय पदवाक्यतत्त्ववित् लोग (जैसे कि श्रीकुमारिल भट्ट आदि मीमांसक) तात्पर्य नामक एक और भी शक्ति माना करते हैं जो (वाक्यगत) पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के परस्पर अन्वय अथवा सम्बन्ध का बोध करवाया करती है, और जिसके द्वारा उपस्थापित अर्थ (वाक्यार्थ) तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है । यह तात्पर्यार्थ (पृथक् पृथक् पदों का अर्थ नहीं अपि तु) वाक्य का अर्थ हुआ करता है ।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले लोग वे मीमांसाचार्य हैं जो 'अभिहितान्वयवादी' कहे जाते हैं । अभिहितान्वयवादी (भाट्टमतानुयायी) मीमांसकों की दृष्टि में 'तात्पर्यवृत्ति' की मान्यता इसलिये आवश्यक है क्योंकि अभिधावृत्ति तो पृथक्-पृथक् पदों के पृथक्-पृथक् अर्थों के बोध कराने में ही क्षीणशक्ति हो जाया करती है और वाक्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों का पृथक् पृथक् अर्थ नहीं अपितु पदार्थों का परस्पर सम्बद्धरूप अर्थ हुआ करता है । अब इस वाक्यार्थस्वरूप पदार्थसंसर्ग अथवा परस्पर पदार्थ-सम्बन्ध के अवबोध के लिये कोई न कोई वृत्ति अवश्य होनी चाहिये । यह पदार्थसंसर्ग की बोधिका वृत्ति तात्पर्यवृत्ति ही है (अन्य कोई वृत्ति नहीं) । जो अर्थ इस तात्पर्यवृत्ति के द्वारा प्रतिपाद्य हुआ करता है वह तात्पर्यार्थ कहा जाया करता है । यह तात्पर्यार्थ पृथक्-पृथक् पदों द्वारा नहीं अपितु वाक्य द्वारा ही उपस्थापित किया जाया करता है ।

विमर्श—(क) 'तात्पर्यवृत्ति' को अतिरिक्त वृत्ति मानने वाले भाट्टमीमांसक हैं । काव्य-

प्रकाशकार ने भी 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्' (काव्यप्रकाश २-१) कहकर भाट्टमीमांसकों के तात्पर्यार्थ और तात्पर्यव्यापार का संकेत किया हैं। विश्वनाथ कविराज का अभिप्राय इन्हीं मीमांसकों की इस मान्यता का निर्देश है।

तात्पर्यवृत्ति के मानने वाले मीमांसक 'अभिहितान्वयवाद' के पक्षपाती हैं। 'अभिहितान्वयवाद' का अभिप्राय यह है—प्रत्येक शब्द अर्थ-सामान्य के देने वाले हुआ करते हैं न कि अर्थ-विशेष के। वाक्यबद्ध शब्दों का भी यही हाल है। वाक्यरूप में व्यवहृत शब्द अपना-अपना अर्थ भले ही प्रतिपादित करें, परस्पर सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन तो वाक्यवर्ती पदों की तात्पर्यवृत्ति पर निर्भर है। 'तात्पर्यवृत्ति' की रूपरेखा तो वाक्य और वाक्यार्थ की रूपरेखा में ही रची जाया करती है। आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की मनोवैज्ञानिक, युक्तिसिद्ध किंवा भाषानुपक्त तत्त्व-सामग्री ही 'तात्पर्यवृत्ति' की आधार-शिला है। जिसे वाक्यार्थ कहते हैं वह पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं अपि तु पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध अथवा अन्वयरूप अर्थ है, वस्तुतः तात्पर्यार्थ है। उदाहरण के लिये यदि 'गामानय' इस वाक्य को ही लें तो यह स्पष्ट है कि यहाँ गोपद का अर्थ 'सास्नादिमान् पदार्थ' हैं और यह अर्थ एक सामान्यरूप अर्थ है न कि विशेषरूप। इसी प्रकार 'अम्' प्रत्यय का अभिप्राय सामान्य 'कर्मत्व' है और 'नी' इस क्रियापद से गतिसामान्य का ही बोध हुआ करता है। यहाँ गोपद के लिये वक्तृविवक्षित 'कर्मत्व' के आश्रयभूत सास्नादिमान् प्राणिरूप अर्थविशेष का प्रतिपादन संभव नहीं। यह तो आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की ही महिमा है जो यहाँ एक पद के अर्थ के साथ दूसरे पद के अर्थ का सम्बन्ध बताया करती है और जब पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध पता चल जाता है तभी वह अर्थ प्रतीत हुआ करता है जिसे 'तात्पर्यार्थ' कहा करते हैं जो कि पदार्थरूप नहीं अपि तु वाक्यार्थरूप अर्थ है। आचार्य कुमारिलभट्ट के श्लोकवार्तिक (२४२–२४३) की ये पंक्तियाँ—

'साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥'

यही निर्देश कर रही हैं कि वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति पदार्थ की प्रतिपत्ति के द्वारा ही हुआ करती है और इसलिये पृथक्-पृथक् पदार्थ वाक्यार्थ नहीं अपि तु 'पदार्थसम्बन्ध' वाक्यार्थ है।

'अभिहितान्वयवाद' की संक्षिप्त सरल मीमांसा मीमांसाचार्य पार्थसारथिमिश्र की 'न्यायरत्नमाला' (पृष्ठ १७) इस प्रकार किया करती है—

'अभिहितान्वय एव ज्यायान्। तथा च सूत्रकारः 'अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (पूर्वमीमांसा दर्शनसूत्र १-१-२५) इति व्यक्तमेव पदार्थनिमित्तत्वं वाक्यार्थस्य दर्शयति। भाष्यकारोऽपि हि (शबरस्वामी) 'अमूनि पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि, अथेदानीं पदार्था अभिहिताः सन्तो वाक्यार्थमवबोधयन्ति' इत्याह।

आचार्य मम्मट ने 'अभिहितान्वयवाद' का यही सरांश लिया है—

'आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

(काव्यप्रकाश द्वितीय उल्लास)

जिसकी विशद व्याख्या प्रदीपकार के शब्दों में यह है—

'लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः, न त्वन्वयांशेऽपि। गौरवाद्नन्यलभ्यत्वाच्च। तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाच्याद्यर्थविलक्षणशरीरः आकाङ्क्षायोग्यतासत्तिवशादपदार्थोऽपि प्रतीयते। न चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः। स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य नियामकत्वात्। इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।' (काव्यप्रदीप, पृष्ठ १७)

(ख) 'अभिहितान्वयवाद' का प्रतिपक्ष वह वाक्यार्थवाद है जिसे 'अन्विताभिधानवाद' कहते हैं। यह वाद प्रभाकर-मतानुयायी मीमांसाचार्यों का वाद है। 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद'-ये शब्द ही वाक्यार्थसम्बन्धी द्विविध वादों का अर्थ स्पष्ट कर देते हैं। 'अभिहितान्वयवाद' है—**'अभिहितानां पदार्थानामर्थाभिधायिनां वा पदानामन्वय इति यो वादः सः अभिहितान्वयवादः'**। अर्थात् पदों द्वारा प्रतिपादित उन-उन अर्थों अथवा अपने-अपने अर्थों के प्रतिपादक पदों के अन्वय अथवा सम्बन्ध का जो सिद्धान्त है वह 'अभिहितान्वयवाद' है और अन्विताभिधानवाद है—**'अन्वितानामेव पदार्थानामभिधानं शब्दैः प्रतिपादनमिति यो वादः स अन्विताभिधानवादः'**। अर्थात् परस्पर स्वयं अन्वित अथवा संबद्ध पदार्थों के शब्दों द्वारा प्रतिपादन का जो सिद्धान्त है वह है अन्विताभिधानवाद। प्रदीपकार के शब्दों में 'अन्विताभिधानवाद' का यही स्वरूप है—

'अन्वयरूपे वाक्यार्थेऽपि पदार्थानां शक्तिः। व्यवहारेणान्वितस्यैवोपस्थानात्तत्रैव शक्तिग्रहात्। किं चान्वयभागस्याशक्यत्वेऽनुभवविषयत्वं न स्यात्। तद्विषये शक्यत्वस्य प्रयोजकत्वात्। अशक्यस्याप्यनुभवप्रवेशेऽतिप्रसङ्गात्।' (काव्यप्रदीप, पृष्ठ १७)

जिससे स्पष्ट है कि तात्पर्यवृत्ति की अतिरिक्त मान्यता अनावश्यक है क्योंकि जब कि पद परस्पर अन्वित अर्थ के ही अभिधायक हों और शक्तिग्रह भी अन्वित अर्थ में ही हो तो अन्वय के लिये अभिधाभिन्न किसी वृत्ति का क्या काम? अभिधावृत्तिमातृकाकार आचार्य मुकुल भट्ट ने इन दोनों वाक्यार्थविषयक वादों और इनके समुच्चयवाद का बड़ा सुन्दर संक्षेप अपने ही ढंग से किया है—

'इह केषाञ्चिदन्वयव्यतिरेकावसेयसामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तेषु पदेषु पदार्थाकाङ्क्षासंनिधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव। यदा हि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी'ति यथाक्रमं पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूतवस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते, एवं वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वं द्रष्टव्यम्। एषां चैवंवादिनां मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकालं परस्परान्वयादभिहितान्वयवादः। अपरे त्वाहुः—'वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थसम्बन्धावसायः। स च वृद्धव्यवहारः प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपः। प्रवृत्तिनिवृत्ती च विशिष्टार्थनिष्ठे। अतो विशिष्ट एवार्थे पदानां सम्बन्धावधृतिः। ततश्च विशिष्टा एव पदार्था न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम्। एवं च परस्परान्वितानां वाक्यार्थरूपतापन्नानां तत्तत्सामान्यावच्छादितत्वेन गृहीतस्ववाचकसंबन्धानां पदैः प्रत्यायनादन्विताभिधानमिति। अन्येषां तु मते पदानां तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थः। वाक्यस्य तु परस्परान्विताः पदार्था इति पदापेक्षयाऽभिहितान्वयः, वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानम्। एवं चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयोः समुच्चय इति। (अभिधावृत्तिमातृका-पृष्ठ १५)

अर्थात् कुछ वाक्यार्थवादी आचार्यों का यह कहना है कि वाक्यवर्ती पद तो सामान्यभूत अर्थमात्र का ही उपस्थापन किया करते हैं और जो वाक्यार्थ है वह पदों का सामान्यभूत अर्थमात्र नहीं अपि तु परस्परसंसृष्ट पदार्थभिन्न अर्थ हुआ करता है। यह परस्परसंसृष्ट अर्थरूप वाक्यार्थ आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति की महिमा से प्रतीत हुआ करता है न कि पदों की अभिधान-

शक्ति से। इन आचार्यों के अनुसार वाक्यार्थ 'अभिहितान्वय' रूप है अर्थात् ऐसा है जिसमें पदों द्वारा अभिहित अर्थ बाद में तात्पर्य द्वारा परस्परान्वय में परिणत हुआ करता है। दूसरे वाक्यार्थवादी आचार्यों की यह मान्यता है कि सामान्यभूत अर्थमात्र में शब्दार्थसम्बन्ध का अवधारण नहीं हुआ करता। पद-पदार्थ-सम्बन्ध का अवधारण तो प्रतिदिन के भाषाप्रयोग में किया जाया करता है। इसलिये वाक्यार्थ 'अन्विताभिधान' है अर्थात् ऐसा है जिसे स्वयं परस्पर संसृष्ट पदार्थरूप कह सकते हैं। इन दोनों प्रकार के आचार्यों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी हैं जो 'अभिहितान्वय' और 'अन्विताभिधान' के समुच्चय में ही वस्तुतः वाक्यार्थप्रतिपत्ति का रहस्य देखा करते हैं। इनकी दृष्टि में पदों का अर्थ तो सामान्यभूत वाच्यरूप अर्थ हुआ करता है और वाक्य का जो अर्थ है वह परस्पर संवद्ध पदार्थरूप अर्थ है। वस्तुतः पद की दृष्टि से तो वाक्यार्थ 'अभिहितान्वय स्वरूप' है किन्तु वाक्य की दृष्टि से इसे 'अन्विताभिधान रूप' कहा जाया करता है।

(ग) ध्वनिवादी आलङ्कारिकों को 'अन्विताभिधानवाद' की अपेक्षा 'अभिहितान्वयवाद' का सिद्धान्त अधिक अभिप्रेत है। कारण यह है कि 'अभिहितान्वयवाद' में 'तात्पर्यवृत्ति' की जो अतिरिक्त मान्यता है वह व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि में सहयोग प्रदान किया करती है। 'परस्पर संसर्ग जब अभिधाबोध्य नहीं तब व्यङ्ग्यरूप अर्थ अभिधेय कैसे?' यह युक्ति व्यञ्जना की अनिवार्य मान्यता की एक प्रेरणा है।

इति साहित्यदर्पणे वाक्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः।

(साहित्यदर्पण वाक्यस्वरूपनिरूपणनामक दूसरा परिच्छेद)



तृतीयः परिच्छेदः

(काव्यात्मतत्त्व : रस-स्वरूपनिरूपण)

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

(विभावादि द्वारा सहृदय-हृदय में अभिव्यक्त रत्यादिरूप स्थायीभाव ही 'रस' है)

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ॥ १ ॥

अनुवाद—अब (काव्यात्मभूत) 'रस' क्या है ? इसका निरूपण किया जा रहा है— सहृदय-हृदय में (वासनारूप से विराजमान) रत्यादिरूप स्थायीभाव जब (कविवर्णित) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के द्वारा अभिव्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद अथवा आनन्दरूप हो जाते हैं और 'रस कहे जाया करते हैं।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार की यह रस-परिभाषा नाट्याचार्य भरत मुनि के रस-सूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' की एक सुन्दर सरल विवृति है। इस रस-परिभाषा में 'कविकृत विभावादियोजना और सहृदयहृदय की रत्यादिवासना की रसमयता' में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावरूप सम्बन्ध की अनिवार्य मान्यता का वही रहस्य झलक रहा है जो कि रस-ध्वनि के प्राचीन आचार्यों की भावना में आ चुका है। आचार्य अभिनवगुप्त ने कविकृत विभावादिवर्णना द्वारा सहृदयहृदय में रत्यादिस्थायी भाव की रसरूप में अभिव्यक्ति की यही सिद्धि की है—

'तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। ....तस्माद् व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयतीति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद्भोगस्येति।' (ध्वन्यालोकलोचन, पृष्ठ १८९–१९०)

अर्थात् 'नाट्य अथवा काव्य में रसना रूप प्रतीति तो निर्विवाद है। नाट्य अथवा काव्य पर कवि और सहृदय दोनों की दृष्टियों से दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि 'रसभावना ही' एक मात्र नाट्य अथवा काव्य का साध्य है और नाट्यकाव्य का अभिव्यञ्जना-व्यापार ही इस रस-भावना का साधन है जिसमें समुचित शब्दार्थयोजनादि की इतिकर्तव्यता (उपकारिता) भी स्वभावतः सिद्ध है। काव्य–नाट्य को रस के 'भावक' कहने में वस्तुतः यही अभिप्राय मन में रखना चाहिये कि काव्य–नाट्य रस का व्यञ्जक है। रस का भोग अथवा आस्वाद भी काव्य–नाट्य के इस अलौकिक अभिव्यञ्जनव्यापार से ही सम्भव है। 'रसभोग' और 'रस की व्यङ्ग्यता' का एक ही अभिप्राय है, एक ही रहस्य है।

काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट की भी यही रसदृष्टि है—

'कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥

(रसप्रक्रिया : विभावादियोजना और स्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति)

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ताः, व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते।

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तस्स तैर्विभावाद्यैस्स्थायीभावो रसः स्मृतः॥' (काव्यप्रकाश ४-२७,२८)

जिसका यह लक्ष्य है—'यद्यपि लोकजीवन ही काव्य-नाट्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है किन्तु 'बिम्ब' में जो विशेषता नहीं वह 'प्रतिबिम्ब' से लिपट जाती है। लोकजीवन में रत्यादि चित्तवृत्तियों के कारणभूत पदार्थ काव्य-नाट्य में प्रतिफलित होने पर सहृदयहृदय की रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने लगते हैं। लोक के राम-सीतादि कवि किं वा नाटककार की कला से नायक-नायिका रूप में उपस्थित होकर काव्य-नाट्य के सामाजिकों के हृदय में रत्यादिभावों को रस रूप में इसीलिये अङ्कुरित करने लगते हैं क्योंकि लोकजीवन में रत्यादि भावों के कारण काव्य-नाट्य में आते ही विभावन का व्यापार प्रारम्भ कर देते हैं। लोक के राम-सीतादि का सीमित व्यक्तित्व काव्य–नाट्य में असीम हो उठता है। सहृदय सामाजिक 'राम' के साथ तन्मयीभाव नहीं स्थापित कर सकता, इसलिये कवि अथवा नाटककार की कला 'राम' को एक प्रेमी जीव के रूपमें बदल डाला करती है जिसके साथ प्रत्येक काव्यरसिक एकरूपता का अनुसंधान करने में समर्थ हो उठता है। इसी प्रकार लोकजीवन में रत्यादि भावों के वाचिक–मानसिक किं वा शारीरिक स्वेदादिविकार काव्य-नाट्य में 'अनुभावन' की शक्ति रखने लगते हैं और सहृदय सामाजिक के हृदय में अंकुरित रत्यादिवासनाओं को उत्तरोत्तर प्रकाशित करने में लग जाते हैं। लोकजीवन के रत्यादि भावों के आनुषङ्गिक भाव काव्य-नाट्य के क्षेत्र में प्रवेश पाकर काव्यरसिक के हृदय में उद्बुद्ध स्थायीभावों का पोषण अथवा सर्वतोभावेन अभिव्यञ्जन करने लगते हैं। इस प्रकार सहृदयहृदय में स्थायी भावों की अभिव्यक्ति अथवा सहृदयहृदय के लिये चर्वणा का समर्पण ही काव्य-नाट्य में विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभाव की योजना का परम निष्कर्ष है और जो 'रस' है वह वस्तुतः काव्य-नाट्य की अभिव्यञ्जना अथवा चर्वणा की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदयहृदय का रत्यादि रूप स्थायीभाव ही है। चर्वणाविशिष्ट रत्यादिस्थायीभाव एक लोकोत्तर आनन्दात्मक अनुभव है।

(ख) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव—इन तीन पारिभाषिक पदों में 'लोक' और 'काव्य' का भेद स्पष्ट है। लोक में रत्यादि मनोभावों के कारण, कार्य और सहकारी तत्त्व काव्य में रत्यादि स्थायीभावों के विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण अथवा एक शब्द में अभिव्यञ्जन का व्यापार करने लगते हैं। आचार्य मम्मट के लिये तो यह आवश्यक था—क्योंकि उन्हें आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त की रस-मीमांसा का सार खींचना था—कि वे लोक और काव्य के रत्यादिभावों के कारणादि किंवा विभावादि का वैलक्षण्य बताकर लोकानुभव से रस-रूप-काव्यानुभव का वैधर्म्य भी सिद्ध करते जैसा कि उन्होंने अपने रस-लक्षण में किया ही है, किन्तु विश्वनाथ कविराज के लिये यही युक्तियुक्त है कि वे पूर्वनिर्दिष्ट रस-प्रक्रिया का अपने शब्दों में समर्थन करें और उन्होंने ऐसा किया भी है। 'विभावादि द्वारा अभिव्यक्त ही रत्यादिस्थायीभाव 'रस' हुआ करता है'—इस साहित्यदर्पणकारसम्मत रस-स्वरूपदर्शन से यह स्पष्ट है कि यह अनुभव लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है।

अनुवाद—**(सहृदय-हृदय में वासनारूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभावों के अभिव्यञ्जक) ये विभावादि तत्त्व क्या हैं ? यह सब विचार-विमर्श तो आगे यथावसर किया**

तदुक्तं लोचनकारैः—'रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः' इति। अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेऽस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हासक्रोधादयः शृङ्गारवीरादौ व्यभिचारिण एव। तदुक्तम्—

'रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति।

ही जा रहा है। यहाँ (विभावादि वर्ग में) सात्त्विकभावों का (जिनका नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्पष्ट निर्देश किया है) परिगणन इसलिये नहीं किया क्योंकि ये अनुभाव के अतिरिक्त और कोई तत्त्व नहीं। यहाँ रत्यादि स्थायीभावों के 'व्यक्त' होने का अभिप्राय है उनके एक दूसरे रूप में 'रस' रूप में—परिणत होने का। रत्यादि स्थायीभावों की 'रस' रूप में जो अभिव्यक्ति है वह दुग्ध की दधिरूप में अभिव्यक्ति (परिणति) सरीखी ही समझी जानी चाहिये। ऐसा इसलिये क्योंकि 'रस' कोई ऐसी वस्तु नहीं जो (घट-पट की भाँति) पहले से ही विद्यमान हो जिसे विभावादि दीप की भाँति अभिव्यक्त किया करें। वस्तुतः यही बात लोचनकार (आचार्य अभिनवगुप्त) ने इस प्रकार कही है—लोगों का यह कहना कि 'रस अनुभव में पता चला करते हैं' ऐसा ही है जैसे कि यह कहना कि 'भात पका रहे हैं'। यहाँ ('रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्' इस उक्ति में) 'रत्यादि' के विशेषणरूप से 'स्थायीभाव' का निर्देश एक उद्देश्यविशेष से किया गया है। बात यह है कि वैसे तो केवल 'रत्यादिः' कहने से ही 'रत्यादि रूप स्थायी चित्तवृत्तियों' का अभिप्राय निकल जाता है किन्तु फिर भी-'रत्यादिः स्थायी भावः' कहना इसलिये आवश्यक है क्योंकि इससे यह निर्दिष्ट होता है कि एक रस में यदि रतिरूप चित्तवृत्ति स्थायी है तो दूसरे में वह अस्थायी अथवा व्यभिचारी रूप में ही रहेगी। उदाहरण के लिए, हासरूप चित्तवृत्ति अथवा क्रोधादिरूप चित्तवृत्ति (जो कि हास्य अथवा रौद्रादि रसों में स्थायी है) शृङ्गार अथवा वीरादि रसों में व्यभिचारीरूप में ही पड़ी रहती है। वस्तुतः इसीलिये कहा गया है—'वही भाव वस्तुतः स्थायीभाव हुआ करता है—जो कि 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो उठता है'।

विमर्श—(क) नाट्याचार्य भरतमुनि ने स्तम्भ, स्वेद आदि आठ 'सात्त्विक' भावों का पृथक् परिगणन किया है।

'स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥' (नाट्यशास्त्र ६.२२)

नाट्यशास्त्रकार की दृष्टि में सात्त्विकभावों का एक अपना ही महत्त्व है और इसीलिए नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में इनका भी विशद विवेचन किया हुआ है। सात्त्विकभावों का अनुभावों में अन्तर्भाव नहीं किया जा सकता-इसके सम्बन्ध में काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने नाट्यशास्त्र की मर्यादा का यह उल्लेख किया है—

'स्तम्भस्वेदरोमाञ्चस्वरभेदकम्पवैवर्ण्याश्रुप्रलया अष्टौ सात्त्विकाः। सीदत्यस्मिन् इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात् साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम्, तत्र भवाः सात्त्विकाः, भावा इति वर्तते। तेऽत्र प्राणभूमिप्रसृतरत्यादिसंवेदनवृत्तयो बाह्यजडरूपभौतिकनेत्रजलादिविलक्षणा विशावेन रत्यादिगतेनैवातिचर्वणागोचरेणाहता अनुभावैश्च गम्यमाना भावा भवन्ति। तथा हि पृथ्वीभागप्रधाने प्राणे संक्रान्तश्चित्तवृत्तिगणः स्तम्भो विष्टब्धचेतनत्वम्। जलभागप्रधाने तु बाष्पः। तेजसस्तु प्राणनैकट्यादुभयथा तीव्रातीव्रत्वेन प्राणानुग्रह

इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्यं च । तद्धेतुत्वाच्च तथा व्यवहारः । आकाशानुग्रहे गतचेतनत्वं प्रलयः । वायुस्वातन्त्र्ये तु तस्य मन्दमध्योत्कृष्टावेशात् त्रेधा रोमाञ्चवेपथुस्वरभेदभावेन स्थितिरिति भरतविदः । बाह्यास्तु स्तम्भादयः शरीरधर्मा अनुभावाः । ते चान्तरालिकान् सात्त्विकान् भावान् गमयन्तः परमार्थतो रतिनिर्वेदादिगमका इति स्थितम् । एवं च नवस्थायिनस्त्रयस्त्रिंशद् व्यभिचारिणोऽष्टौ सात्त्विका इति पञ्चाशद्भावाः ।'

(काव्यानुशासन २. ५२)

इससे स्पष्ट है कि नाट्य में अनुभाव और सात्त्विकभाव का अपना २ स्थान है, अपना २ उपयोग है और अपना २ रसार्पणसामर्थ्य है ।

साहित्यदर्पणकार ने सात्त्विक भावों को अनुभावरूप मान लिया है। आचार्य मम्मट के रसलक्षण में सात्त्विक भावों के समावेश न होने का तो एक युक्तियुक्त कारण मिल जाता है क्योंकि वहाँ रसके काव्यानन्द रूप का निरूपण है न कि नाट्यानन्द रूप का। किन्तु नाटकलक्षणकार कविराज विश्वनाथ के लिए रस-सृष्टि किंवा रसानुभूति में सात्त्विक भावों की सहयोगिता का अनिर्देश और साथ ही साथ इनका अनुभावों में अन्तर्भाव कुछ विचित्र सी बात है। सात्त्विक भावों की एक प्रकार की अनुभावरूपता का निर्देश दशरूपककार आचार्य धनञ्जय (८वीं शताब्दी) ने किया है—

'पृथग्भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विकाः ।
सत्त्वादेव समुत्पत्तेस्तच्च तद्भावभावनम् ॥'

जिसका स्पष्टीकरण आचार्य धनिक के शब्दों में इस प्रकार है—

'परगतदुःखहर्षादिभावनायामत्यन्तानुकूलान्तःकरणत्वं सत्त्वं यदाह—सत्त्वं नाम मनःप्रभवं तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यते, एतदेवास्य सत्त्वं यतः खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाञ्चादयो निर्वर्त्यन्ते तेन सत्त्वेन निर्वृत्ताः सात्त्विकास्त एव भावास्तत उत्पद्यमानत्वादश्रुप्रभृतयोऽपि भावा भावसंसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम् ।'

(दशरूपक—४ र्थ)

'वस्तुतः 'दशरूपक' के इस सिद्धान्त का ही सूत्र पकड़ कर विश्वनाथ कविराज ने सात्त्विकभावों को अनुभावरूप मान लिया है। किन्तु जहाँ दशरूपक में स्तम्भादि को सात्त्विकभाव और अनुभाव—दोनों रूपों में देखा गया है वहाँ साहित्यदर्पण में दोनों की एकरूपता निर्धारित कर दी गयी है। संभवतः भारतीय रंग-मंच की बदलती परिस्थितियाँ ही इस प्रकार के मतभेद को जन्म देनेवाली हैं।

(ख) 'विभावादि द्वारा रत्यादिस्थायीभाव की रस रूप में 'अभिव्यक्ति' रत्यादिरूप चित्तवृत्तियों का एक अवस्थापरिणाम है'—यह साहित्यदर्पणकार का रसाभिव्यक्तिवाद आचार्य महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' से प्रभावित प्रतीत हो रहा है। आचार्य महिमभट्ट ने 'व्यक्ति' अथवा 'अभिव्यक्ति' को सद्विषयक किंवा असद्विषयक रूप से द्विविध मान कर सद्विषयक अभिव्यक्ति की ये निम्न संभावनायें की हैं—

१ ली अभिव्यक्ति—'तत्र कारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् तिरोभूतस्येन्द्रियगोचरत्वापत्तिलक्षण आविर्भाव एका (अभिव्यक्तिः), यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः । तथावस्थानानुपगमे तु सैवोत्पत्तिरित्युच्यते कैश्चित् ।' अर्थात् प्रथम अभिव्यक्ति वह सद्विषयक अभिव्यक्ति है जिसे कारण में शक्तिरूप से अवस्थित कार्य का आविर्भाव कहना चाहिए। जैसे कि दूध से दही का आविर्भाव। दही दूध से कोई सर्वथा भिन्न वस्तु नहीं अपितु दूध का ही एक अवस्थापरिणाम है। 'कारण में कार्य शक्तिरूप से अवस्थित रहा करता है'—इस सिद्धान्त के न मानने वाले 'आविर्भाव' अथवा 'अवस्थापरिणाम' को ही 'उत्पत्ति' कहा करते हैं।

२ री अभिव्यक्ति—'तस्यैवाविर्भूतस्य कुतश्चित् प्रतिबन्धादप्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपमर्दनीकृतात्मना सहैव प्रकाशो द्वितीया यथा प्रदीपादिना घटादेः।' अर्थात् किसी कारणवश अनभिव्यक्त किन्तु पूर्वाविर्भूत वस्तु का किसी ऐसे अभिव्यञ्जक के द्वारा जो कि अभिव्यञ्जक होने के नाते अप्रधान है और अपने साथ-साथ अपने अभिव्यङ्ग्य को प्रकट किया करता है, प्रकाशित होना दूसरी अभिव्यक्ति है। जैसे किसी संतमसावृत घट का प्रदीप द्वारा प्रकाशन। प्रदीप द्वारा घट की जो अभिव्यक्ति है उसमें प्रदीप अपने आप को प्रकाशित करते हुए ही घट का प्रकाशक अथवा अभिव्यञ्जक हुआ करता है।

३ री अभिव्यक्ति—'तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तर्विपरिवर्तिनः कुतश्चिदव्यभिचारिणोऽर्थान्तरात् तत्प्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रबोधमात्रं तृतीया, यथा धूमादग्नेः, यथा चालेख्यपुस्तकप्रतिबिम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः।' अर्थात् तीसरी अभिव्यक्ति उस प्रकार की अभिव्यक्ति है जिसे किसी पूर्वानुभूत किंवा संस्काररूप से हृदय में विराजमान वस्तु का, उससे सम्बद्ध (अविनाभूत) किसी दूसरी वस्तु अथवा उसके प्रतिपादक द्वारा, संस्कारोद्बोधन कहना चाहिये। जैसे कि धूम के द्वारा अग्नि का अनुभव। धूमदर्शन से अग्नि का अनुभव एक अभिव्यक्ति है जिसमें पूर्वानुभूत और संस्कार रूप में हृदय में विराजमान अग्नि का संस्कार प्रबोधमात्र हुआ करता है। इसी प्रकार आलेख्य अनुकरण किंवा शब्दादि प्रतिपादकों के द्वारा किसी वस्तु का अनुभव भी यही तीसरी अभिव्यक्ति है जिसमें अभिव्यञ्जक का कार्य केवल पूर्वानुभव के संस्कारों का जागरणमात्र हुआ करता है। इन उपर्युक्त अभिव्यक्तिविषयक संभावनाओं में 'रत्यादिस्थायीभाव की रसरूप में अभिव्यक्ति' केवल पहली अभिव्यक्तिसंभावना में आ सकती है न कि दूसरी अथवा तीसरी में। विश्वनाथ कविराज ने इन तीनों अभिव्यक्ति-संभावनाओं पर विचार कर 'रस' को 'दध्यादिन्याय' से ही अभिव्यक्त माना है 'घटादिन्याय' अथवा 'अग्न्यादिन्याय' से नहीं। 'दध्यादिन्याय' का अभिप्राय है— जिस प्रकार दूध किसी अम्लद्रव्य (जामन) के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर दही बना करता है उसी प्रकार सहृदयहृदयावस्थित रत्यादिरूप स्थायीभाव ही अविवर्णित विभावादि के संयोग से रूपान्तर परिणत होकर 'रस' बन जाया करता है। इस दृष्टि से 'घटादिन्याय' से रस को अभिव्यक्त मानना अनुचित है क्योंकि 'रस' घट की भाँति कोई पूर्वसिद्ध पदार्थ नहीं जो कहीं छिपा हो और जिसे, दीपशिखा की भाँति, विभावादियोजना प्रकाशित कर जाय। 'अग्न्यादिन्याय' से रस की अभिव्यक्ति भी युक्तिसंगत नहीं क्योंकि न तो अग्नि की भाँति रस को लोकजीवन में पूर्वानुभूत मान सकते हैं और न विभावादियोजना को ही इस रसानुभव के सञ्चित संस्कारों का उद्बोधक कह सकते हैं। रसाभिव्यक्ति के लिए दध्यभिव्यक्ति को ही दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया जा सकता है क्योंकि रसनक्रिया की समञ्जस व्यवस्था इसी से ठीक-ठीक समझी जा सकती है।

(ग) जो वस्तु पूर्वसिद्ध हो, जैसे कि घटपटादि, उसके लिए यह कहना ठीक है कि उसका अनुभव हुआ करता है किन्तु जिस वस्तु की पहले से कोई सत्ता नहीं, जैसे कि रस की, उसके लिये यह कहना कि उसका अनुभव भी हुआ करता है, प्रलापमात्र ही लगता है। तात्पर्य यह है कि जबतक 'घटादिन्याय' से रस की अभिव्यक्ति न सिद्ध की जाय तब तक यह कहना कि 'रस का अनुभव होता है' (रसाः प्रतीयन्ते) निरर्थक सा ही है। इस आशंका का समाधान आचार्य अभिनवगुप्त के शब्दों में, यह है—

'सर्वपक्षेषु च प्रतीतिरपरिहार्या रसस्य। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्। किन्तु यथा प्रतीतिमात्रत्वेनाविशिष्टत्वेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी आगमोत्था प्रतिभान-कृता योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादन-

भोगापरनामा भवतु। तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तररूपत्वात्। 'रसाः प्रतीयन्त' इति 'ओदनं पचती'ति-वद् व्यवहारः, प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। स च नाट्ये लौकिकानुमानप्रतीतेर्विलक्षणा; तां च प्रमुखे उपायतया संदधाना, एवं काव्ये अन्यशब्दप्रतीतेर्विलक्षणा, तां च प्रमुखे उपायतयापेक्षमाणा।'

—(ध्वन्यालोकलोचन, २ य उद्योत)

अर्थात् इसमें तो कोई संदेह हो नहीं सकता कि काव्य अथवा नाट्य के सहृदय सामाजिकों को रस का अनुभव हुआ करता है। यह एक और बात है कि रसानुभव एक लोकविलक्षण अनुभव है जिसे न तो प्रत्यक्ष कह सकते हैं न अनुमान, न तो प्रातिभ ज्ञान मान सकते हैं और न योगज साक्षात्कार। रसानुभव के साधन अलौकिक साधन हैं और इसलिये रसानुभव की अलौकिकता स्वयं सिद्ध है। 'रस का अनुभव हुआ करता है'—ऐसा कहने से यह नहीं सिद्ध हो जाता कि रस घट-पट की भांति एक पूर्वसिद्ध वस्तु है। 'रस का अनुभव' तो रसचर्वणा, रसास्वाद, रसभोग आदि-आदि का पर्याय शब्द है जिससे यह स्पष्ट है कि सहृदय की रत्यादिवासना ही चर्वणा अथवा रसना के संबन्ध से 'रस' है। जैसे पाकक्रिया के संबन्ध से तण्डुल (चावल) को 'ओदन' (भात) कहा जाया करता है (ओदनं पचति) वैसे ही रसना क्रिया के संबन्ध से सामाजिकवासना भी 'रस' कही जाया करती है (रसाः प्रतीयन्ते); पाक के पहले जैसे चावल को 'भात' नहीं कहा करते वैसे ही रसना अथवा चर्वणा के पहले रत्यादिवासना भी 'रस' नहीं कही जाया करती।

(घ) साहित्यदर्पणकार ने '**रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्**' आदि अपनी उक्ति की जो सार्थकता बतायी है उसका आधार व्यक्तिविवेककार का यह कथन है—

'ये चैते स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव। केवलमेषां प्रतिनियतरूपापेक्षो व्यपदेशभेदः। तथा हि स्थायित्वं स्थायिष्वेव प्रतिनियतं, न व्यभिचारिसात्त्विकेषु। व्यभिचारित्वं व्यभिचारिष्वेव, नेतरयोः। सात्त्विकत्वमपि सात्त्विकेष्वेव, नेतरयोरिति। तत्र स्थायिभावानामुभयी गतिः। न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्पन्ते।'

—(व्यक्तिविवेक, १ म विमर्श)

अर्थात् नाट्यशास्त्र के भावाध्याय में परिगणित समस्त भाव वस्तुतः व्यभिचारिभाव ही हैं। इन ४९ भावों में रत्यादिभाव इसलिये स्थायीभाव कहे जाया करते हैं क्योंकि रसरूप में ये ही उद्बुद्ध हुआ करते हैं।

वस्तुतः स्थायीभावों की रसरूपता का सिद्धान्त नाट्याचार्य भरतमुनि का ही सिद्धान्त है जैसा कि निम्न उद्धरण से स्पष्ट है—

'कथमिदानीमेते स्थायिनोऽष्टौ भावा रसत्वमाप्नुवन्तीत्युच्यते। एवमेतदिति। कस्मात्? यथाहि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमानाः समानप्रत्यया अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव चान्येऽल्पबुद्धयस्तेषामेवानुचरा भवन्ति। तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्तीत्याश्रयत्वात्स्वामिभूताश्च स्थायिनो भावाः। तद्वत् स्थायिनि वपुषि गुणीभूता अन्ये भावाः। तान् गुणवत्तयाश्रयन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः। को दृष्टान्त इति? यथा नरेन्द्रो बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः। बहुषु गच्छत्सु कश्चित्

(रसास्वाद के स्वरूपनिर्णय की प्रतिज्ञा)

अस्य स्वरूपकथनगर्भ आस्वादनप्रकारः कथ्यते—

(रस और रस का आस्वाद)

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ २ ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ ३ ॥

(काव्यार्थपरिशीलन : सत्त्वोद्रेक : रसास्वाद)

'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेयविमुख-

---

क्वचित् पृच्छति कोऽयमिति। स च तमाह–राजेत्येव। तथा विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते नरेन्द्रवत्।'

—(नाट्यशास्त्र-सप्तमाध्याय)

अर्थात् स्थायीभाव ही सामाजिकों की रसना के संबन्ध से 'रस' रूप धारण कर सकते हैं न कि अन्यान्यभाव। वैसे तो रत्यादिभाव भी भाव ही हैं। किन्तु उनमें अन्यभावों को अपना अनुचर बनाने का सामर्थ्य है और इसलिये ये ही 'रस' रूप में अभिव्यक्त हो पाते हैं। मनुष्यमात्र का अंग-प्रत्यङ्ग समान हुआ करता है किन्तु कोई अपने कुल-शीलादि के वैलक्षण्य से राजा हो जाता है और दूसरे लोग उसकी प्रजा बन जाते हैं। भाव के नाते सभी भाव समान हैं किन्तु इन भावों में स्थायीभाव ही ऐसे हैं जो एकमात्र 'रस' का पद पा सकते हैं क्योंकि इन्हीं में वह शक्ति है जो अन्यभावों को उनका आश्रित बनाया करती है।

अनुवाद अब रस का आस्वाद कैसे हुआ करता है इसका ऐसा विचार किया जा रहा है जिसमें यह भी पता चल जाय कि रस का स्वरूप कैसा है—

कुछ विरले लोग (सहृदय सामाजिक-जन) ही उस काव्यानन्द (अथवा नाट्यानन्द) का अनुभव किया करते हैं जिसे 'रस' कहा जाया करता है। इस 'रस' का अनुभव उन्हें तभी हो पाता है जबकि उनके हृदय में (काव्यनाट्यपरिशीलन की महिमा से) सत्त्व का उद्रेक अथवा प्राबल्य हो जाया करता है। यह सहृदयहृदय के अनुभव का विषय 'रस' एक अखण्ड (क्योंकि इसमें विभावादि का पृथक्-पृथक् अनुभव असंभव है), स्वयंप्रकाश (क्योंकि रस रूप अनुभव स्वयं प्रकाशित हुआ करता है न कि किसी अन्य ज्ञान का विषय बना करता है) किंवा आनन्दमय रत्यादि-संवेदन रूप है; यह एक ऐसा अनुभव है जिसके साथ अन्य किसी भी ज्ञेय वस्तु का स्पर्श नहीं हो सकता, इसे यदि किसी भी अन्य अनुभव के समान बताया जा सके तो वह अनुभव एक मात्र आत्मसाक्षात्कार ही हो सकता है अन्य नहीं; इस अनुभव का सार एक अलौकिक चमत्कार है और यह अनुभव, यह आस्वाद ऐसा है जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद उसी प्रकार नहीं आभासित हुआ करता जिस प्रकार आत्मस्वरूप के साक्षात्कार अथवा ब्रह्मानन्द के अनुभव में।

उपर्युक्त रसास्वाद निरूपण में 'सत्त्व' का अभिप्राय है मन की एक ऐसी अवस्था का जो सहृदय सामाजिकों को अन्य समस्त घट-पटादि वस्तुओं के ज्ञान के प्रति विमुख अथवा वीतराग बना दिया करती है। वस्तुतः इसीलिये 'सत्त्व' की यह परिभाषा दी गयी है—

तापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्। तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। अत्र च हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम्।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः। अत्र हेतुं वक्ष्यामः। स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या। चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट्।

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्य्यायः। तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्'॥ इति।

केश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः।

'सत्त्व' मन का वह स्वरूप है जिसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई स्पर्श—कोई संपर्क—नहीं रहा करता—(सरस्वती कण्ठाभरण)। इस प्रकार सत्त्व के उद्रेक अथवा प्राबल्य का तात्पर्य है सत्त्व के इस रूप में विराजमान हो जाने का जिसमें रजोगुण और तमोगुण दबे दबाये रह जाँय और अपने-अपने कार्य (अर्थात् चाञ्चल्य और मोहसंकट आदि) के निष्पादन में असमर्थ बना दिये जाँय। यह 'सत्त्वोद्रेक' जिसके द्वारा संभव है और कुछ नहीं अपितु विभावादि रूप अलौकिक काव्यार्थ में सहृदय-हृदय का अलौकिक अभिनिवेश अथवा अन्तर्लय है।

(इस सत्त्वोद्रेक की महिमा से सहृदयों को जिस रस का आस्वाद हुआ करता है वह) रस अखण्ड है। रस 'अखण्ड' है—इसका अभिप्राय यह है कि रस व्यञ्जक विभावादि किंवा व्यङ्ग्य रत्यादि का एक आनन्दघन, चमत्कारमय, अलौकिक संवेदन अथवा अनुभव है। रस के विभावादि किंवा रत्यादिमय एक आनन्दात्मक अनुभव होने का जो कारण है उसका तो विचार आगे किया ही जायगा। साथ ही साथ इसके 'स्वयंप्रकाश' होने का रहस्य भी, जैसा कि आगे बताया जायगा, स्पष्ट ही हो जायगा। रस के 'चिन्मय' होने का अभिप्राय यह है कि रस चिद्रूप है—स्वप्रकाशानन्द रूप है,—क्योंकि यहाँ 'चिन्मय' पद में जो 'मयट्' प्रत्यय है वह 'स्वरूप' का अर्थ रखता है (नकि 'प्राचुर्य' का)।

रस 'लोकोत्तरचमत्कारप्रमाण' है — इस उक्ति में 'चमत्कार' शब्द 'विस्मय' शब्द का समानार्थक है। और 'विस्मय' क्या है? विस्मय है सहृदय सामाजिक का चित्तविस्तार अथवा मनोविकास। 'चमत्कार' ही रस रूप अनुभव का प्राणभूत है—इसका बड़ा सुन्दर निर्देश हमारे (साहित्यदर्पणकार के) वृद्धप्रपितामह, रसिक समाज के अग्रणी किंवा कविपण्डितशिरोमणि आचार्य नारायण ने किया था जिसे आलङ्कारिक धर्मदत्त ने अपने अलङ्कार ग्रन्थ में इस प्रकार उट्टङ्कित किया है—

'चाहे कोई भी रस हो, यह तो चमत्कार ही है जो उसमें साररूप से प्रतीत हुआ करता है। और जबकि चमत्कार ही रस का सार है तब तो यही सिद्ध है कि सभी रसों में अद्भुत रस का ही आस्वाद मिला करता है। वस्तुतः महासहृदय आचार्य नारायण ने इसीलिये तो रस को अद्भुत अथवा चमत्कारसार कहा है।'

यहाँ 'कैश्चित्'—'कुछ विरले लोगों के द्वारा ही' (रस का आस्वाद लिया जाया करता

यदुक्तम्—

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्'। इति।

है) इस कथन का अभिप्राय यह है कि रसास्वाद के भागी वे ही लोग हुआ करते हैं जो पूर्वजन्म के सञ्चित (काव्यार्थपरिशीलन अथवा काव्यार्थभावनरूप) पुण्य परिपूत रहा करते हैं।

कहा भी गया है—'वे लोग रससंदोह का आनन्द लिया करते हैं जो कि ब्रह्मदर्शी योगियों की भाँति पुण्यात्मा हुआ करते हैं।'

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने काव्यार्थरूप रसास्वाद के अधिकारी लोगों को 'प्राक्तन-पुण्यशाली' कहा है। अभिव्यञ्जनावादी सभी आचार्य रसभोक्ता के लिए, काव्यार्थपरिशीलन के जन्मजन्मार्जित पुण्यसञ्चय को आवश्यक मानते हैं। रस का सार यदि 'चमत्कार' है और वस्तुतः ऐसा है भी और 'चमत्कार' यदि 'सकलविघ्नविनिर्मुक्तसंवेदन' है क्योंकि इसका और कोई रूप नहीं, तब तो यह स्वयं सिद्ध है कि रस का आस्वाद लेने वाले सामाजिक योगियों की भाँति पुण्यात्मा हैं और रसानुभव में स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मानुभव का आनन्द लिया करते हैं।

(ख) रसास्वाद में सहृदय सामाजिक की मनोदशा विचित्र हुआ करती है। इसमें विचित्रता इसलिए रहा करती है क्योंकि अन्य किसी भी अनुभव में ऐसी बात नहीं हुआ करती। यह मनोदशा मन के सत्त्वोद्रेक की दशा है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि सामाजिक जन का वह मन ही 'सत्त्व' है जिसके रजोगुण और तमोगुण काव्यार्थपरिशीलन के द्वारा, अपने-अपने प्रभावोंके प्रकाशन में, असमर्थ हो जाया करते हैं। रजोमय मन चञ्चल हुआ करता है और तमोमय मन पर मोह संकट की घटा छायी रहती है। मन की चञ्चलता और मोहान्धता के निवारण के लिये योगीजन समाधि का सहारा लिया करते हैं किन्तु काव्यरसिक किंवा नाट्यप्रेमी लोगों के मन का मोह-संकट काव्य अथवा नाट्य के भोग से ही भगाया जाया करता है। सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र-व्याख्याकार आचार्य भट्टनायक ने ही 'रसास्वाद में मन की दशा' का एक मनोवैज्ञानिक निरूपण किया था। भट्टनायक के अनुसार काव्य-नाट्य की भावकताशक्ति तो सामाजिकों में 'सहृदयता' का संचार किया करती है और जब सहृदयता का सञ्चार होने लगता है तब सामाजिकों में वह भोग सञ्चरित होने लगता है जो एक विचित्र अनुभव, एक अलौकिक मानस अध्यवसाय है। यह नाट्यानन्द, यह रसभोग ऐसा है जो 'परब्रह्मास्वादसविध' हुआ करता है। इसके स्वरूप का यदि विश्लेषण किया जा सके तो यही कहा जा सकता है कि यह '**सत्त्वोद्रेक-प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिसलक्षण**' है, ऐसा है जिसे साक्षात् एक अहंपरामर्श कह सकते हैं। यह अहंपरामर्श ऐसा है जिसमें मन का सत्त्वगुण, रजस् और तमस् से अनुविद्ध होते हुए भी, रजस् और तमस् को दबाकर, अपने पूर्णस्वरूप में प्रकाशित रहा करता है। मन का यह सत्त्वोद्रेक एकमात्र आनन्दात्मक आत्मसंवेदनस्वरूप है।

भट्टनायकसम्मत यह 'भोग', यह 'सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति'रूप अनुभव अभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार रसास्वाद की साधन-सामग्री नहीं अपितु साक्षात् रस का प्राणभूत चमत्कार अथवा आस्वाद अथवा आत्मलय है। साहित्यदर्पणकार ने आचार्य अभिनवगुप्त का ही अनुसरण करते हुए 'रस' को 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' कहा है। यह 'अखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय' रस सहृदय सामाजिकों में 'सत्त्वोद्रेक' के कारण संभव है अथवा यह 'रस', यह अनुभव, सहृदय सामाजिकों का साक्षात् आत्मसाक्षात्काररूप है जिसके होते हुए मन की चञ्चलता किंवा मोहान्धता भाग जाया करती है—ये दोनों संभावनायें साहित्य-दर्पणकार को मान्य हैं जिसमें भट्टनायक और अभिनवगुप्त दोनों आचार्यों की विचारधाराओं का संगम स्थापित किया प्रतीत हो रहा है।

(ग) रस 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' है और इसी लिये 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है—यह साहित्यदर्पण-कारकृत रसस्वरूप–विवेक रसमर्मज्ञ आचार्य अभिनवगुप्त किंवा आचार्य मम्मट आदि के रसविषयक विचारों द्वारा सर्वथा प्रमाणित किंवा अनुप्राणित है। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'रस' को चर्व्यमाण-तैकसार कहा है। रस चर्व्यमाणतैकसार है—ऐसा कहने का यही अभिप्राय है कि रसरूप अनुभव में किसी भी अन्य वेद्यवस्तु का कोई भी अनुवेध, कोई भी संसर्ग संभव नहीं। रस के निर्भरानन्द आत्मस्वरूप होने से ही यह सिद्ध है कि यह एक ऐसा अनुभव है जिसमें ज्ञेय-ज्ञातृ-भाव का विश्लेषण असंभव है। रस 'ज्ञेय' नहीं और न रसप्रमाता 'ज्ञाता' है, वह तो साक्षात् स्वप्रकाशानन्दात्मक आत्मानुभव है और जब ऐसी बात है तब तो रस की 'वेद्यान्तरसंपर्कशून्यता' स्वयं सिद्ध है। 'वेद्यान्तरसपर्कशून्य' होने के ही कारण रस को 'ब्रह्मानन्दसहोदर' कहा गया है। रस ब्रह्मानन्द नहीं अपितु ब्रह्मानन्दसदृश है ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि जहां ब्रह्मानुभव शुद्ध चिदानन्दात्मक अनुभव है वहां रसानुभव रत्यादि संवलित चिदानन्दरूप अनुभव है।

(घ) रस 'लोकोत्तर चमत्कार प्राण' है—यह साहित्यदर्पणकारकृद रसस्वरूप-निर्देश सभी प्राचीन रसध्वनितत्त्वदर्शी आचार्यों की परम्परा से प्रमाणित होता है। 'चमत्कार' को सकलविघ्नविनिर्मुक्त संवित् कहा जाता है। काव्य-नाट्यतत्त्वदर्शी आचार्य अभिनवगुप्त ने 'चमत्कार' को एक निर्विघ्न संवेदन माना है। इसी के आशय के स्पष्टीकरण में 'काव्यानुशासन' के अज्ञातनामा व्याख्याकार का कथन है—

'अद्भुतभोगात्मस्पन्दावेशरूपो हि चमत्कारः। स च साक्षात्कारस्वभावो मानसाध्यवसायो वा संकल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेनास्फुरन्नस्त्वस्तु। यदाह—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्, पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं, भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥

'अत्र हि स्मरतीति या स्मृतिरूपदर्शिता सा न तार्किकप्रसिद्धा पूर्वमेतस्यार्थस्याननुभूतत्वात्। अपितु प्रतिभानापरपर्यायसाक्षात्कारस्वभावेयमिति।' (काव्यानुशासन २. १)

अर्थात् जिसे चमत्कार कहते हैं वह एक ऐसा अनुभव है जो कि, चाहे वह साक्षात्कार हो या प्रतिभान हो या स्मृतिवैचित्र्य हो, एक विचित्र प्रकार का आनन्दावेश है जिसके होते एक विचित्र सुख–विस्मय हुआ करता है। 'रसे सारश्चमत्कारस्सर्वत्राप्यनुभूयते'—इस उद्धरण से साहित्यदर्पणकार ने यही सिद्ध किया है कि रसानुभव अथवा रसभोग एक अलौकिक संवेदन है, ऐसा संवेदन है जिसे एक शब्द में 'चमत्कार' कहा जा सकता है।

(ङ) 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' यह साहित्यदर्पणकार का रसास्वादविषयक संकेत एक प्राचीन-संकेत है। आचार्य अभिनवगुप्त की रसमीमांसा का सारांश प्रकट करते हुये आचार्य मम्मट ने रसास्वाद को 'स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतः' कहा था। साहित्यदर्पणकार ने इसे 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' इस रूप में प्रकट किया है। यहां साहित्यदर्पण की तर्कवागीशरचित टीका का यह मत है—

'स्वाकारवदिति—यथा स्वस्माद्भिन्नोऽपि देहोऽहं स्थूल इत्यादिभेदोल्लेखाभावेन प्रतीयते, तथा रसोऽपि ज्ञातृज्ञानभेदोल्लेखाभावेनास्वाद्यते इत्यर्थः। घटादिज्ञाने जाते वेद्मीति यथा ज्ञातृज्ञानभेदः प्रतीयते तथाऽत्र नेति भावः। यद्वा स्वाकारवत् = स्वविषयवत्। परिणामवादिभिर्ज्ञानतद्विषययोर्भेदानङ्गीकारादिति भावः।'

अर्थात् जैसे 'अहं स्थूलः'–'मैं मोटा हूँ' यह अनुभव आत्मतत्त्व और शरीर के भेदोल्लेख के अभाव में हुआ करता है वैसे ही रस भी ज्ञाता और ज्ञान के भेदोल्लेख के अभाव में हुआ करता है। घट-पटादि के अनुभव में तो वेद्य और वेदन का भेद स्पष्ट रहा करता है किन्तु रसानुभव में

('रस' और 'आस्वाद' का तादात्म्य)

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रस-

---

'रस' और 'अनुभव' का कोई भेद नहीं हुआ करता। साथ ही साथ 'स्वाकारवत्' का एक दूसरा भी अभिप्राय संभव है और वह यह है—जैसे ज्ञान और ज्ञानविषय में अभेद माना गया है, जैसा कि परिणामवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त है, वैसे ही रसदार्शनिकों के अनुसार आस्वाद और आस्वादविषय 'रस' भी भिन्न नहीं, अपि तु एक अभिन्न तत्त्व है।

कुछ लोगों ने जैसे कि तर्कवागीशरचित साहित्यदर्पण-टीका के टिप्पणीकार ने ही 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः' इस उक्ति में एक और ही अभिप्राण ढूंढा है—

'यथा ज्ञानस्यैवाकारो घटादिस्तस्मादभिन्नोऽपि तद्विषयो बाह्यैरङ्गीक्रियते तथात्रापीत्यर्थः। अत्रेदं तत्त्वम्—स्वयं वेदनं तावदङ्गीकार्यम्। अन्यथा जगदान्ध्यं प्रसज्येत। एवं च स्वव्यतिरिक्तग्राह्यविरहात्तत्तदात्मिका बुद्धिः स्वयमेव स्वात्मरूपप्रकाशिका प्रकाशवदिति। तदुक्तम्—

'नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्याऽस्ति तस्या नानुभवोऽपरः।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते॥' इति।

'ग्राह्यस्य बाह्यविषयजातस्य ग्राहकं स्वयं वेदनापरपर्यायं बुद्धितत्त्वं तयोर्वैधुर्यं नाम ग्राह्यत्वेन ग्राहकत्वेन च रूपेण भेदराहित्यम्। तयोरभेदश्चानुमातव्यः। येन वेदनेन यद् वेद्यते तत्ततो न भिद्यते। यथा ज्ञानेनात्मानः। (चक्षुरादीनि पञ्चेन्द्रियाणि) तैश्च नीलादयो वेद्यन्ते। भेदे सति वेदनेन सहार्थस्य संबन्धित्वं न स्यात्। तादात्म्यस्य संबन्धनियमहेतोरभावात्। तस्माद् बुद्धिरेवानादिवासनावशादनेकाकारावभासत इति स्थितम्।'

(साहित्यदर्पण : निर्णयसागरसंस्करण, पृष्ठ ७२)

अर्थात् घट-पटादि वेद्यवर्ग वस्तुतः वेदन अर्थात् ज्ञान के ही आकार हैं और इसीलिये ज्ञेय और ज्ञान का भेद काल्पनिक है, वास्तविक नहीं। यदि ज्ञान से ज्ञेय कोई सर्वथा भिन्न तत्त्व हो तब ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध क्या? ज्ञान और ज्ञेय का सम्बन्ध तो तादात्म्य-सम्बन्ध है। इस प्रकार 'आस्वाद' और 'रस' भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं अपि तु तादात्म्य-सम्बन्ध से संबद्ध तत्त्व हैं। किन्तु विश्वनाथ कविराज का यहां वास्तविक अभिप्राय संभवतः कुछ और है। 'कैश्चित् प्रमातृभिः स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः'-इस पद-संदर्भ में सर्वप्रथम तो रसप्रमाता के परिमित प्रमातृभाव के विगलित होने का अर्थ अन्तर्निहित है क्योंकि तभी रसप्रमाता के रसानुभवकालीन लोकोत्तर व्यक्तित्व का संकेत किया जा सकता है जैसा कि 'कैश्चित्' इस पद के द्वारा किया भी गया है। इस प्रकार 'स्वाकारवदभिन्नत्वेन' आदि के अर्थ-रहस्य में जो बात झलकती है वह यह है-जैसे स्वप्रकाशरूप आत्मतत्त्व का उसके आकार अर्थात् स्वरूपानन्द के साथ कोई भेद नहीं, वैसे ही स्वप्रकाशरूप रस का उसके आकार अथवा चमत्कारात्मक आस्वाद के साथ कोई भेद नहीं। 'सहृदय सामाजिकों को रसास्वाद मिला करता है'—इसका यह रहस्य है कि 'सहृदय सामाजिक स्वप्रकाशानन्दरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार किया करते हैं।' यहां यह अभिप्राय भी संगत है-जैसे भिन्न-भिन्न प्रमाताजनों में स्वप्रकाशानन्दमय आत्मतत्त्व अभिन्न है वैसे ही भिन्न-भिन्न सहृदयों का अनुभूत रस भी भिन्न नहीं अपि तु एकरूप, एकरस, अभिन्न हुआ करता है।

अनुवाद—यद्यपि प्राचीन रसमर्मज्ञ आचार्यों का यह निर्देश कि (सहृदय सामाजिक द्वारा अनुभूत काव्य-नाट्य का) 'आस्वाद विभावादि-संवलित रत्यादि रूप काव्यार्थ से अनुविद्ध

स्यास्वादानतिरिक्तत्वमुक्तम्, तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं भेदमुररीकृत्य कर्मकर्त्तरि वा प्रयोगः। तदुक्तम्—'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' इति। एवमन्यत्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः।

सहृदय सामाजिक के आत्मानन्द का आस्वाद है' इसी बात को सिद्ध करता है कि जिसे 'रस' कहते हैं वह 'आस्वाद' के अतिरिक्त (आस्वादभिन्न) कोई और तत्त्व नहीं किन्तु तब भी यह कहा जा सकता है कि 'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'। 'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'—इस कथन में 'रस' और 'आस्वाद' में भेद की कल्पना कर ली गयी है (जो कि उचित ही है क्योंकि 'राहोः शिरः' 'राहु का सिर' आदि आदि रूप से अभेद में भेद-कल्पना की ही जाया करती है)। अथवा 'रसः स्वाद्यते'-'रस का आस्वाद लिया जाया करता है'—इस उक्ति में कर्मकर्तृप्रक्रिया मान सकते हैं जिससे 'रसः स्वाद्यते' का अभिप्राय यह निकलता है कि 'रस स्वयं ही अपने स्वरूपभूत, अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करता है'।

वस्तुतः इसीलिये कहा भी गया है—'रस का सारतम तत्त्व तो रस्यमानता अथवा आस्वादमयता है और इसीलिये जिसे 'रस' कहते हैं वह स्वप्रकाशानन्दमय संवित्तत्त्व (आत्मतत्त्व) से भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं।' इस भांति अन्यत्र भी, जहां ऐसा प्रयोग हो जिसमें 'रस' और 'आस्वाद' का भेद प्रतीत हुआ करे, यही समझना चाहिये कि उपचार का—काल्पनिक भेद का—आश्रय लिया गया है (अथवा कर्मकर्तृप्रक्रिया का व्यवहार किया गया है)।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' आदि उदाहरण दशरूपक (४·४३) का दिया है। दशरूपक की पंक्तियाँ ये हैं :

'कथं च काव्यात् स्वानन्दोद्भूतिः किमात्मा चासाविति व्युत्पाद्यते—

स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।

काव्यार्थेन=विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः संभेदे=अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्तमितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स्वादः, तस्य च सामान्यात्मकत्वेऽपि प्रतिनियतविभावादिकारणजन्येन संभेदेन चतुर्धा चित्तभूमयो भवन्ति। तद्यथा-शृङ्गारे विकासः, वीरे विस्तरः, बीभत्से क्षोभः, रौद्रे विक्षेप इति।'

अर्थात् जिसे काव्य-नाट्य का आस्वाद कहते हैं वह वस्तुतः आत्मानन्द का ही विलास है। यह आस्वाद तभी संभव है जबकि काव्य-नाट्य के सामाजिक के हृदय में विभावादि-संवलित रत्यादिरूप काव्यार्थ की महिमा से सहृदयता का स्रोत उमड़ पड़े और स्वगत-परगत का भेद-भाव मिट जाय।

यद्यपि दशरूपककार की यह उक्ति 'रस' को 'आस्वाद' (स्वाद) रूप सिद्ध करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करती किन्तु इसके आधार पर विश्वनाथ कविराज ने जो 'रस' और 'आस्वाद' की अभिन्नता प्रमाणित की है उसमें कोई ऐसी विप्रतिपत्ति नहीं, जो खटकनेवाली हो। दशरूपककार की उपर्युक्त उक्ति में तो 'रस' और 'स्वाद' के भेद का ही पता चलता है अन्यथा अष्टविध रस और चतुर्विध स्वाद के उल्लेख का क्या अभिप्राय! संभवतः कविराज विश्वनाथ को दशरूपक की

(आस्वादस्वरूप रस और व्यञ्जनावृत्ति का तादात्म्य)

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवतीति व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम् । ततश्च—

'स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः ।
यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषोऽस्य कारकात् ॥'

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद्व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्यमुक्तम् । अत एवाहुः-'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः । अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विल-

---

उपर्युक्त पंक्तियों में केवल प्रथम पंक्ति का ही ध्यान है जिसमें उन्हें 'स्वाद' पद 'रस' का समानार्थक प्रतीत हुआ है ।

अनुवाद—यहाँ एक प्रश्न उठता है और वह यह है कि यदि 'रस' और 'आस्वाद' की उपर्युक्त एकरूपता मान ली जाय और 'रस' अथवा 'आस्वाद' को स्वप्रकाशानन्दरूप संवित् स्वीकार कर लिया जाय तब यह कैसे संभव है कि रस को अनुभव का विषय सिद्ध किया जाय ! (यह कैसे संभव है कि रस अथवा आस्वाद प्रकाशरूप भी हो जाय और प्रकाश अथवा संवेदन का विषय भी बन जाय !) यहाँ यह तो कहा नहीं जा सकता कि रस अथवा आस्वाद व्यञ्जना द्वारा वेद्य है क्योंकि जैसे रस अथवा आस्वाद एक ज्ञानविशेष है वैसे ही व्यञ्जना भी एक ज्ञानविशेष ही है और ऐसा होने से यही सिद्ध है कि रस और व्यञ्जना दोनों एक अभिन्न तत्त्व हैं । रस और व्यञ्जना जब एक तत्त्व हुये तब क्यों कर रसको व्यङ्ग्य-व्यञ्जनावेद्य—कहा जा सके । रस को तो तभी व्यङ्ग्य कह सकते हैं जब व्यञ्जना उससे एक पृथक् तत्त्व हो । व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव तो वस्तुभेद में ही संभव है जैसे कि घट और प्रदीप में जो व्यङ्ग्य व्यञ्जकभाव है वह इसीलिये है क्योंकि व्यञ्जक प्रदीप और व्यङ्ग्य घट परस्पर भिन्न वस्तुयें हैं । तभी तो कहा गया है—

'व्यञ्जक वह तत्त्व है जो अपने आप को प्रकाशित करते हुये अपने से भिन्न किसी पूर्वसिद्ध वस्तु को प्रकाशित किया करे । उदाहरण के लिये 'प्रदीप' को इसीलिये व्यन्जक कहा जाया करता है क्योंकि वह अपने आप को प्रकाशित करते हुये, अपने से भिन्न घट-पटादि को प्रकाशित किया करता है । यदि ऐसी बात न हो तो 'कारक' रूप हेतु से 'व्यञ्जक' रूप हेतु का भेद ही क्या रह जाय ?' (ध्वन्यालोक)

यह प्रश्न तो संगत सा लगता है । तभी वस्तुतः रसमर्मज्ञ-शिरोमणि आचार्य अभिनवगुप्त ने ऐसा कहा है—

'आस्वादन रूप व्यापार एक सर्वथा विलक्षण, अलौकिक, अनिर्वचनीय व्यापार है । यह व्यापार जैसे कारकहेतु के कृतिरूप व्यापार से विलक्षण है वैसे ही ज्ञापक (व्यञ्जक) हेतु के ज्ञप्ति (व्यञ्जक) रूप व्यापार से भी विलक्षण है । वस्तुतः इसीलिए इस आस्वादनात्मक व्यापार को (जिससे रस अथवा आस्वाद संभव है) रसन, आस्वादन, चमत्करण आदि-आदि अलौकिक शब्दों द्वारा सूचित किया जाया करता है ।'

अब यदि 'रस' को व्यङ्ग्य कहा जाय, जैसा कि रसमर्मज्ञ आलङ्कारिकों द्वारा कहा ही जाया करता है तो वहाँ यही अभिप्राय समझना चाहिए कि काव्य-नाट्य के परमार्थभूत रसभावादिरूप अर्थ की प्रतीति के लिये व्यञ्जना नाम की एक ऐसी अलौकिक वृत्ति को स्वीकार करना है जो अभिधा और लक्षणा किंवा तात्पर्य नामक वृत्तियों से सर्वथा

क्षणा एव व्यपदेशाः' इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति।

विलक्षण वृत्ति हुआ करती है। रस 'व्यङ्ग्य' है—इसका रहस्य यही है कि रस (एक विलक्षण रसनात्मक व्यापार का विषय है। और यह रसनात्मक व्यापार और कुछ नहीं अपितु, अनिर्वचनीय व्यञ्जना-व्यापार है)।

विमर्श—रस के 'ज्ञान' रूप होने और व्यङ्ग्य' (व्यञ्जना-वेद्य) कहे जाने में जिस अनुपम वृत्ति का निर्देश यहाँ साहित्य-दर्पणकार ने किया है उसे प्राचीन रसवेदी आचार्य अभिनवगुप्त ने ही निर्दिष्ट कर दिया है। और 'रसना' रूप प्रतीति उत्पन्न हुआ करती है तथा इस रसनात्मक प्रतीति में व्यञ्जना का ही हाथ रहा करता है।

(तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव—

—ध्वन्यालोकलोचन—२ य उद्योत)

इस युक्ति से 'रस' की व्यङ्ग्यता की अनुपपत्ति का भी निराकरण आचार्य अभिनवगुप्त का ही किया हुआ है। 'रस' व्यङ्ग्य है, इसका अभिप्राय यही है कि काव्य-नाट्य की अभिधादि-विलक्षण व्यञ्जना शक्ति की ही यह महिमा है जिससे रसनात्मक प्रतीति को जन्म मिला करता है। इस प्रकार यदि यह कहा जाय कि 'रस व्यङ्ग्य है' तो यही समझा जायगा कि रसनात्मक प्रतीति व्यञ्जना-जन्य हुआ करती है। इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का और भी कथन है—

'भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव, नान्यत् किञ्चित्। भावकत्वमपि समुचितगुणालंकारपरिग्रहात्मकमस्माभिरेव वितत्य वक्ष्यते। किमेतदपूर्वम्? काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते, तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। न च काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वम्, अर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानाम्, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्—'यत्रार्थःशब्दो वा तमर्थं व्यंक्त' इत्यत्र। तस्माद् व्यंजकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालंकारौचित्यादिकयेतिकर्त्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां कारणांशे ध्वननमेव निपतति। भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपि तु घनमोहान्ध्यसंकटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्त्तव्ये लोकोत्तरो ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्तः तच्चेदं भोगकृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम्। रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद् भोगस्येति।'

(ध्वन्यालोकलोचन—२ य उद्योत)

अर्थात् रस प्रक्रिया का यदि विश्लेषण किया जाय तो जो बात अन्ततोगत्वा सिद्ध होती है वह यह है—

काव्य-नाट्य रसभावक हुआ करता है। काव्य-नाट्य में एक विचित्र शक्ति रहा करती है जो कि उसकी भावना अथवा भावकता शक्ति है। काव्य-नाट्य की यह भावना वस्तुतः उसकी व्यञ्जना है अन्य कुछ नहीं। काव्य-नाट्य की भावना में भी साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता के तीनों अंशों के स्वरूपों का स्पष्ट पता चला करता है। रस अथवा आनन्दमय अनुभव तो इसका साध्य है और व्यञ्जना-साधन। इतिकर्त्तव्यता (उपकारकतत्त्व) के रूप में भी काव्य-नाट्य की ही व्यञ्जकता सामग्री (अर्थात् गुण–अलंकार आदि की औचित्यपूर्ण योजना) दिखाई दिया करती है। यह काव्य-नाट्य की व्यञ्जना ही है जो कि विभावादि की साधारणीकृति से लेकर रसनारूप प्रतीति

(रस की आनन्दरूपता और शोकस्थायिभावात्मक करुण : सामञ्जस्य)

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं (तदुन्मुखत्वं) न स्यादित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ ४ ॥

आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयः ।

(करुण आदि के 'रस'-आनन्दास्वाद-रूप होने में अन्य प्रमाण)

तथाऽप्यसहृदयानां मुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते—

तक स्फुरित रहा करती है। 'रस' और 'रसना' रूप प्रतीति में औपचारिक अभेद मानकर रस को व्यञ्जना-जन्य कहने में कोई आपत्ति नहीं।

अनुवाद—यदि उपरिनिर्दिष्ट विचारधारा के अनुसार यही सिद्ध है कि रस आनन्दरूप है तो प्रश्न यह उठता है कि करुण, जिसमें शोकरूप स्थायीभाव की भावना अथवा रसना हुआ करती है, रस है या नहीं? इसका समाधान यह है—

'जब कि सहृदय सामाजिकों को करुण आदि रसों में भी अनिर्वचनीय आनन्द ही मिला करता है तब तो यही सिद्ध है कि करुण आदि भी रस ही हैं, आनन्दरूप आस्वाद ही हैं।'

यह 'करुण आदि' कहने का यह अभिप्राय है कि जैसे सहृदयों के अनुभव के आधार पर शोक-स्थायिभावात्मक करुण 'रस' है वैसे ही जुगुप्सा-स्थायिभावात्मक बीभत्स अथवा भय-स्थायिभावात्मक भयानक आदि भी 'रस' ही हैं—काव्य-नाट्य के आनन्दात्मक चमत्कार ही हैं।

विमर्श—शृङ्गार की भाँति करुण भी एक आनन्दात्मक आस्वाद है—यह करुण-मीमांसा प्राचीन रसमर्मज्ञों की परम्परा से चली आयी है। 'शोकः श्लोकत्वमागतः' की चिरप्रसिद्ध सूक्ति भी यही सिद्ध किया करती है कि करुण दुःखात्मक नहीं किन्तु एकमात्र सुखात्मक अनुभव है। महाकवि भवभूति की यह स्मरणीय उक्ति—

'एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान् ।
आवर्त्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम् ॥'

करुण के ही आनन्द को एकमात्र काव्य-नाट्य का अनिर्वचनीय आनन्द माना करती है।

यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रस के आह्लाद रूप और करुण के शोकास्वाद रूप की मान्यता में जो अनुपपत्ति दूर की है उसमें लौकिक शोकानुभव से अलौकिक शोकास्वाद-लोक-करुण से काव्य-करुण-का वैलक्षण्य भी स्पष्ट रूप से झलक रहा है।

अनुवाद—यद्यपि करुणादि रसों के आनन्दात्मक होने में सहृदयों के स्वानुभव को प्रमाण मानना सर्वथा युक्तियुक्त है किन्तु सम्भव है कि वे लोग, जो सहृदय नहीं, ऐसा न मानें। इसलिये, ऐसे लोगों को निरुत्तर करने के लिये, करुणादि की रसरूपता की सिद्धि में दूसरा प्रमाण दिया जा रहा है—

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

नहि कश्चित् सचेता आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते । करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव ।

(करुणादि रसो के दुःखात्मक मानने में महान् अनर्थ)

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

यथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ ५ ॥

करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसङ्गः स्यात् ।

'करुणादि रस का अनुभव तो वस्तुतः सब के लिये आनन्दात्मक ही अनुभव हुआ करता है क्योंकि यदि ऐसी बात न होती तो असहृदय की तो बात ही क्या ! कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी सहृदय क्यों न हो, करुणादि रस के आस्वाद के लिये लालायित ही क्यों हुआ करता, जैसा कि वस्तुतः हुआ करता है ?'

सहृदय होने अथवा असहृदय होने की बात तो दूर रहे, कोई भी व्यक्ति जो समझदार हो, अपने आप अपने पास शोक-सन्ताप को क्यों बुलाये ? अब जब कि करुणादि रस के आस्वाद के प्रति सामाजिक मात्र का आग्रह दिखायी पड़ता है तब तो यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि करुणादि रस भी आनन्दमय, सुखास्वादरूप ही हुआ करते हैं।

विमर्श—'लोक-करुण में हृदयोद्वेग हुआ करता है और काव्य-करुण में हृदयसंवाद। लौकिक शोक में कोई भी व्यक्ति तन्मय होना नहीं चाहता। अलौकिक अर्थात् काव्य—नाट्योत्थापित शोकवासना में सभी तन्मय हुआ करते हैं। लौकिक करुण में आस्वाद्यमानता कहां ? काव्य—करुण एकमात्र आस्वादसार हुआ करता है' यह विचारधारा जो कि विश्वनाथ कविराज ने यहाँ प्रवाहित की है 'रस' अथवा काव्यात्मक किंवा कलात्मक अनुभूति की बड़ी सुन्दर विचारधारा है जिसका उद्गम रसध्वनिवादी प्राचीन आचार्यों जैसे कि आचार्य आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त का ही मनन-चिन्तन है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

'शोक इति। क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभवनक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः, करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नः·········' । (ध्वन्यालोकलोचन : १ म उद्योत)

अनुवाद—साथ ही साथ करुणादि रसों के दुःखात्मक मानने में जो सबसे बड़ी अनुपपत्ति है उसका भी निर्देश कर देना आवश्यक है—

करुणादि को यदि दुःखात्मक मान लें, तब रामायणादि महान् काव्य अथवा नाट्यग्रन्थों को दुःखदायी मानना पड़ जायगा ! तात्पर्य यह है कि रामायणादि काव्य-प्रबन्ध अथवा नाट्य-प्रबन्ध तो सबके लिये रसात्मक-आनन्द-निष्यन्दी-प्रबन्ध हैं और इन प्रबन्धों का जो रस है वह करुण रस है। अब यदि करुण को दुःखात्मक मान लिया जाय तब तो यह भी मानना पड़ेगा कि करुणरसप्रधान रामायणादि प्रबन्ध सहृदय सामाजिक के लिये दुःखदायक, दुःखात्मक प्रबन्ध हैं। किन्तु ऐसा भला कौन मानने लगे ?

(शोकस्थायिभावात्मक करुण में आनन्दानुभव की सिद्धि)

ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात् ।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥ ६ ॥
अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥ ७ ॥

विमर्श—करुण के आनन्दात्मक अनुभव होने में विश्वनाथ कविराज ने जो युक्ति दी है उस पर 'दशरूपक' की इस विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है—

'ननु च युक्तं शृङ्गारवीरहास्यादिषु प्रमोदात्मकेषु काव्यार्थसम्भेदानन्दोद्भव इति, करुणादौ तु दुःखात्मके कथमिवासौ प्रादुष्यात ? तथा हि—तत्र करुणात्मककाव्यश्रवणाद् दुःखाविर्भावोऽश्रुपातादयश्च रसिकानामपि प्रादुर्भवन्ति, न चैतदानन्दात्मकत्वे सति युज्यते। सत्यमेतत्, किन्तु तादृश एवासावानन्दः सुखदुःखात्मको यथा प्रहरणादिषु सम्भोगावस्थायां कुट्टमिते स्त्रीणाम्, अन्यश्च लौकिकात् करुणात् काव्यकरुणः, तथा ह्यत्रोत्तरोत्तरा रसिकानां प्रवृत्तयः। यदि च लौकिककरुणवद् दुःखात्मकत्वमेवेह स्यात्तदा न कश्चिदत्र प्रवर्तेत, ततः करुणैकरसानां रामायणादिमहाप्रबन्धानामुच्छेद एव भवेत्। अश्रुपातादयश्चेतिवृत्त-वर्णनाकर्णनेन विनिपातितेषु लौकिकवैक्लव्यदर्शनादिवत् प्रेक्षकाणां प्रादुर्भवन्तो न विरुध्यन्ते, तस्माद्रसान्तरवत् करुणस्याप्यानन्दात्मकत्वमेव।' (दशरूपक–४ र्थ प्रकाश)

अर्थात् शृङ्गारादि रसों की आनन्दात्मकता तो निःसन्दिग्ध ही है किन्तु करुण रस का आनन्दात्मक होना भी स्वयं सिद्ध है। काव्य का करुण 'रस' है। लोक का करुण रस नहीं। यदि काव्य का करुण 'रस' न होता, आनन्दात्मक अनुभव रूप न माना जाता, तब रामायणादि करुणरसप्रधान महाकाव्यों के प्रति लोगों की अभिरुचि क्योंकर दिखायी देती ? रामायण का करुण यदि आनन्दचमत्कार है तो जहां भी करुण की अभिव्यक्ति है वहाँ आनन्द की ही अनुभूति हुआ करती है। काव्य–करुण के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं। सहृदय सामाजिकों का संवेदन ही करुण के आनन्दात्मक होने का प्रमाण है।

अनुवाद—यह ठीक है कि करुण का स्थायीभाव शोक है और शोक केवल दुःख का ही जनक हो सकता है न कि सुख का। किन्तु काव्य-नाट्य में शोक से सुख मिला करता है (और करुण आनन्दचमत्कार है) यह भी एक परम तथ्य है और इसका विचार इस प्रकार है—

'भले ही शोक-विषाद और हर्ष-प्रहर्ष के उन-उन लौकिक कारणों से प्रतिदिन के जीवन में लोगों को दुःख और सुख मिला करें किन्तु लोक-जीवन के वे ही हर्ष-विषाद और उनके वे ही कारण जब काव्य-नाट्य की वर्णना के विषय बन जाया करते हैं और सहृदय सामाजिक के हृदय की शोकादि वासनाओं को उद्बुद्ध करने लगते हैं तब उनसे सुख अथवा आनन्द की ही सृष्टि हुआ करती है और यह बात ऐसी है जिसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं (क्योंकि जैसे लोक और काव्य-नाट्य परस्पर विलक्षण हैं वैसे ही लोक के शोक-हर्ष और काव्य-नाट्य के शोक-हर्ष भी तो एक नहीं)।

ये खलु रामवनवासादयो लोके 'दुःखकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्दवाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते। अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादिकारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः। काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति नियमान्न कश्चिद्दोषः।

(काव्य-नाट्य के आँसू आनन्द के आँसू हुआ करते हैं)

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते—

अभिप्राय यह है कि लोक-जीवन की दृष्टि से राम-वनवास आदि-आदि घटनायें दुःखद घटनायें ही हैं किन्तु ये ही घटनायें जब काव्य-नाट्य के क्षेत्र में उतारी जाया करती हैं तब दुःख देना तो दूर रहा, सुख देने लग जाती हैं। काव्य में लोक का यह आमूलचूल परिवर्तन इसलिये हुआ करता है क्योंकि लोक में तो वनवासादि घटनायें दुःख का 'कारण' हुआ करती हैं और ऐसी कही भी जाया करती हैं किन्तु काव्य-नाट्य में आते ही इनमें विभावन की शक्ति का संचार हो उठता है जिससे सहृदय सामाजिक अपनी शोकवासना का एक अलौकिक आस्वाद लेने लग जाता है और इसीलिये इन्हें एक अलौकिक शब्द जैसे कि 'विभाव' शब्द से संकेतित किया जाया करता है। काव्य-नाट्य की ये विभावरूप दुःखद घटनायें एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि किया करती हैं। दुःख-हेतु से सुख की सृष्टि कदाचित् लोक में भी दिखायी देती है जैसे कि रतिप्रसङ्ग में दन्तक्षत और नखक्षत दुःख नहीं अपितु सुख के ही देनेवाले हुआ करते हैं। निष्कर्ष यह निकलता है कि लोक का नियम कुछ और है और काव्य-नाट्य का और। लोक का नियम है—लौकिक दुःख अथवा सुख के जनक तत्त्व लोक-जीवन में दुःख अथवा सुख दिया करते हैं। इसके विपरीत काव्य-नाट्य (कला) का नियम है—लोकजीवन की समस्त दुःखद किंवा सुखद वस्तुयें काव्य-नाट्य में आते ही विभावादिरूप में बदल जाया करती हैं और एकमात्र परमानन्दसन्दोहरूप रस की सृष्टि किया करती हैं। इस प्रकार जब कि काव्य लोक से विलक्षण तत्त्व है तब इसमें क्या आपत्ति कि काव्य की शोक-वर्णना से आनन्द भावना हुआ करती है?

विमर्श—यहाँ साहित्यदर्पणकार ने लोक और काव्य के वैलक्षण्य के आधार पर लौकिक शोक और अलौकिकशोक, लोक-करुण और काव्यकरुण का परस्पर वैलक्षण्य सिद्ध किया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त किंवा प्राचीन आचार्यों की विचारधारा द्वारा प्रमाणित है। यहाँ करुण की रसरूपता की सिद्धि का एकमात्र अभिप्राय रस के स्वरूप का सर्वतोभद्र उन्मीलन है। रस की अनिर्वचनीयता जितनी करुण की रसरूपता की सिद्धि में सिद्ध होती है उतनी शृङ्गार की रसरूपता की सिद्धि में नहीं होती।

अनुवाद—उपर्युक्त रीति से करुण यदि आनन्दरूप है तो ऐसा क्यों है कि काव्य-नाट्य में उपस्थापित कतिपय करुण-चरित, जैसे कि महाराज हरिश्चन्द्र आदि के ही चरित, के देखने अथवा सुनने से सामाजिकों की आँखों से आँसू गिरने लगते हैं? इसका उत्तर यह है—

अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसो मताः

(रसास्वाद का अधिकार : समान अथवा विशिष्ट ?)

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ॥ ८ ॥

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः, तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।

उक्तञ्च धर्म्मदत्तेन—

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' ॥ इति।

'जैसे लोकगत हृदयविदारक दृश्य के देखने अथवा सुनने से लोगों का हृदय पिघल जाता है और उनकी आँखों से दुःख के आँसू निकल पड़ते हैं वैसे ही काव्य-नाट्यगत करुण दृश्य के देखने अथवा सुनने से भी सहृदय सामाजिकों का हृदय पिघल पड़ता है और उनकी आँखों से आनन्द के स्रोत बने आँसू बह चलते हैं।'

अनुवाद—यहाँ यह भी प्रश्न स्वाभाविक है कि जब कि रस आनन्दरूप-आह्लादमय-हुआ करता है तो उन सभी लोगों को जो काव्य अथवा नाट्य के पढ़ने अथवा देखने वाले हुआ करते हैं, क्योंकर काव्य अथवा नाट्य से यह आह्लादानुभव, यह आनन्दास्वाद नहीं मिला करता? इसका भी समाधान है—

'जब तक काव्य-नाट्य के सामाजिकों में रत्यादिरूपवासना—जन्मजन्मान्तर से संचित सूक्ष्मरत्यादिसंस्कार—न हो तब तक उन्हें रत्यादि का आस्वाद (रस) भी क्योंकर मिलने लगे।'

यहाँ अभिप्राय यह है—रसास्वाद के लिये 'वासना' का होना नितान्त आवश्यक है। यह 'वासना' दो प्रकार की हुआ करती है—पहली आधुनिक (इदानीन्तनी) और दूसरी प्राचीन (प्राक्तनी)। रसास्वाद के लिये जैसे पहली वासना आवश्यक है वैसे ही दूसरी भी। क्योंकि यदि पहले प्रकार की वासना रसास्वाद के लिये आवश्यक न हो तब तो शुष्कहृदय श्रोत्रिय और वेदवादरत मीमांसापण्डितों को भी रसास्वाद हुआ करे! इसी प्रकार यदि दूसरे प्रकार की वासना को रसास्वाद की भूमिका न माना जाय तब इस प्रकार की घटना जैसे कि रसिकहृदय सामाजिकों में भी रसास्वाद की असंभावना आदि न घटा करे। वस्तुतः इसीलिये आलङ्कारिक धर्मदत्त ने कहा है—

'रस का आस्वाद तो उन्हीं सामाजिकों को हुआ करता है जिनके हृदय में रत्यादि-वासनाओं का भण्डार भरा है। उन्हें भला रस का आस्वाद कैसे जिनमें वासना ही नहीं! ऐसे लोग सामाजिक नहीं अपितु रंगशाला के खम्भे, दीवार और पत्थर के समान सर्वथा काव्यार्थानुभव से वञ्चित ही रहने योग्य हैं।

विमर्श—मनुष्य मात्र के चित्त में चित्र-विचित्र वासनायें विराजमान हैं किन्तु सभी रसास्वाद के भागी नहीं हुआ करते। रसास्वाद के भागी तो वे लोग ही हुआ करते हैं जिनमें पूर्वजन्म की रत्यादि-वासना (प्राक्तनी वासना) रहा करती है जैसा कि महाकवि कालिदास ने स्पष्ट कहा है—

(रसस्वाद की भूमिका : साधारणीकरण : तन्मयीभवन)

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥ ९ ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥'

'इदानीन्तनी' वासना को भी रसास्वाद के लिये आवश्यक मानना युक्तियुक्त ही है। यदि सबको काव्य-नाट्य के प्रति आरंभिक औत्सुक्य से लेकर अन्तिम अभिनिवेश तक का समान अवसर मिला करता तो वैयाकरणों और मीमांसकों को शुष्कहृदय न कहा जाया करता। वैयाकरणों और मीमांसकों को रसास्वाद नहीं मिला करता – इसका अभिप्राय यही है कि—जब इस जन्म में काव्यार्थभावना का अवसर न मिले तो भावी जन्म भी रसास्वादशून्य ही व्यतीत होंगे! इस जन्म में वैयाकरणों और मीमांसकों के लिए काव्यार्थभावना के अवसर के अभाव का कारण मध्यकालीन भारतीय शिक्षाप्रणाली में खोजा जा सकता है। विश्वनाथ कविराज का यह संकेत एक विचारणीय संकेत है।

अनुवाद—यह सब तो हुआ किन्तु एक प्रश्न यह है—नाट्य अथवा काव्य में उपस्थापित रामादि नायकों के रत्यादिभावों के उद्बोधन-कारण सीतादि नायिकाओं के दर्शन अथवा श्रवण से सामाजिक जन के हृदय की रत्यादिवासनायें क्योंकर उद्बुद्ध हो सकती हैं? इसका समाधान इस प्रकार है—

'काव्य-नाट्य में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभावों में 'साधारणीकरण' की अलौकिक शक्ति रहा करती है। इस शक्ति की ही यह महिमा है कि प्रत्येक सामाजिक अपनी-अपनी वैयक्तिक सीमाओं से परे पहुँच जाता है और अपने आपको उन महावीर राम आदि नायकों के समान, वस्तुतः उनसे अभिन्न मानने लग जाता है जिनकी समुद्र-संतरण, रावणवध आदि-आदि लीलायें लोक-जीवन में अत्यन्त असाधारण, लोकोत्तर मानी गयी हैं और वस्तुतः हैं भी।'

विमर्श—काव्यनाट्य के सामाजिकों को 'सहृदय' कहा जाया करता है। वस्तुतः काव्य-नाट्य की यह महिमा ही है जो लोगों को सहृदय बनाया करती है। काव्यनाट्य की यह महिमा उसकी व्यञ्जकता शक्ति है जो उससे प्रभावित होनेवालों के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व को एक सहृदय व्यक्तित्व के रूप में बदल दिया करती है। लोकगत रत्यादि भावों को कारण—सामग्री से भिन्न-भिन्न लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार का अनुभव हुआ करता है किन्तु काव्यनाट्यगत विभावादि-सामग्री रसरूप अनुभव को ही जन्म देती है। विभावादि में साधारणीकृति की शक्ति वस्तुतः काव्य-नाट्य की व्यञ्जनाशक्ति ही है, अन्य कुछ नहीं। यहाँ विश्वनाथ कविराज ने व्यञ्जना का नामोल्लेख न कर उसके महाप्रभाव का उल्लेख किया है जिससे व्यञ्जना के वैभव का पता चल जाय और उसके स्वरूप-साक्षात्कार के लिये पाठक उत्कंठित हो जायँ।

(काव्य-नाट्य के नायक और सामाजिक जन का साधारणीकरण)

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते—

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ।

(सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं और नायकों के रत्यादिभावों का साधारणीकरण)

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥ ११ ॥

रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातङ्कादिर्भवेत् । परगतत्वेन त्वरस्यतापातः ।

अनुवाद—यहाँ यह पूछा जा सकता है कि काव्य-नाट्य के सामाजिकों के लिये जो कि लोकजीवन में साधारण मनुष्य हुआ करते हैं, यह कैसे संभव है कि महावीर राम आदि नायकों की भांति समुद्रलंघन आदि वीर कर्मों के अनुष्ठान में उत्साह का भाव उद्बुद्ध हो जाय ! किन्तु इसका उत्तर सरल है और वह यह है—

'जब कि काव्य-नाट्य की 'साधारणीकृति' की शक्ति से सामाजिकों के हृदय में महावीर रामादि नायकों के साथ अभेद अथवा तादात्म्य की भावना जाग उठी तब यदि प्रत्येक सामाजिक का हृदय, भले ही वह लोक जीवन का एक साधारण मानव-हृदय हो, समुद्रसंतरण सरीखे भयंकर वीरकर्मों के प्रति भी उत्साहादि महाभावों से भर उठे और असंभव को संभव बनाने की शक्ति का अनुभव करने लगे तो आश्चर्य क्या और आपत्ति क्या ?'

विमर्श—यहाँ रसिक के साधारणीकृत व्यक्तित्व का जो निरूपण है वह अत्यन्त सुन्दर किंवा महत्वपूर्ण है । सहृदय सामाजिक की रामादि नायकों के साथ यह तादात्म्य-स्थापना रसास्वाद की भूमिका तो है ही साथ ही साथ 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' के सरस कर्त्तव्योपदेश की भी भूमिका है ।

अनुवाद—काव्य-नाट्य की 'साधारणीकृति' की शक्ति किस प्रकार रामादिगत रत्यादि भावों को भी सामाजिकों की रत्यादिवासनाओं से एकरूप-एकरस-बना दिया करती है—इसका विचार किया जा रहा है—

'जैसे काव्य-नाट्य के 'साधारणीकरण' व्यापार से सामाजिकों में, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, समुद्रलंघन आदि के प्रति उत्साहादि का महाभाव जाग उठता है वैसे ही उनमें रत्यादिभाव भी उद्बुद्ध हो जाया करते हैं ।'

यहाँ आशय यह है—काव्य-नाट्य में उपस्थापित रत्यादिभाव न तो सामाजिकों को अपने वैयक्तिक रत्यादिभाव के रूप में प्रतीत होते हैं और न रामादि नायकों के ही वैयक्तिक रत्यादि भाव के रूप में । क्योंकि यदि कोई भी सामाजिक काव्य-नाट्य में वर्णित रत्यादि भाव को अपना (स्वगत) रत्यादि भाव मानने लगे तब उसे, रसास्वाद मिलना तो दूर रहा उलटे लज्जित होना पड़ेगा (यदि उसके पास कोई बड़ा-बूढ़ा हो) अथवा सशङ्क बने बैठना पड़ेगा (यदि कोई और उसकी बराबरी का दिखायी दे) अथवा आवज्ञित रहना पड़ेगा । इसके अतिरिक्त यदि सामाजिकों ने इन रत्यादि भावों को

(विभावादि का साधारणीकरण)

विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ १२ ॥

नायकादिगत (परगत) ही मान लिया तब उन्हें उनसे रसास्वाद तो मिलने से रहा, उल्टे उनके प्रति उदासीनता और उपेक्षा ही उत्पन्न हो जायगी।

विमर्श—काव्यनाट्य से अभिव्यक्त रत्यादिभाव क्योंकर रसरूप हुआ करते हैं और रसरूप होने से क्योंकर स्वगत नहीं माने जा सकते–इसका निम्न पंक्तियों में, जो कि आचार्य अभिनवगुप्त की अभिनव भारती (नाट्यशास्त्र; षष्ठाध्याय) का संक्षेप है, एक सुन्दर निर्देश है—

'स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासंभवं तदपगमभीरुतया वा, तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा, तत्सदृशार्जिजीषया वा तज्जिहासया वा, तत् प्रचिख्यापयिषया वा, तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गमः एव परमो विघ्नः ।'

(काव्यानुशासन टिप्पण : २ य अध्याय)

अर्थात् यदि सामाजिक रत्यादि भावों को 'स्वगत' मान लें तब उसे 'रस' नहीं मिल सकता। रत्यादि भावों के 'स्वगत' मानने से रसास्वाद में अड़चन पहुँचती है। यदि काव्यनाट्य-वर्णित 'रति' को स्वगत मान लिया गया, तब रस मिलना तो दूर रहे, सभी सामाजिक इस बात से डरते रहेंगे कि उनका आनन्द अब छिना तब छिना, इस बात के लिये व्याकुल रहेंगे कि उनका यह आनन्द कैसे सुरक्षित रहे, कैसे और भी अधिक मात्रा में उपार्जित किया जाय अथवा कैसे औरों पर प्रकट किया जाय।

इसी प्रकार रत्यादि भावों के 'परगत' मानने में भी रसास्वाद की संभावना नहीं हो सकती। कहा भी गया है—

'परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसंभावनादवश्यंभावी विघ्नः ।' (काव्यानुशासन टिप्पण : २ य अ.)

अर्थात् रत्यादिभावों के 'परगत' मान लेने पर रस नहीं मिल सकता अपितु रसास्वाद के एक विघ्न से मुठभेड़ अवश्य हो सकती है। यदि सहृदय सामाजिक काव्य–नाट्योत्थापित रत्यादिभावों को रामादिनायकगत माना करें तब राग–द्वेष–मोह के वशीभूत होता रहेगा न कि आनन्दास्वाद के !

अनुवाद—काव्य-नाट्य के 'साधारणीकरण' के व्यापार का सर्वप्रथम प्रभाव किस प्रकार सामाजिकों के लिये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का 'साधारणीकरण' हुआ करता है (जो कि रसास्वाद का प्रथम पीठिकाबन्ध है) इसका निर्देश किया जा रहा है—

'रसास्वाद के होने में सर्वप्रथम सामाजिकों को यह प्रतीत हुआ करता है, जैसा कि स्वाभाविक है, कि न तो समुद्र-लंघनादि व्यापार उनसे भिन्न रामादि नायकों के हैं और न यही कि वे रामादि नायकों के नहीं हैं, इतना ही क्यों, न तो उन्हें यह अनुभव होता है कि काव्य-नाट्य के वर्णन-चित्रण से उनका कोई सम्बन्ध है और न यही कि इनसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं। बात यह होती है कि काव्य–नाट्य–समर्पित समस्त वस्तुएँ 'स्वगत' और 'परगत' के भेदभाव से परे पहुँच कर सर्वसाधारण के समान अधिकार की वस्तुएँ बन जाया करती हैं (और इसीलिये निर्द्वन्द्व आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ आ करती हैं)। इ

(लोक से काव्य-नाट्य (कला) का वैलक्षण्य : साधारणीकरण)

ननु तथापि कथमेवमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ॥ १३ ॥

आदिशब्दादनुभावसञ्चारणे। तत्र विभावनं रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम्। अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम्। सञ्चारणं तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम्।

विमर्श—आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार 'रसना' रूप प्रतीति एक 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त' प्रतीति हुआ करती है। सहृदय सामाजिकों के लिये काव्य-नाट्य के आनन्दानुभव में सबसे बड़ा विघ्न काव्य-नाट्य-समर्पित वस्तुओं का 'स्वगत' अथवा 'परगत' रूप से ग्रहण करना हुआ करता है। लोक में वस्तुमात्र के प्रति 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना स्वभावतः रहा करती है। लोक की यह 'ममता' अथवा 'परकीयता' की भावना काव्य-नाट्य की भावकता शक्ति—साधारणीकरण की शक्ति-एक शब्द में व्यञ्जना शक्ति के द्वारा हटायी जाया करती है। इसके हटते समस्त काव्यार्पित वस्तुओं के प्रति सहृदय-हृदय में 'साधारणी भाव' परिपुष्ट हो उठता है जिसके रहते रसात्मक अनुभव के अतिरिक्त और कोई भी अनुभव संभव नहीं।

अनुवाद—भले ही लौकिक रत्यादि भावों के कारण-कलाप काव्य-नाट्य में आते ही स्वगत-परगत के सम्बन्ध से परे प्रतीत हुआ करें किन्तु इनमें अलौकिकता की विशेषता क्यों कर समा जाती है—इसका निरूपण किया जा रहा है—

'जब कि लोकगत रत्यादि भावों के कारण-कार्य और सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य के क्षेत्र में उतरते ही विभावन, अनुभावन और व्यभिचारण का अलौकिक व्यापार प्रारम्भ कर दें, तब इनका अलौकिक होना अथवा कहा जाना इनका दोष क्यों, वस्तुतः गुण ही माना जाया करता है।'

यहां 'विभावनादि' में 'आदि' शब्द का प्रयोग इसलिये किया गया है जिसमें 'विभावन' व्यापार के अतिरिक्त अनुभावन और संचारण (व्यभिचारण) व्यापारों का भी बोध हो। 'विभावन' व्यापार काव्य-नाट्य का वह व्यापार है जो सामाजिक-हृदय की रत्यादि वासनाओं को विशेषरूप से रसास्वाद के रूप में अंकुरित होने में समर्थ बनाया करता है। 'अनुभावन' का व्यापार वह है जो इस रूप में अङ्कुरित रत्यादि वासनाओं को तत्काल रसादिरूप में परिणत किया करता है। और 'सञ्चारण' (व्यभिचारण) का व्यापार वह है जो कि विभावन और अनुभावन के व्यापारों से अङ्कुरित किंवा पल्लवित रत्यादि वासनाओं को सम्यग्रूप से पुष्ट बनाया करता है।

विमर्श—काव्य-नाट्य के विभावनादिव्यापार (व्यञ्जकत्व व्यापार) के सम्बन्ध में अभिनव भारती की ये पंक्तियाँ स्मरणीय हैं:-

'तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास एव पाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षधृत्यादिभिर्लौकिकीं कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैर्विभावनानुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणैः, अत एवालौकिकविभावादिव्यपदेशभागिभिः, प्राच्यकारणादिरूपसंस्कारोपजीवनाख्यापनाय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैः... गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वाऽऽसादितवद्भिरलौ-

(विभावादि की कारणता और रसोद्बोध)

विभावादीनां यथासङ्ख्यं कारणकार्य्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते—

कारण-कार्य-सञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः ।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥ १४ ॥

किन्तु निर्विघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थश्चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभावस्तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः।'

(नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती-षष्ठ अध्याय)

अर्थात् काव्य-नाट्य में वर्णित नायक-नायिकादि किंवा चन्द्रोद्यानादि में लौकिक रत्यादि भावों के अनुमापन का सामर्थ्य नहीं। कवि किंवा नाट्यकार के चित्रित जीवन-चित्र तो सहृदय सामाजिकों के हृदय में मानव-हृदय के चिरसञ्चित रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं। इन जीवन-चित्रों में लोक-जीवन ही चित्रित रहा करता है किन्तु इनमें जो आनन्द है और जैसा इसका अनुभव हुआ करता है वह लोक में नहीं और न उसका लोक में वैसा कोई अनुभव है। लोक-जीवन में कार्य-कारण भाव की सीमायें प्रत्येक वस्तु को बांधे रहा करती हैं। किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में कार्य-कारण भाव में भी अलौकिक परिवर्तन हो जाया करता है। काव्य-नाट्य के स्त्री-पुरुष, चन्द्र-चन्द्रिका आदि सहृदय सामाजिकों के हृदय में सर्व-सहृदय-साधारण रत्यादि भावों के अभिव्यञ्जक हुआ करते हैं और इसीलिये काव्य-नाट्य में लोक का कार्य-कारण भाव भाव्य-भावक भाव (व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव) में परिवर्तित हो जाया करता है। काव्य-नाट्य 'भावक' अथवा 'व्यञ्जक' तत्त्व हैं जिसके विश्लेषण में काव्य-नाट्य के विभावनादि व्यापार का विश्लेषण हुआ करता है।

अनुवाद—यहाँ यह बताना आवश्यक है कि जब कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव क्रमशः कारण, कार्य और सहकारि-रूप हुआ करते हैं तब क्योंकर इन्हें रसोद्बोध का 'कारण' कहा गया है—

बात यह है कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों को जो क्रमशः कारण, कार्य और सहकारी कहा जाया करता है वह उनके लौकिक स्वरूप के अभिज्ञान की ही दृष्टि से न कि उनके रसोद्बोधन-सामर्थ्य की दृष्टि से। रसोद्बोध की दृष्टि से तो विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव-तीनों ही वस्तुतः (समस्त-संवलित-रूप से) 'कारण' हुआ करते हैं।

विमर्श—रसोद्बोध में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कारण, कार्य और सहकारी नहीं कहा जाया करते। इन्हें रसोद्बोध में भी कारण, कार्य और सहकारी तब माना जा सकता था जब कि सहृदय सामाजिक रसास्वाद में भी अपने-पराये का भेद-भाव रख सकते। रसास्वाद में अपने-पराये का भेद नहीं और इसलिये काव्य-नाट्य की समस्त वस्तुसम्पत्ति एकमात्र सहृदय हृदय की रत्यादि वासनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये रहा करती है। वस्तुतः तो काव्य अथवा नाट्य को ही भावक अथवा अभिव्यञ्जक कहा करते हैं। जैसे काव्य-नाट्य लोक-जीवन की अलौकिक अभिव्यञ्जना है वैसे ही लोक-जीवन के कारण-कार्य-सहकारी तत्त्व काव्य-नाट्य के अलौकिक विभाव-अ[illegible]-व्यभिचारी-तत्त्व हुआ करते हैं। इन अलौकिक विभावनादि व्यापारों वाले चन्द्रोद्यानादि [illegible]-तत्त्वों को सहृदय सामाजिकों के रसोद्बोधन का 'कारण' कहा

(रसास्वाद में विभावादित्रितय का संवलित अनुभव)

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते—

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः संवलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥ १५ ॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः ।

जा सकता है जिसका अभिप्राय इनका 'अभिव्यञ्जक' होना है और अभिव्यञ्जक होने के ही नाते इनमें कारणता, कार्यता किंवा सहकारिता का विश्लेषण सम्भव नहीं ।

अनुवाद—जब कि रसास्वाद में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव–तीनों का हाथ रहा करता है तब ऐसा क्योंकि इन तीनों का पृथक् २ प्रतिभास न होकर समुदित–संवलित–प्रतिभास हुआ करता है ? इसका विचार किया जा रहा है—

'रसास्वाद के पहले तो सामाजिकजन किसी प्रकार यह जान सकते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का पृथक् २ स्वरूप क्या है और कैसे इन्हें पृथक् पृथक् रूप से रसोद्बोध का कारण माना जा सकता है किन्तु जब कि ये तीनों व्यञ्जना की शक्ति से परस्पर संवलित रूप से प्रतीत होने लगते हैं और एकघन प्रतिभास में परिणत होकर प्रपाणक रस की भाँति एक आनन्दात्मक आस्वाद का रूप धारण कर लेते हैं तब ये विभावादि नहीं अपितु 'रस' बन जाते हैं ।'

तात्पर्य यह है कि जैसे प्रपाणक रस में शक्कर, काली मिर्च, कपूर आदि-आदि के मेल के होने पर भी एक अपूर्व आस्वाद मिला करता है वैसे ही काव्य–रस अथवा नाट्य–रस में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावके संवलन के होने पर भी एक अपूर्व ही आनन्द प्राप्त हुआ करता है ।

विमर्श—पानकादि रस और काव्य अथवा नाट्यरस का बड़ा सुन्दर साधर्म्य–वैधर्म्य आचार्य अभिनवगुप्त की इस उक्ति में प्रदर्शित है—

'अलौकिक एवायं चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहारः ।
क्वान्यत्रेत्थं दृष्टमिति चेद् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ ।
पाणकरसास्वादोऽपि किं गुडमरीचादिषु दृष्ट इति समानमेतत् ।

और इसमें भी—

'एतदुक्तं भवति—पाकरूपया सम्यग्योजनया तावदलौकिको रसो जायते । तत्र च प्रधानत्वेन जलस्य रसाभिव्यञ्जकत्वमिति व्यञ्जनं विभावस्थानीयं, जिह्वाहरिद्राद्यनुभावप्रायम् । द्रव्याणि तु गुडादि, तदीयचुक्रादिरसविलक्षणमधुरादियोगाद् व्यभिचारिकल्पं स्वात्मनि तदुपजीवनेन च परत्र च स्वरसङ्क्रमणया वैचित्र्याधायकत्वात् । अत्र तु स्थायिकल्पस्तन्मिश्रणासमयभावी रसविशेषो विभावकल्पव्यञ्जनजनितो मन्तव्यः । स हि लौकिकः । अयन्तु कुशलैकनिर्वर्त्यस्तद्विदां रसनीयो भवति ।'

(नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती : षष्ठ अध्याय)

अर्थात् जैसे गुड, काली मिर्च आदि-आदि पृथक्-पृथक् वस्तुओं में वह रस नहीं रहा करता जिसे पानक अथवा श्रीखण्ड आदि रस कहा करते हैं वैसे ही पृथक्-पृथक् विभाव, अनुभाव आदि में

(रसोद्बोध में विभावादित्रितय की कारणता का रहस्य)

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते—

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ॥ १६ ॥
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात् । यथा—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः
सङ्क्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावुदग्राङ्गुली
छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः ।।'

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि

वह रस नहीं मिला करता जिसे काव्य अथवा नाटच-रस कहा गया है। गुड़, काली, मिर्च आदि-आदि विविध द्रव्यों से तभी 'रस' निष्पन्न हुआ करता है जब कि इनकी समुचित पाकरूप योजना की गयी हो। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की भी समुचित अभिव्यञ्जन-योजना ही काव्य-नाटच-रस को निष्पन्न कर सकती है। अलग-अलग विभाव अथवा अनुभाव अथवा व्यभिचारीभाव में रस-निष्पादन का सामर्थ्य भले ही हो 'रस' नहीं हुआ करता। रस तो एक अलौकिक आस्वादात्मक अनुभव है और उसी प्रकार विभावादि से विलक्षण अनुभव है जिस प्रकार पानक रस गुड़-मरिच आदि से एक विलक्षण आस्वाद है—

अनुवाद—**यदि सम्मिलित विभावादित्रितय ही रसोद्बोध के निमित्त हैं तब ऐसा क्यों कि कहीं एक अथवा दो की ही उपस्थिति में रसास्वाद मिला करता है ? इसका निरूपण किया जा रहा है—**

'रसोद्बोध तो विभावादित्रितय के संवलन में ही संभव है। वहाँ भी जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों में से केवल दो उपस्थित हों या एक ही उपस्थित हो और रसोद्बोध हो रहा हो तो यही समझा जाना चाहिये कि काव्य-नाटच की व्यञ्जकता शक्ति अन्य अनुपस्थित को भी अविलम्ब प्रकाशित कर रही है और 'विभावादित्रितय और रसोद्बोध' के सिद्धान्त में कहीं कोई त्रुटि नहीं आयी।'

तात्पर्य यह है कि प्रकरण-वैशिष्ट्य आदि-आदि व्यञ्जना-नियामक ऐसे हैं जो अनुपस्थित विभावादि को अभिव्यक्त करने में समर्थ रहा करते हैं। उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र' की यह सूक्ति)

'मालविका का यह शरीर विधाता ने ऐसा बनाया है जैसे उसके नृत्याचार्य के मन की बात जान कर बनाया हो—'आँखें बड़ी-बड़ी, मुँह शरदृतु के चाँद के समान मनोरम, दोनों बाँहें दोनों कन्धों पर झुकी हुईं, दोनों स्तन एक दूसरे से सटे और उभरे हुये, उरःस्थल न बड़ा न छोटा, दोनों बगल मानों चिकने सुडौल बनाये गये हों, कमर पतली मानों मुट्ठी में आ जाय, जघन सुडौल और विशाल, और दोनों पैर ऐसे जिनकी आगे की ओर ऊँची अङ्गुलियां इतनी सुन्दर हैं !'

यहाँ मालविका के प्रेमी अग्निमित्र ने तो अपनी आँखों में उतरने वाले मालविका के

'रस' अनुकार्य (नायकादि-) गत नहीं

सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानाञ्च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेपः। एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम्।

'अनुकार्य्यगतो रसः' इति वदतः प्रत्याह—

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ॥ १७ ॥
अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्‌बोधो न रसो भवेत्।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्‌बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्य-

---

सुन्दर शरीर मात्र का वर्णन किया है जो कि केवल विभावरूप ही वर्णन है किन्तु इसमें अग्निमित्र के नेत्रविस्फार आदि अनुभाव और औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावों के भी आक्षेप करने का सामर्थ्य समा गया है जिससे यहाँ जो रसोद्बोध है वह वस्तुतः विभावादि त्रितय के संवलन में ही है।

इसी प्रकार केवल अनुभाव के वर्णन अथवा केवल व्यभिचारिभाव के वर्णन में अन्य के आक्षेप के उदाहरण काव्य-साहित्य में स्वयं ढूँढे जा सकते हैं।

विमर्श—'विभावादित्रितयसंवलन' से 'रसनिष्पत्ति हुआ करती है (विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः—भरत नाट्यशास्त्र) – यही रसध्वनिवाद का रसविषयक सिद्धान्त है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में व्यस्त रूप से भी साधारणीकरण का सामर्थ्य है और समस्त रूप से भी। विभावादित्रितय में अन्यतरप्राधान्य अथवा द्वयप्राधान्य में भी रसास्वाद अवश्यंभावी है किन्तु जहाँ विभावादित्रितय का समप्राधान्य हो वहाँ रसास्वाद की उत्कृष्टता का कहना ही क्या ? इसीलिये प्रबन्ध काव्य में और प्रबन्ध-काव्य में भी रूपक-प्रबन्धों में रसास्वाद का उत्कर्ष माना गया है—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धिचित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात् (वामनः 'काव्यालङ्कार' सूत्र १-३०-१३)। विभाव-अनुभाव और व्यभिचारिभावों की पृथक् २ योजना यदि असाधारण हो जो कि मुक्तक काव्य के क्षेत्र में स्पष्ट दिखायी देती है, तब भी रसास्वाद अवश्य होगा किन्तु यहाँ भी एक के प्रधान में अन्य का सहकार पड़ा ही दिखायी देगा।

अनुवाद—कुछ लोग इस विचार के हैं कि जिसे 'रस' कहते हैं वह अनुकार्य अथवा रामादि नायक-निष्ठ आनन्दात्मक अनुभव है, न कि सहृदय सामाजिक को इससे कुछ लेना-देना है। किन्तु यह विचार किस प्रकार युक्तियुक्त नहीं इसका निर्देश किया जा रहा है–

'काव्य-नाट्य में वर्णित रामादिनायकों के हृदय में जो रत्यादिभावों का उद्बोध है वह 'रस' नहीं हुआ करता। नायकादिगत रत्यादिभावोद्बोध इसलिये 'रस' नहीं हुआ करता क्योंकि (१) यह सीमित व्यक्तित्व वाले रामादि का, सीतादिविषयक सीमित रत्यादि भावों का अनुभव है (जब कि रस वस्तुतः असीम व्यक्तित्व वाले सहृदय सामाजिक के साधारणीकृत रत्यादि भावों का अनुभव हुआ करता है)। (२) इसमें लौकिकता है (क्योंकि सीतादिविषयक रामादिगत रत्यादि भावों का अनुभव चमत्कारात्मक नहीं अपितु राग-द्वेष-मोहात्मक अनुभव है) और (३) यह रत्यादिभावोद्बोध ऐसा है जिसमें काव्य और नाट्य के श्रवण और दर्शन साधन नहीं। (जब कि रसरूप अनुभव में काव्य-नाट्य का मनन-चिन्तन ही एकमात्र साधन है)।

तात्पर्य यह है कि जब कि जनकराजनन्दिनी सीता आदि के दर्शन आदि से उत्पन्न

काव्यदर्शनादेः सान्तरायश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात्। (क) रसस्यैतद्धर्मत्रितयविलक्षणधर्मकत्वात्।

('रस' अनुकर्तृ (नटादि) गत भी नहीं)

अनुकर्तृगतत्वञ्चास्य निरस्यति—

होने वाला रामादिगत रत्यादिभावोद्‌बोध एक परिमित (वैयक्तिक), लौकिक (चमत्कारशून्य) किंवा काव्य और नाट्य के श्रवण और दर्शन के लिये विघ्नमय अनुभव है तब यह कैसे संभव है कि इसे 'रस' रूप अनुभव कह दिया जाय। 'रस' रूप अनुभव तो वस्तुतः एक ऐसा अनुभव है जो परिमितता, लौकिकता और विघ्नबहुलता की त्रिविध विशेषता से शून्य एक-अपरिमित, अलौकिक किंवा निर्विघ्न अनुभव हुआ करता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने 'रस' के अनुकार्यगत न हो सकने में तीन युक्तियाँ दी हैं:—

(१) अनुकार्यगत रत्यादि भावोद्बोध लौकिक है जब कि काव्य-नाट्य द्वारा उद्भावित रत्यादि भाव अलौकिक हुआ करता है।

(२) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध वैयक्तिक (परिमित) हुआ करता है जब कि काव्य-नाट्य द्वारा अभिव्यक्त रत्यादिभाव 'स्वगतता-परगतता' की समस्त सीमाओं से अतिक्रान्त निर्भरानन्दात्मक संवेदन रूप है।

(३) अनुकार्यगत रत्यादिभावोद्बोध काव्य-नाट्य के श्रवण-दर्शन के प्रतिकूल है क्योंकि उसके लिये लोकजीवन की भोग–सामग्री अपेक्षित है न कि काव्य-नाट्य की वर्णना।

ये उपर्युक्त तीनों युक्तियाँ सर्वथा मान्य किंवा प्राचीन रसवेदी आचार्यों के रसचिन्तन द्वारा अनुप्राणित हैं आचार्य धनिक ने (दशरूपक-चतुर्थ प्रकाश) स्पष्ट कहा है—

'यदि चानुकार्यस्य रामादेः शृङ्गारः स्यात्ततो नाटकादौ तद्दर्शने लौकिके इव नायके शृङ्गारिणि स्वकान्तासंयुक्ते दृश्यमाने शृङ्गारवानयमिति प्रेक्षकाणां प्रतीतिमात्रं भवेन्न रसानां स्वादः, सत्पुरुषाणां च लज्जा, इतरेषां त्वसूयानुरागापहारेच्छादयो प्रसज्येरन्।'

अर्थात् लोकजीवन के राम का सीता के प्रति लौकिक प्रेमोद्रेक 'शृङ्गार रस' नहीं हो सकता। शृङ्गार रस तो रसिक-हृदयवर्ती रतिभावोद्‌बोध को कहा करते हैं जोकि एक निर्भरानन्द–संवेदन है। लोकजीवन के राम के हृदय का रतिभावोद्बोध 'रस' क्योंकर हो जब कि, इसके दर्शकों के लिए, इसकी प्रतीति एक लौकिक प्रतीतिमात्र है और जब कि इससे भिन्न-भिन्न प्रकृति वाले लोगों को भिन्न-भिन्न प्रकार का राग-द्वेष-मोहात्मक लौकिक अनुभव हुआ करता है।

आचार्य धनिक के अनुसार 'रस' को अनुकार्यगत मानना वस्तुतः काव्य नाट्य को निरर्थक बना देना है—

किं च न काव्यं रामादीनां रसोपजननाय कविभिः प्रवर्त्यते, अपि तु सहृदयानानन्दयितुम्।' (दशरूपक ४र्थ प्रकाश)

अर्थात् काव्य–नाट्य की रचना सहृदय सामाजिकों के रसास्वाद के लिए की जाया करती है न कि रामादि नायकों के रसास्वाद के लिये। रामादि नायकों को तो लोक–जीवन का सुख–दुख मिला करता है और जिसे 'रस' कहते हैं वह लोक–जीवन का सुख–दुख नहीं अपितु एक अलौकिक आनन्दानुभव हुआ करता है।

अनुवाद—**इसके विपरीत कुछ लोगों का यह कथन है कि 'रस' अनुकर्ता (अभिनयकर्ता) नटादि का ही अनुभव है (न कि सामाजिक का)। इस सिद्धान्त का निराकरण इस प्रकार निर्दिष्ट किया जा रहा है—**

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ॥ १८ ॥
दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।

किञ्च—

काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम् ॥ १९ ॥

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते ।

'भला उस नट को रसास्वाद क्योंकर मिले जो कि रंग-मंच पर केवल अभिनयकला की शिक्षा, उसके अभ्यास और उसमें कौशल-प्रदर्शन से ही अपने आप को रामादि के रूप में दिखाया करता है? किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रखना चाहिये कि यदि अभिनेता नट के हृदय में भी काव्यार्थभावना अथवा रसना उत्पन्न हो गयी तब उसे, उस अवस्था में, नट नहीं अपितु एक सहृदय सामाजिक कहा जाया करता है ।

तात्पर्य यह है कि रस के अभिनय के कारण नट को रसास्वाद नहीं हुआ करता । नट को यदि रसास्वाद होता है तो काव्यार्थ-भावना अथवा रसना की उत्पत्ति और उसकी प्रक्रिया द्वारा ही होता है । जबकि रामादिनायकों के साथ नट का हृदयसम्वाद संपन्न हो जाय तब नट नट नहीं अपितु रंगमंच का एक सहृदय सामाजिक बन जाया करता है ।

विमर्श—'रस अनुकर्तृ-गत नहीं हो सकता'—यह तो इसी से सिद्ध है कि सहृदय सामाजिकों को, रसानुभव में, 'अनुकार्यानुकर्तृविभाग' की कोई प्रतीति ही नहीं हुआ करती । उसके अतिरिक्त 'रस' को अनुकर्तृ (नट) गत मानना इसलिये भी अनुपपन्न है क्योंकि रामादिगत रत्यादिभाव का अनुकरण असंभव है जैसा कि अभिनवभारतीकार का कथन है—

'न च चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम् (अनुकरणम्) न हि नटो रामसादृश्यं स्वात्मनः शोकं करोति, सर्वथैव तस्य तत्राऽभावात् । भावे वाऽननुकारत्वात् । नचान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात् ।' (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती प्रथम अध्याय)

अर्थात् शोकक्रोधादिरूप चित्तवृत्तियों का क्या अनुकरण? भला नट को वह शोक कहाँ जो राम के शोक के समान हो? यदि राम के हृदय का शोक नट के हृदय का शोक हो जाय तब इसमें अनुकरण कहाँ?

तात्पर्य यह है कि 'अभिनेता' की अवस्था में नट को रसास्वाद नहीं मिला करता । किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि नट सर्वथा रसास्वाद से वंचित रहा करता है । नट को भी 'रस' मिलता है और मिल सकता है किन्तु नट की रसास्वाद-प्रक्रिया वही है जो सामाजिक की हुआ करती है । यदि नट में 'काव्यार्थभावना' है तो उसे भी रसास्वाद मिला करता है जैसा कि आचार्य धनञ्जय और धनिक का कथन है—

'काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते ।
नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते ।' (दशरूपक : चतुर्थ प्रकाश)

अर्थात् नट की अभिनय-कला तो सहृदय सामाजिकों के हृदयानुरञ्जन के लिये है । किन्तु यदि नट में रसिकता का समावेश हो जाय तो सहृदय सामाजिकों की भाँति उसे भी रस मिल जाय ।

('रस' कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं)

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्ययं तथा; प्रतीतिमन्तरेणाभावात् ।

('रस' कार्य (कारणजन्य) रूप वस्तु भी नहीं)

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ॥ २० ॥

तस्मान्न कार्यः—

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात् । ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानकार्य्यज्ञानयोर्युगपददर्शनात् । नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति । रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणत्वमित्यभिप्रायः ।

अनुवाद—'रस' को ज्ञाप्य कहना असंभव है क्योंकि ज्ञाप्य वस्तु का यह स्वभाव है कि अस्तित्व रखते हुए भी कभी वह अज्ञात रह सकती है । रस भला ज्ञाप्य कैसे जबकि उसके सम्बन्ध में यह संभव नहीं कि उसका अस्तित्व तो हो किन्तु उसका अनुभव न हुआ करे ।

अभिप्राय यह है कि जो भी वस्तु ज्ञाप्य वस्तु हुआ करती है जैसे कि घट-पट आदि उसके सम्बन्ध में यही बात दिखायी दिया करती है कि उसके रहने पर भी कभी-कभी उसका ज्ञान (ज्ञान-सामग्री के अभाव में) नहीं हुआ करता । रस ऐसी वस्तु नहीं जो कि रहे किन्तु कभी पता न चले । भला अनुभूति के अतिरिक्त रस की सत्ता कहाँ जिससे उसे घट पटादि की भाँति 'ज्ञाप्य' (ज्ञान द्वारा ग्राह्य) कहा जा सके ?

विमर्श—रस एक **'रस्यमानतैकप्राण'** अनुभव है । रस कोई 'प्रमेय' रूप पदार्थ नहीं जिसकी अपेक्षा विभावादि को प्रमाण अथवा ज्ञापक माना जाय । 'रस' तो रसनात्मक प्रतीति का विषय हो सकता है और यह रसनारूप प्रतीति ऐसी प्रतीति हुआ करती है जिसे प्रमाणव्यापार कहना रसानुभव के विश्लेषण का असामर्थ्य-प्रदर्शन ही है । 'रस' को ज्ञाप्य मान लेने पर तो काव्य-नाट्य की लोक-विलक्षणता ही समाप्त हो जायगी और 'रस' के अधिकारियों में 'सहृदयता' की विशेषता का कोई भी अर्थ न निकलेगा । आचार्य अभिनवगुप्त का इस सम्बन्ध में यही सिद्धान्त है—

'नापि (विभावादयः) ज्ञप्तिहेतवः येन प्रमाणमध्ये पतेयुः सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात् ।' (नाट्यशास्त्र-अभिनवभारती : षष्ठ अध्याय)

अनुवाद—**रस** को कार्य अथवा कारणव्यापारजन्य वस्तु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह तो विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव है (न कि ऐसा जो कि विभावादि ज्ञान द्वारा उत्पन्न किया जाय) ।

तात्पर्य यह है कि यदि 'रस' को कार्य माना जाय तो विभावादि ज्ञान को ही उसका कारण माना जायगा । अब यदि विभावादि ज्ञान रस का कारण हुआ तब तो यही मानना पड़ेगा कि जब रसानुभव हो रहा हो तब विभावादि का अनुभव हो नहीं सकता । क्यों ? इसलिये कि कारण-ज्ञान और कार्य-ज्ञान का एक समय में होना कदापि सम्भव नहीं ।

(रस 'नित्य' वस्तु भी नहीं)

—नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः ।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते(क) ॥ २१ ॥

न खलु नित्यस्य वस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसम्भवः ।

(रस एक अनिर्वचनीय तत्त्व है)

नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयस्वप्रकाशरूपत्वात् ।

ऐसा भला कहाँ कि एक ही समय में चन्दन के स्पर्श का ज्ञान होता रहे और उससे उत्पन्न सुख का भी अनुभव हो जाय ! 'रस' तो एकमात्र विभावादिसमूहालम्बनात्मक संवेदनरूप है । इसलिये विभावादि ज्ञान भला रस का कारण कैसे ?

विमर्श—रस विभावादिरूप कारणसामग्री से उत्पन्न नहीं किया जा सकता—इसके लिये आचार्य अभिनवगुप्त ने एक और युक्ति दी है—

'अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तद्बोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात् (अभिनवभारती : षष्ठ अध्याय)'

अर्थात् रस न तो कार्य है और न विभावादिबोध रस का कारण । यदि विभावादिबोध रस का कारण हो सकता तब विभावादिबोध के नष्ट हो जाने पर भी रस का अनुभव हुआ करता !

विश्वनाथ कविराज ने यहाँ दूसरी युक्ति सोची है जो कि आचार्य अभिनवगुप्त की उपर्युक्त युक्ति का ही एक रूपान्तर है जिसका अभिप्राय काव्यप्रकाश के टीकाकार चण्डीदास के शब्दों में इस प्रकार है—

'कार्यं सुखं स्वकारणैः सह नैकस्यां संविद्यवभासमानं दृष्टम् । एतच्च सुखं विभावादि-संवलितं भासते, तस्मान्न कार्यम् ।'

अर्थात् चन्दनादि और चन्दनादिजन्य सुख एक संवेदन के विषय नहीं । 'रस' रूप सुख ऐसा है जिसे विभावादिबोध का कार्य इसलिये नहीं कहा जा सकता क्योंकि यह विभावादिबोधसंवलित एकघन सुखसंवेदन हुआ करता है ।

अनुवाद—रस को 'नित्य' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि-परामर्श के पहले उसकी प्रतीति ही असम्भव है और जब कि प्रतीति के पहले रस का अस्तित्व ही नहीं तब उसे 'नित्य' मानना भी निरर्थक ही है ।

वस्तुतः यहाँ बात यह है कि जो भी (आकाशादिरूप) नित्यवस्तु है वह ऐसी नहीं हुआ करती कि उस समय तो रहे जब कि उसका अनुभव हो रहा हो और उस समय न रहे जब कि उसका अनुभव न हो रहा हो ।

विमर्श—यहाँ विश्वनाथ कविराज ने रस के 'ब्रह्मास्वादसविध' होने के रहस्य का उद्घाटन किया है । काव्य-नाट्य-भावना अथवा रसना का विषय 'रस' 'रसो वै सः' से एकरूप, एकरस नहीं अपितु उससे भी विलक्षण हुआ करता है । रस 'नित्य' नहीं इसलिये ब्रह्मास्वादरूप नहीं अपि तु 'ब्रह्मास्वादसहोदर' है । यदि 'रस' को नित्य माना जाय तब काव्य-नाट्य अथवा कला की क्या आवश्यकता ? 'रस' नित्य नहीं है इसलिए काव्य-नाट्य की आवश्यकता है जिसमें रस रूप अनुभव की प्राप्ति हो सके । नित्य होने से रस की सत्ता काल-परिच्छेद से अतीत हो जायगी और विभावादि-भावना और रस का सम्बन्ध सदा के लिए नष्ट हो जायगा ।

अनुवाद—वस्तुतः काव्यात्मभूत रस एक अनिर्वचनीय वस्तु है क्योंकि इसके सम्बन्ध

कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि ॥ २२ ॥
विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम्।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम् ॥ २३ ॥
न निर्विकल्पकं ज्ञानं तस्य ग्राहकमिष्यते ।
तथाऽभिलापसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न च ॥ २४ ॥

सविकल्पकसंवेद्यः—

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य तथा ।

में अन्य वस्तुओं की सी कोई भी सम्भावना नहीं हो सकती। जैसे कि इसे यदि कोई भावी वस्तु (काव्य-नाट्य की भावना के बाद होने वाली वस्तु) कहना चाहे तो नहीं कह सकते क्योंकि यह तो काव्यनाट्य-भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वप्रकाशानन्दमय अनुभव है। इसे 'वर्तमान' वस्तु कहना भी अनुपपन्न ही है क्योंकि न तो यह कोई कार्य (जन्य) वस्तु है और न ज्ञाप्य वस्तु। रस का स्वभाव तो कार्य और ज्ञाप्य रूप वस्तुस्वभाव से सर्वथा विलक्षण ही रहा करता है। इसे 'निर्विकल्पक' ज्ञान का विषय भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि सहृदयों का अनुभव यही सिद्ध करता है कि यह विभावादि-परामर्श का विषय बना करता है और इसे आत्यन्तिक सुख-चमत्कार के रूप में संवेद्य देखा जाया करता है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि इसे सविकल्पक ज्ञान का विषय मान लिया जाय। इसे सविकल्पक ज्ञान का भी विषय नहीं कह सकते क्योंकि इसके लिए कोई भी वाचक पद ढूँढ़े नहीं मिलता।

रस को सविकल्प संवेदन का विषय इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि जबकि सविकल्पक संवेदन की विषयभूत वस्तुएँ (जैसे कि घटपटादि) किसी न किसी वाचक शब्द द्वारा संकेतित की जा सकती हैं, रस ऐसा रहा करता है जिसके सम्बन्ध में कोई भी वाचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

विमर्श—'रस न तो नित्य वस्तु है और न भावी और वर्तमान' इस धारणा का यही अभिप्राय है कि 'रस' शब्द-वाच्य नहीं। शब्द की वाचकता उन सभी वस्तुओं से जुड़ी रहा करती है जिन्हें हम अपने बौद्धिक विश्लेषण में परख लेते हैं। 'रस' का बौद्धिक विश्लेषण रस के उद्भावक तत्त्वों का ही विश्लेषण हो सकता है न कि रस के वास्तविक स्वरूप का। 'रस एक अलौकिक स्व-संवेदनसंवेद्य तत्त्व है' इस मान्यता का भी यही आशय है कि रस के सम्बन्ध में समस्त बौद्धिक परिकल्पनायें निरर्थक हैं।

रस की लोकोत्तरता से ही यह सिद्ध है कि रस निर्विकल्पक किंवा सविकल्पक संवेदन का विषय नहीं हो सकता। निर्विकल्पक-संवेदन से रस की संवेद्यता तो इसी से असिद्ध है कि जहाँ निर्विकल्पक संवेदन 'प्रत्यवमर्श' रहित संवेदन हुआ करता है वहाँ रस विभावादि के प्रत्यवमर्श अथवा स्वरूपोल्लेख का विषय है। निर्विकल्पक संवेदन की परिभाषा यह है—**'प्रत्यवमर्शरहितं संवेदनं निर्विकल्पकम्'**। अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान वह ज्ञानप्रकार है जो प्रत्यवमर्श अथवा वस्तुप्रकार के उल्लेख से शून्य हुआ करता है। रस में विभावादि का उल्लेख स्वाभाविक है, इसलिए रस को निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं कहा जा सकता।

'रस निर्विकल्पक संवेदन का विषय नहीं' इसका यह निष्कर्ष भी नहीं निकल सकता कि 'रस

(रस न तो परोक्ष है न प्रत्यक्ष)

——साक्षात्कारतया न च ।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात् ॥ २५ ॥

(अनिर्वचनीयस्वरूप रस का निरूपण प्रकार)

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रुतादृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम् ।

(अनिर्वचनीयस्वरूप रस के अस्तित्व में प्रमाण)

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भाव इत्याह—

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ २६ ॥

चर्वणा आस्वादनम् । तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम् ।

सविकल्पक संवेदन का विषय है'। 'घट-पटादि सविकल्पक संवेदन द्वारा वेद्य हैं। रस रूप वस्तु घटपटादि रूप समस्त सविकल्पक संवेद्य वस्तुओं से विलक्षण वस्तु है'—इस सिद्धान्त की पुष्टि तभी हो सकती है जब कि रस को सविकल्पक-संवेद्य न कहा जाय। साहित्यदर्पणकार ने इसी लिये यहाँ 'रस' की सविकल्पक-संवेद्यता का भी निराकरण किया है।

अनुवाद—'रस' को 'परोक्ष' (अतीन्द्रिय) कहना भी असंभव है क्योंकि यह साक्षात् अनुभवस्वरूप प्रतीत हुआ करता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह 'प्रत्यक्ष' रूप है। रस को 'प्रत्यक्ष' भी नहीं कह सकते क्योंकि यह एक अलौकिक शब्द ज्ञान है, काव्य-नाट्योपस्थापित विभावादिज्ञान द्वारा निष्पन्न अनुभव है।

विमर्श—रस के संबन्ध में परोक्षता किंवा प्रत्यक्षता की कल्पनाओं का अभाव रस की अनिर्वचनीयता का ही साधक है और इसीलिए यहां साहित्यदर्पणकार ने इसकी उद्भावना की है।

अनुवाद—तब यह अदृष्टपूर्व किंवा अश्रुतपूर्व स्वभाव वाला 'रस' क्या है—इसका विचार किया जा रहा है—

'जिसे (काव्यार्थभूत किंवा काव्यात्मभूत) 'रस' कहते हैं वह वस्तुतः एक अलौकिक तत्त्व है और एकमात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा अपने तात्त्विक स्वरूप में पहचाना जाया करता है।'

यदि रस का स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है तब इसके अस्तित्व में प्रमाण क्या है—इसका निर्देश किया जा रहा है—

'रस' के सद्भाव में एक ही प्रमाण है और वह प्रमाण सहृदय सामाजिक की चर्वणा अथवा रसना है। रस के 'रस्यमानतामात्रसार' होने से, 'चर्वणास्वरूप' होने से सहृदयों के आस्वादानुभव के अतिरिक्त और इसमें क्या प्रमाण ?

यहां 'चर्वणा' का अभिप्राय है 'आस्वादन' का और 'आस्वादन' क्या है ? 'आस्वादन है—विभावादि सम्वलित रत्यादिभावों से भावित सहृदय हृदय का आनन्द-चमत्कार, जैसा कि पहले ही (३-२) कहा जा चुका है।

विमर्श—स्वप्रकाशानन्दमय रस के अस्तित्व में रसनारूप प्रतीति के अतिरिक्त और क्या प्रमाण ? जिस वस्तु के सम्बन्ध में कार्यकारणभाव, ज्ञाप्यज्ञापकभाव आदि आदि कल्पनायें

(नाट्यसूत्र निर्दिष्ट 'रसनिष्पत्ति' का रहस्य)

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति लक्षणं कृतमित्युच्यते—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः ।

यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।

असंभव हों, वह तो एक अलौकिक वस्तु होगी। अनिर्वचनीय 'रस' रूप वस्तु का अस्तित्व अनिर्वचनीय चर्वणारूप प्रतीति द्वारा ही प्रमाणित हो सकता है जैसा कि कहा भी गया है—

'चर्वणैव भगवती स्वसंविरस्वरूपादभिन्ने तस्मिन् प्रमाणम्'।

अर्थात् रस वस्तुतः स्वसंवेदनस्वरूप तत्त्व है और इसका अस्तित्व जिससे प्रमाणित है वह 'चर्वणा' है अथवा 'रसना' है। 'चर्वणा' एक अलौकिक प्रतीति है और इसीलिए इसे 'रसब्रह्म' की 'माया' माना गया है।

अनुवाद—**यदि 'रस' इस प्रकार सर्वथा अनिर्वचनीय, कार्य-ज्ञाप्यादि कल्पनोत्तीर्ण तत्त्व है तब भरतमुनि ने क्योंकर यह कहा कि (रत्यादि भावों के साथ) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के संयोग से रसोत्पत्ति हुआ करती है ? इसका समाधान यह है—**

वस्तुतः तो 'रस' निष्पन्न (उत्पन्न) नहीं हुआ करता। विभावादि संयोग से जिसकी निष्पत्ति (उत्पत्ति) हुआ करती है वह 'रस' नहीं अपि तु 'रसना' अथवा 'चर्वणा' है। रस को 'निष्पन्न' कहना उपचारतः ही संभव है क्योंकि रस और रसना (चर्वणा) में जब अभेदारोप कर दिया गया तब चर्वणा की निष्पत्ति का 'रस' पर आरोप स्वयं सिद्ध हो गया और रस की औपचारिक निष्पत्ति में कोई आपत्ति न रही।

यहाँ यह समझना आवश्यक है—वस्तुतः तो चर्वणा को भी निष्पन्न (उत्पन्न) कहना उपचारतः ही संभव है क्योंकि 'रस' और 'चर्वणा' में कोई भेदभाव कहाँ ? जैसे 'रस' में उत्पत्ति की कल्पना नहीं हो सकती वैसे ही 'चर्वणा' में भी। उपचारतः यदि कहा जाय तो 'चर्वणा' को उत्पन्न कहा जा सकता है क्योंकि यह सदा नहीं रहा करती। अब जब कि चर्वणा का यह आविर्भाव-तिरोभाव उसकी औपचारिक उत्पत्ति का निमित्त हो गया तब उससे अभिन्न रस को भी उपचारतः 'उत्पन्न' कहने में अनर्थ क्या हुआ ?

विमर्श—'रस-निष्पत्ति' का अर्थ रस की उत्पत्ति नहीं अपितु यथाकथञ्चित् 'रसना' अथवा चर्वणा की निष्पत्ति अथवा उत्पत्ति है—यह रसनिष्पत्ति-मीमांसा आचार्य अभिनवगुप्त की है जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट है—

'तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम् ? नेत्रं रसस्य अपि तु तद्विषयाया रसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते तन्न कश्चिदत्र दोषः। सा च रसना न प्रमाणव्यापारो न कारकव्यापारः स्वयं तु नाऽप्रामाणिकी स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव, उपायानां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यते ततस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य

(रस एकमात्र 'व्यङ्ग्य' तत्त्व है)

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपणे ॥ २७ ॥

तस्य रसस्य। आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि।

(रस की स्वप्रकाशता किंवा अखण्डता में सन्देह का निर्मूलन)

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाऽखण्डत्वमित्याह—

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत्।
अतोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ॥ २८ ॥

अर्थात् यदि 'रसना' या 'चर्वणा' रूप बोध की निष्पत्ति के अर्थ में 'रस-निष्पत्ति' (**विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**)' समझी जाय तभी रस का स्वरूप ठीक-ठीक समझा जा सकता है अन्यथा नहीं। 'रसना' अथवा 'चर्वणा' भी एक लोकविलक्षण बोध है। यह बोध काव्य-नाट्य अथवा कला द्वारा ही संभव है। 'रस' और 'रसबोध' में भेद-भाव नहीं। 'रस' और 'रसना' एक ही आनन्दात्मक अनुभूति हैं क्योंकि रस 'रस्यमानतामात्रसार' अनुभूति है, कोई रसना-बोध्य विषय नहीं।

अनुवाद—**रस कदापि वाच्य (अभिधाव्यापार का विषय) नहीं-आदि-आदि का निरूपण व्यञ्जनाप्रामाण्य निरूपण के प्रसङ्ग में (पञ्चम परिच्छेद में) किया जा रहा है (जहाँ यह स्पष्ट हो जायगा कि रसरूप काव्यरहस्य एक अनिर्वचनीय अभिव्यङ्ग्य आस्वादानुभव है)।**

यहाँ 'तस्य'-'उसके' का अभिप्राय है 'रस' के अवाच्यत्व (अनभिधेयत्व) आदि का। और अवाच्यत्व आदि का अभिप्राय है अलक्ष्यत्व किंवा अतात्पर्यविषयत्व आदि का।

विमर्श—'रस एकान्ततः अभिव्यङ्ग्य है'—इस सिद्धान्त के स्थापन में आचार्य अभिनवगुप्त की यह युक्ति है -

'रसभावतदाभासतत्प्रशमाः पुनर्न कदाचिदभिधीयन्ते, अथ चास्वाद्यमानप्राणतया भान्ति। तत्र ध्वननव्यापारादृते नास्ति कल्पनान्तरम्। स्खलद्गतित्वाभावे मुख्यार्थबाधादेर्लक्षणानिबन्धनस्यानाशङ्कनीयत्वात्।'.........न चायं रसादिरर्थः 'पुत्रस्ते जातः' इत्ययो यथा हर्षो जायते तथा। नापि लक्षणया। अपि तु सहृदयस्य हृदयसंवादबलाद् विभावानुभावप्रतीतौ तन्मयीभावेनास्वाद्यमान एव रस्यमानतैकप्राणः सिद्धस्वभावसुखादिविलक्षणः परिस्फुरिति।' (ध्वन्यालोक लोचन : १ म उद्योत)

जिसका अभिप्राय यह है रस एकमात्र आस्वादसार काव्य-तत्त्व है। इसका शब्दतः प्रतिपादन असंभव है। काव्य का व्यञ्जना-व्यापार ही रसबोध में एकमात्र समर्थ है। लक्षणा की संभावना यहाँ कहाँ? तात्पर्य वृत्ति का यहाँ क्या प्रयोजन। यहाँ तो सहृदय सामाजिक से सम्बद्ध हृदयसम्वाद, विभावादि परामर्श, तन्मयीभवन और रसनात्मक बोध ही उपायरूप से पड़े प्रतीत होते हैं और ये सब व्यञ्जना (रसना) के ही प्रक्रियाबन्ध हैं।

अनुवाद—**विभावादि समूहालम्बनात्मक रस क्योंकर 'स्वप्रकाश' (आत्मस्वरूपात्मक) किंवा 'अखण्ड' है-इसका निरूपण इस प्रकार है—**

रस की स्वप्रकाशात्मकता और अखण्डता इसलिए सिद्ध है क्योंकि यह विभावादि

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्, न च तथा, तादात्म्याङ्गीकारात्। यदुक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः' इति। 'सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं प्रमोदनिद्रामुपेयाः' इति च। 'अभिन्नोऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन गोचरीकृतः' इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः। तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्।

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते।

तदुक्तम्—

'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।

समूहालम्बनात्मक संवेदन से सर्वथा अभिन्न हुआ करता है। तात्पर्य यह है कि यदि विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव को ज्ञान के अतिरिक्त कोई अन्य तत्त्व माना जाय तभी हो सकता है कि रस को स्वप्रकाशस्वरूप न कहा जाय। किन्तु ऐसी बात कहाँ? विभावादिसमूहालम्बनात्मक अनुभव और प्रकाशशरीर ज्ञान तो एक अभिन्न वस्तु है. जैसा कि कहा गया है—रस और चर्वणा (रसना) में कोई तात्त्विक भेद नहीं। जैसे 'रस' की उत्पत्ति-कल्पना निरर्थक है वैसे ही 'चर्वणा' की भी। किन्तु जैसे 'चर्वणा' में आविर्भाव-तिरोभाव के दर्शन से उपचारतः उत्पत्ति-कल्पना की जा सकती है वैसे ही चर्वणात्मक किंवा सहृदय-हृदय की अनादि वासना के परिणामस्वरूप अभिव्यक्त रत्यादिभाव (रस) में भी उपचारतः 'उत्पत्ति' की कल्पना हो ही सकती है।

जैसे परिणामवाद की दृष्टि से रस को स्वप्रकाश किंवा अखण्ड माना जा सकता है (जैसा कि अभी बताया गया) वैसे ही यदि 'रसध्वनिवाद की भी दृष्टि से, जिसके अनुसार रस चिन्मय किंवा चमत्काररूप है, रस को स्वप्रकाश किंवा अखण्ड कहा जाय तो किसी को कोई आपत्ति होना तो दूर रहे, उलटे सबके लिए एकमात्र निर्द्वन्द्व आनन्द की ही बात है।' तभी तो कहा गया है—

'वैसे तो रस स्वप्रकाशानन्दरूप है किन्तु सहृदय सामाजिक इसे अपने हृदय में जन्मजन्मान्तर से सञ्चित किंवा काव्य-नाट्य की भावकता (व्यञ्जकता) शक्ति से उद्बुद्ध, रत्यादिभाव के रूप में अनुभव किया करते हैं।'

इस प्रकार यह निःसन्दिग्ध है कि रस 'स्वप्रकाश' है। अब रसध्वनितत्त्वदर्शी काव्याचार्यों का उन लोगों (जैसे कि नैयायिकों) से क्या झगड़ा जो कि ज्ञान को 'स्वप्रकाश' ही नहीं मानते? ऐसे लोगों को ठीक करना तो वेदान्ताचार्यों का काम है। 'रस' और विभावादिसमूहालम्बनात्मकज्ञान में जब कोई भेदभाव नहीं तब तो रस की अखण्डता स्वयं ही सिद्ध है। भले ही काव्य-नाट्य-भावना के प्रारम्भ में विभावादि पृथक्-पृथक् प्रतीत हों, जैसा कि हुआ ही करते हैं, किन्तु इन्हें 'रस' तभी कहा करते हैं जब कि ये एक समूहालम्बन रूप से अभिव्यक्त होकर चिच्चमत्कारमय हो जाया करते हैं। इसीलिए कहा गया है—

'क्या विभाव, क्या अनुभाव और क्या सात्त्विक किंवा व्यभिचारीभाव-सभी पहले

प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥' इति ।
'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः' इति च ।

(विभावादि वर्ग में विभावरूपतत्त्व : स्वरूपनिर्देश)

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमाह—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः ।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव

(अर्थात् काव्य–नाट्य–भावना के प्रारम्भ में) अपने-अपने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रतीत हुआ करते हैं । किन्तु 'रस' रूप में परिणत होते ही इनकी भिन्नता समाप्त हो जाया करती है और सब मिलकर एक अखण्ड आनन्दात्मक अनुभव के रूप में परिणत हो जाते हैं ।' अथवा जैसे वेदान्तदर्शन के अनुसार, घटपटादि रूप से भिन्नतया अवभासित भी ब्रह्मतत्त्व वस्तुतः एक अखण्ड सच्चिदानन्द रूप ही रहा करता है वैसे ही काव्य-दर्शन के अनुसार, विभावादि रूप से खण्डशः प्रतीयमान भी रसतत्त्व परमार्थतः एक अभिन्न अखण्डरूप ही आस्वादानुभाव है ।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने यहां रस की स्वप्रकाशता और अखण्डता की जो सिद्धि की है उसने पण्डितराज जगन्नाथ की रस-मीमांसा को पर्याप्तरूप से प्रभावित किया है । रस की अभिव्यक्ति का अभिप्राय चाहे सहृदय सामाजिक के हृदय में, विभावादि परामर्श से, अलौकिक आनन्दानुभव रूप में परिणत अनादि रत्यादिभाव माना जाय या 'स्थाय्युपहित चैतन्य' समझा जाय, इतना निःसंदिग्ध है कि रसरूप अनुभव एक अखण्ड किंवा स्वप्रकाशानन्दमय रूप ही अनुभव है । यहां साहित्यदर्पणकार ने काश्मीरिक प्रत्यभिज्ञादर्शन की पृष्ठभूमि पर 'रस' का दर्शन न कर सांख्य और वेदान्त की भूमिका पर 'रस' निरूपण किया है । इस निरूपण के ही आधार पर रस के संबन्ध में कालान्तर में ये धारणायें बनती आयी हैं—

(१) 'विभावादिसंवलितरत्यवच्छिन्नचिदानन्दावरणभङ्गात् प्रकाशमानानन्दचिद्विषयो विभावादि संवलितः स्थायी रत्यादिको रसः ।'

(२) 'तादृशस्थाय्युपहितचैतन्यमेव रसः । 'रसो वै सः' इति श्रुतेः ।'

(३) 'तादृशविभावादिसंवलितस्थाय्युपहितचिदानन्दाकारावृत्तिः रसः ।'

(ख) 'ज्ञान स्वप्रकाश है'—इसकी सिद्धि इस प्रकार की जाया करती है—

'ज्ञानमस्तीति विज्ञानं स्वात्मानं साधयेन्न वा ।
पूर्वत्र स्वप्रकाशत्वं सर्वासिद्धिरतोऽन्यथा ॥' (न्यायसिद्धाञ्जनः बुद्धिपरिच्छेद)

अर्थात् यदि ज्ञान के अस्तित्व की सिद्धि ज्ञान द्वारा ही संभव है क्योंकि यहां और कोई उपाय नहीं तब तो यही स्वतःसिद्ध है कि ज्ञान स्वप्रकाश है ज्ञान यदि स्वप्रकाश नहीं तो किसी भी वस्तु का अस्तित्व कदापि प्रमाणित नहीं हो सकता ।

अनुवाद—**जिनकी भावना से रसानुभव संभव है वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भावरूप काव्य–नाट्य–तत्त्व क्या हैं—इसकी जिज्ञासा अब स्वभावतः जाग सकती है, इसलिए यहां सर्वप्रथम 'विभाव' का स्वरूप निर्दिष्ट किया जा रहा है—**

'लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं वे ही काव्य नाट्य में निविष्ट होने पर 'विभाव' कहे जाया करते हैं ।'

तात्पर्य यह है कि लोक–जीवन के रामादि पुरुषों के हृदय में रति-हास-शोकादि भावों

काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः 'विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥' इति।

के उद्बोधन के जो सीतादिरूप कारण है, वे ही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर, 'विभाव' कहे जाया करते हैं। काव्य-नाट्य-समर्पित सीतादि को इसलिए 'विभाव' कहा करते हैं क्योंकि 'इन्हीं के द्वारा सहृदय सामाजिकों की अनादि रत्यादि वासना रस रूप में अङ्कुरित होने में समर्थ बनायी जाया करती है।' आचार्य भर्तृहरि की यह सूक्ति काव्य-नाट्य-निविष्ट सीतादिरूप विभावतत्व की भी वस्तु-सत्ता को प्रमाणित करती प्रतीत हो रही है—

'शब्द द्वारा उपनिबद्ध और इसीलिए शब्द-बोध के विषयभूत कंस-कृष्ण आदि-आदि परोक्ष पदार्थों का भी वध्य-घातकरूप में साक्षात्कार किया करना लोगों के लिये स्वाभाविक है (क्योंकि भावकचित्त में विराजमान वस्तुयें बौद्धिक भले ही हों अवास्तविक कदापि नहीं)।'

विमर्श—'लोकगत राम-सीतादि की वास्तविकता तो निःसंदिग्ध है ही किन्तु काव्य-नाट्य-गत राम-सीतादिरूप विभावतत्व की वस्तु-सत्ता भी सिद्ध ही है। कवि और नाटककार राम-सीतादि रूप विभावतत्त्व की जो भी शब्दमय रूपरेखा बनाया करते हैं उसमें यह सामर्थ्य रहा करता है कि वह देश और काल के आधार के बिना ही राम-सीतादि रूप पदार्थों को सामाजिक-चित्त में उपस्थित कर दे। ऐसा करने से ही, इन बौद्धिक पदार्थों के साक्षात्कार के कारण ही, सामाजिक हृदय इनमें तन्मयता की साधना करने लग जाता है और रसास्वाद की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है'—साहित्यदर्पणकार की यह विभाव-समीक्षा दशरूपककार की इस उक्ति का अवलम्बन लेकर चल रही है—

'अमीषां चानपेक्षितबाह्यसत्त्वानां शब्दोपधीनादेवासादिततद्भावानां सामान्यात्मनां स्वस्वसम्बन्धित्वेन विभावितानां साक्षाद्भावकचेतसि विपरिवर्तमानानामालम्बनादिभाव इति न वस्तुशून्यता। तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥' इति

षट्साहस्रीकृताप्युक्तम्—
'एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।' इति। (दशरूपक ४ र्थ प्रकाश)

जिसका अभिप्राय यह है—प्रतिदिन के व्यावहारिक जगत की वस्तुयें अपने-अपने प्रतिनियत स्वभाव में नियन्त्रित रहा करती हैं। काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हीं वस्तुओं का ऐसा रूपान्तर हो जाया करता है जिससे इनकी व्यक्तिगत विशेषतायें लुप्त हो जाया करती हैं, इनका सामान्य स्वभाव स्फूर्तिमान् हो उठता है और सामाजिकमात्र की भावना इन्हें वास्तविक बना दिया करती है। भावकचित्त की भूमि में विचरणशील इन वस्तुओं से ही रस की निष्पत्ति संभव है न कि इनके लोकगत स्वरूप से।

नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विभाव' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'विभाव इति कस्मादुच्यते? विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञात-मित्यनर्थान्तरम्। अत्र श्लोकः—

(विभाव के दो भेद)

तद्भेदावाह—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

स्पष्टम्। तत्र—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्॥ ॥ २९ ॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः। अथ यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः॥' (नाट्यशास्त्र : सप्तमाध्याय)

जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां 'विभाव' चतुर्विध अभिनय की आधारशिला के रूप में प्रतिपादित किया हुआ है। 'अभिनय का समस्त रहस्य जिसके जानने से जाना जा सकता है वह 'विभाव' है।' यह विभाव-मीमांसा रस-चर्वणा के साधनरूप में बाद के नाट्याचार्यों ने स्वीकृत की है। दशरूपककार ने इसीलिये कहा है—

'ननु च सामाजिकाश्रयेषु रसेषु को विभावः कथञ्च सीतादीनां विभावत्वेनाविरोधः? उच्यते—

धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते॥

न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासवदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि? सर्वलोकसाधारणस्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति।' (दशरूपक : ४ र्थ प्रकाश)

अर्थात् काव्य-नाट्य के क्षेत्र में जनकतनयादि विशेषताओं से शून्य, वस्तुतः साधारणीकृत, सीतादि को 'विभाव' कहा करते हैं। ऐसा इसलिये क्योंकि इसी से सामाजिक हृदय में रत्यादि वासनायें स्फुरित हुआ करती हैं।

नाट्यदर्पणकार की भी यही विभाव-दृष्टि है—

'वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति, आविर्भावनाविशेषेण प्रयोजयन्ति इत्यालम्बनोद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः। (नाट्यदर्पण : ३ य विवेक)

अनुवाद—'विभाव' के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'विभाव के दो भेद हुआ करते हैं—(१) आलम्बनरूप विभाव और (२) उद्दीपनरूप विभाव। यहाँ जो तात्पर्य है वह स्वयं स्पष्ट है। इन दोनों विभाव-भेदों में 'आलम्बन विभाव' का अभिप्राय तो काव्य-नाट्य-वर्णित नायकादि का है। काव्य-नाट्य-वर्णित नायकादि को इसलिये 'आलम्बन विभाव' कहा करते हैं क्योंकि इन्हीं के सहारे, इन्हीं के साथ, साधारणीकरण होने के कारण, सामाजिकों के हृदय में 'रस' का सञ्चार हुआ करता है।

यहाँ 'नायकादि' का अभिप्राय नायक के अतिरिक्त नायिका, उपनायिका आदि-आदि का है क्योंकि इनके सहारे भी, साधारणीकरण होने पर सामाजिकों को रसास्वाद मिला करता है। अब जिस-जिस रस का जो-जो 'उद्दीपन विभाव' है उसका निरूपण, यहाँ नहीं अपितु, उस-उस रस के प्रसंग में किया ही जायगा।

('नायक' का स्वरूप-निरूपण)

तत्र नायकः—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ३० ॥

दक्षः क्षिप्रकारी। शीलं सद्वृतम्। एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति।

(नायक के भेदोपभेद)

तद्भेदानाह—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम्।

अनुवाद—आलम्बनविभावरूप 'नायक' कौन है ?

'नायक' वह है जो त्याग-भावना से भरा हो, महान् कार्यों का कर्ता हो, कुल का महान् हो, बुद्धि-वैभव से सम्पन्न हो, रूप-यौवन और उत्साह की सम्पदाओं से सम्पन्न हो, निरन्तर उद्योगशील रहने वाला हो, जनता का स्नेहभाजन हो और तेजस्विता, चतुरता किंवा सुशीलता का निदर्शक हो।

यहाँ (त्यागी आदि कारिका में) 'दक्ष' पद का प्रयोग 'क्षिप्रकारी' अथवा 'कार्य-सम्पादन में सतत जागरूक' अर्थ में है, 'शील' शब्द का अर्थ 'सद्वृत्त' अथवा 'सदाचार' का है। यहाँ अभिप्राय यही है कि जिस व्यक्ति में त्याग आदि गुणों का सर्वतोभद्र सद्भाव हो वही (काव्य-नाट्य में) 'नायक' अथवा नेता (सहृदय सामाजिक को कवि किंवा नाटककार के आदर्शों की ओर ले जाने वाला) हुआ करता है।

(काव्य-नाट्य के) इस 'नायक' के भी कई भेद हुआ करते हैं जैसे कि—

'सर्वप्रथम' 'नायक' के ये चार भेद हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरोद्धत, (३) धीर-ललित और (४) धीरप्रशान्त।

यहाँ जो अभिप्राय है वह स्पष्ट है।

विमर्श—भरत नाट्यशास्त्र के अनुसार स्त्री-पुरुषों की प्रकृति त्रिविध बतायी गयी है और काव्य-नाट्य में वर्णित उत्तम तथा मध्यम प्रकृति के पुरुषों को. धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त और धीरप्रशान्त-इन चार प्रकार के नायकों के रूप में निर्दिष्ट किया गया है :—

'समासतस्तु प्रकृतिस्त्रिविधा परिकीर्तिता।
पुरुषाणामथ स्त्रीणामुत्तमाधममध्यमा॥
....।
मध्यमोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः॥
धीरोद्धता धीरललिता धीरोदात्तास्तथैव च।
धीरप्रशान्तकाश्चैव नायकाः परिकीर्तिताः॥
देवा धीरोद्धता ज्ञेया ललितास्तु नृपाः स्मृताः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणाः वणिजस्तथा। (नाट्यशास्त्र : अध्याय २४)

('धीरोदात्त' नायक कौन है ?)

तत्र धीरोदात्तः—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ ३२ ॥

नाट्यशास्त्र की यही मर्यादा 'नाट्यदर्पण' की इन पंक्तियों में सुरक्षित दिखाई देती है—

'उद्धतोदात्त-ललित-शान्ता धीरविशेषणाः ।
वर्ण्याः स्वभावाश्चत्वारो नेतॄणां मध्यमोत्तमाः ॥

धीरो धैर्य महाव्यसनेऽप्यकातर्यं विशेषणं येषां उद्धतादीनां, धीरोद्धत-धीरोदात्त-धीर-ललित-धीरप्रशान्ता इत्यर्थः । एवं नाम कविर्वर्णयति । जन्मोत्थितास्तु स्वभावा नेतॄणां यथा तथा वा सन्तु । नेतॄणामिति बहुवचनात् प्रायेणैकस्मिन् धर्मिण्येकैकः स्वभावः क्वचिदेव तु चत्वारः । मध्यमोत्तमा इति । यद्यपि स्वस्थाने सर्वमपि उत्तम मध्यमाधम भेदेन त्रिधा, तथापि धीरोद्धतत्वादयः स्वभावा उत्तम-मध्यम भेदेनैव वर्णनीया इति ।'

(नाट्यदर्पण : नाटकनिर्णय : प्रकरण)

अर्थात् अधमप्रकृति के पुरुषों अथवा स्त्रियों को तो नायक अथवा नायिकारूप में ग्रहण नहीं किया जा सकता । जो उत्तम और मध्यम-प्रकृति के लोग हैं उन्हें ही कवि अथवा नाटककार नायक-रूप में प्रधान नाटकीय चरित-चित्रण का विषय बनाया करता है । नायक की सबसे बड़ी विशेषता है—'धैर्य' अर्थात् महासंकट में भी अकातरता । उदात्तता, उद्धतता, ललितता और शान्तता—यह स्वभाव-चातुर्विध्य पृथक्-पृथक् रूप से नायक में वर्णित हुआ करता है । यह भी संभव है कि एक नायक में भी यह स्वभाव-चातुर्विध्य विराजमान रहे किन्तु ऐसा वर्णन सामान्य नियम नहीं अपितु एक अपवाद है ।

नायक के चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में यह दृष्टि कालान्तर में संभवतः कुछ बदल गयी । दशरूपककार के युग में यह दृष्टि-परिवर्तन प्रारम्भ हो गया ऐसा प्रतीत होता है जैसा कि दशरूपक की इस नायक-समीक्षा से स्पष्ट है—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः ।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः ॥
भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम् ।

(दशरूपक : प्रकाश-२)

उपर्युक्त नायक-निरूपण में नाट्याचार्यों का दृष्टि-परिवर्तन इसलिये दिखायी देता है क्योंकि यहाँ 'धैर्य' की विशेषता का, उद्धतादि स्वभाव-चतुष्टय के साथ समन्वय करने के बदले, धीरोद्धतादि की पारिभाषिकता पर ही ध्यान रखा गया है । विश्वनाथ कविराज भी इसी दृष्टि-परिवर्तन से प्रभावित हैं ।

अनुवाद—इन चतुर्विध नायकों में 'धीरोदात्त' नायक वह है जिसे—

'आत्मश्लाघा की भावनाओं से रहित, क्षमाशील, अति गम्भीर, दुःख-सुख में प्रकृतिस्थ, स्वभावतः स्थिर और स्वाभिमानी किन्तु विनीत कहा गया है ।'

अविकत्थनोऽनात्मश्लाघाकरः। महासत्त्वो हर्षशोकाद्यनभिभूतस्वभावः। निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः। दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः। यथा—रामयुधिष्ठिरादिः।

('धीरोद्धत' नायक की विशेषता)

अथ धीरोद्धतः—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः॥ ३२॥

यथा भीमसेनादिः।

('धीरललित' नायक का स्वभाव)

अथ धीरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

यहां 'अविकत्थन' का अभिप्राय है विकत्थना अथवा आत्मश्लाघा से रहित का। 'महासत्त्व' का तात्पर्य है सुख दुःख के आक्रमणों में अडिग रहने वाले का। 'निगूढमान' का अर्थ है अपनी विनीतता से अपने अहंकार पर विजयी बननेवाले का और 'दृढव्रत' कहते हैं अंगीकृत कार्यों के अन्त तक करते रहने वाले को उदाहरण के लिए राम, युधिष्ठिर आदि महापुरुष लिए जा सकते हैं।

विमर्श—दशरूपककार की निम्न धीरोदात्त-मीमांसा, जिसने साहित्यदर्पणकार को प्रभावित किया है, यहाँ ध्यान देने योग्य है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहंकारो धीरोदात्तो दृढव्रतः॥

महासत्त्वः शोकक्रोधाद्यनभिभूतान्तःसत्त्व। अविकत्थनः अनात्मश्लाघनः। निगूढाहंकारः विनयच्छन्नावलेपः। दृढव्रतः अंगीकृतनिर्वाहकः। (दशरूपक : २ प्रकाश)

अनुवाद—'धीरोद्धत' नायक वह है :—

'जो कि मायापटु हो, उग्र स्वभाव वाला हो, स्थिर प्रकृति का न हो, अहंकार और दर्प से भरा हो, और जिसे नाट्यकोविद आत्मश्लाघा में निरत कहा करते हैं।'

उदाहरण के लिये, भीमसेन आदि लिये जा सकते हैं।

विमर्श—'धीरोद्धत' नायक का यही स्वरूप दशरूपक में भी निर्दिष्ट है—

'दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥

दर्पः = शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् = असहनता, मन्त्रबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया, छद्म=वञ्चनामात्रम्, चलः=अनवस्थितः, चण्डः = रौद्रः, विकत्थनः = स्वगुणशंसी, धीरोद्धतो भवति। यथा जामदग्न्यः—'कैलासोद्धारसारत्रिभुवनविजय' इत्यादि। यथा च रावणः—'त्रैलोक्यैश्वर्यलक्ष्मीहठहरणसहा बाहवो रावणस्य' इत्यादि।

(दशरूपक-२ य प्रकाश)

अनुवाद—'धीरललित' नायक वह है :—

'जो कि निश्चिन्त रहने वाला हो, स्वभाव का मृदु हो और कलाव्यसनी हो।'

(१—शृङ्गार-प्रबन्ध के नायक-प्रकार : 'दक्षिण' नायक)

एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः ॥ ३५ ॥

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः ।

यथा—

स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-
    र्द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
    देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

'अथ शृङ्गारनेत्रवस्थाः—

स दक्षिणः शठो धृष्टः पूर्वां प्रत्यन्यया हृतः । नायकप्रकरणात् पूर्वां नायिकां प्रत्यन्ययाऽपूर्वनायिकयाऽपहृतचित्तस्त्र्यवस्थो वक्ष्यमाण (अनुकूलरूप) भेदेन चतुरवस्थः । तदेवं पूर्वोक्तानां चतुर्णां प्रत्येकं चतुरवस्थत्वेन षोडशधा नायकः ।' (दशरूपक : २ य प्रकाश)

तात्पर्य यह है कि शृङ्गार के अतिरिक्त अन्य रस-प्रबन्धों में तो धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित किंवा धीरप्रशान्त—ये चार प्रकार के ही नायक पाये जाते हैं किन्तु शृङ्गार-प्रबन्ध में, उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार के नायकों के भी दक्षिण, शठ, धृष्ट और अनुकूल रूप से चार-चार भेद वर्णित किये गये हैं जिससे, शृङ्गार-प्रबन्ध की दृष्टि से, 'नायक' के सोलह प्रकार सिद्ध हैं ।

अनुवाद—शृङ्गार-प्रबन्ध की दृष्टि से निरूपित उपर्युक्त चतुर्विध नायकों में 'दक्षिण' नायक वह है जिसे एक से अधिक रमणी-जन के साथ समान अनुराग रखने वाला कहा गया है ।

यहाँ 'अनेकमहिलासु समानुरागः' का अभिप्राय 'दो या तीन या चार या इससे भी अधिक नायिकाओं के प्रति समान प्रेम रखने वाले 'दक्षिण' नायक का है । उदाहरण के लिये निम्न नायक चित्रण—

'(प्रतीहारी की किसी के प्रति उक्ति—) जबकि मैंने अन्तःपुर की सुन्दरियों का समाचार पाकर महाराज से निवेदन किया—'महाराज ! कुन्तल की राजकुमारी तो स्नान से निवृत्त हुई प्रतीक्षा कर रही है, आज का दिन वैसे अंगराज की बहिन से मिलने का है, साथ ही कमला से द्यूत-क्रीडा में पहले ही आप आज की रात हार चुके हैं और महारानी को भी तो आज आपको मनाना है' तो महाराज निश्चय न कर सके कि क्या करें और दो-तीन घड़ी चुपचाप पड़े रहे ।

विमर्श—यहां यह स्पष्ट है कि जिस नायक का चित्र खींचा गया है वह 'दक्षिण' नायक ही है । एक से अधिक प्रेमिकाओं से समान रूप से प्रेम करने वाला ही व्यक्ति 'किस प्रेमिका से मिलें'—इस उधेड़-बुन में पड़ा दिखाई दे सकता है, दूसरा नहीं ।

किन्तु साहित्यदर्पणकार की यह 'दक्षिण' नायक परिभाषा दशरूपक की परिभाषा से भिन्न है । दशरूपककार के अनुसार 'दक्षिण' नायक का यह लक्षण है—

'**दक्षिणोऽस्यां सहृदयः—**

योऽस्यां ज्येष्ठायां हृदयेन सह व्यवहरति स दक्षिणः ।' (दशरूपक : २ य प्रकाश)

अर्थात् 'दक्षिण' नायक वह है जो कि प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम रखा करता है ।

(२—'धृष्ट' नायक)

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ॥ ३६ ॥

यथा मम—

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः
पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि ।
किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे !
ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ॥

(३—'अनुकूल' नायक)

अनुकूल एकनिरतः—

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः ।

संभवतः प्रधान नायिका के प्रति हार्दिक प्रेम-भावना के संकेत से अप्रधान नायिकाओं के प्रति प्रेम-भावना का निष्कर्ष साहित्यदर्पणकार ने निकाला है और 'दक्षिण' नायक की उपर्युक्त परिभाषा की है ।

अनुवाद—'धृष्ट' नायक वह है जो कि प्रेम में अपराधी होने पर भी, अपनी प्रेमिका के कोप की चिन्ता नहीं करता, प्रेमिका की झिड़कियाँ खाने पर भी लज्जित नहीं होता और स्पष्टतया अपने दोषों के प्रकट हो जाने पर भी झूठ बोलकर उन्हें छिपाने को ही तैयार रहा करता है ।

जैसे कि यह स्वचित्रित नायक-चित्रण—'(किसी प्रेमी की अपने मित्र के प्रति उक्ति)—'मेरे मित्र ! मैं जब उस सुन्दरी का मुंह (क्रोध से) लाल देखते, उसे चुम्बन करने, उसके पास चला तो उसने लात चला दी । जब उसने लात चला दी तो मैंने उसकी लात पकड़ ली और मैं हंस पड़ा । जब वह इसका कोई प्रतीकार न कर सकी और आँसू बहाने लगी तो क्या बताऊँ, बस इतना ही कह सकता हूँ कि उस सुन्दरी के उस कोप की स्मृति रह रह कर मन में एक विचित्र आनन्द-कौतुक पैदा किया करती है ।'

विमर्श—साहित्यदर्पणकार का यह 'धृष्ट'-लक्षण दशरूपककार के इस 'धृष्ट-लक्षण' अर्थात्—

'व्यक्ताङ्गवैकृतो धृष्टः—

यथाऽमरुशतके—

लाक्षालक्ष्म ललाटपट्टमभितः केयूरमुद्रा गले
वक्त्रे कज्जलकालिमा नयनयोस्ताम्बूलरागोऽपरः ।
दृष्ट्वा कोपविधायि मण्डनमिदं प्रातश्चिरं प्रेयसो
लीलातामरसोदरे मृगदृशः श्वासाः समाप्तिं गताः ॥'

इत्यादि का ही एक व्याख्यानरूप है ।

अनुवाद—'अनुकूल' नायक वह है जो कि एक नायिका के प्रेम में पगा रहा करता है । अभिप्राय यह है कि एक प्रेमिका के प्रति आसक्ति रखने वाला ही व्यक्ति 'अनुकूल' नायक कहा जा सकता है ।

यथा—

अस्माकं सखि ! वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः ।
किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वमियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

(३—'शठ' नायक)

—शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः ।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥ ३७ ॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां बद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्बहिर्दर्शितानुरागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः ।

यथा—

'शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।

जैसे कि यह नायक-चित्रण—

(किसी सुन्दरी की अपनी सखी के प्रति उक्ति)—'अरी सखी ! मेरे कपड़े भी सुन्दर नहीं, गले का गहना भी साफ नहीं, चाल में भी अठखलियाँ नहीं, हँसी में भी कोई विचित्रता नहीं और न किसी प्रकार की कोई मस्ती ही है किन्तु तब भी जब कि लोग यह कहते सुनते दिखाई देते हैं कि सुन्दर भी मेरा प्रेमी मुझे छोड़ और किसी सुन्दरी पर आँख तक नहीं उठाता, तब तो मुझे ऐसा ही लगता है जैसे मुझे छोड़ सारा संसार ही दुःख में डूबा है ।'

विमर्श—दशरूपककार ने 'अनुकूल' नायक को 'एकनायिक' अर्थात् 'एकप्रेमिकानुरक्त' कहा है । साहित्यदर्पणकार का 'अनुकूल'-नायक-लक्षण वस्तुतः यही अभिप्राय रखता है । 'अनुकूल' नायक का अत्यन्त सुन्दर भावचित्र महाकवि भवभूति की इन पंक्तियों में खिंचा है—

'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितम्
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥'

(उत्तररामचरित : अङ्क ४)

अनुवाद—'शठ' नायक वह है जो कि वस्तुतः तो किसी दूसरी नायिका से प्रेम करे और अपनी पहली प्रेमिका से बाहरी प्रेम जताकर, छिपे छिपे उसका अनिष्ट किया करे ।

तात्पर्य यह है कि 'शठ' नायक का प्रेम-सम्बन्ध दो नायिकाओं से होना चाहिये । असली प्रेम-सम्बन्ध एक से और नकली दूसरी से । बाहर से तो इस प्रकार का नायक दोनों प्रेमिकाओं पर समान प्रेम दिखाया करता है किन्तु एक को हृदय से चाहने के कारण दूसरी का छिपकर अप्रिय करना ही इसका स्वभाव है । उदाहरण के लिये, यह नायक-चित्रण—

'(नायिका की सखी की नायक के प्रति उक्ति)—अरे शठ ! तेरी कौन चलावे तू तो मेरी सखी का आलिङ्गन करते हुये भी, अपनी प्रेयसी की करधनी की झंकार

तदेतत्काचच्चे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥'

(उपर्युक्त नायक-भेद-परिगणन)

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ।
उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च ॥ ३८ ॥

एषामुक्तषोडशभेदानाम् ।

('नायक' के सहायक)

अथ प्रसङ्गादेतेषां सहायानाह—

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।
किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ॥ ३९ ॥

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसंगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायकसामान्यगुणैः किञ्चिदूनः पीठमर्दनामा सहायो भवति । यथा—रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः ।

सुनते ही, सहसा अपने हाथों को ढीला कर लेते हो ! और मेरी सखी ऐसी है जो कि तुम्हारी, बाहर से चिकनी-चुपड़ी किंतु भीतर से विष में बुझी, बातों में आकर प्रसन्नता से नाचती हुई उन्हें कुछ समझती ही नहीं ।'

विमर्श—यहाँ 'शठ' नायक का जैसा वर्णन है उसमें इस प्रकार के नायक के प्रेमी व्यक्तित्व की पूर्ण अभिव्यञ्जना है । प्राचीन राजगण के अन्तःपुर की लीलाओं और प्राचीन जनसमाज के प्रेम-जीवन की विशेषताओं के विश्लेषण के ही आधार पर नाट्याचार्यों ने उपर्युक्त चतुर्विध शृंगारी नायकों का श्रेणी-विभाग और स्वरूप-विवेक किया है जिसमें कोई कल्पना नहीं अपितु एकमात्र वास्तविकता की ही झलक है ।

अनुवाद—इन उपर्युक्त नायकों में प्रत्येक के उत्तम, मध्यम और अधम रूप होने से, सब मिलाकर ४८ प्रकार के नायक गिनाये गये हैं ।

यह 'एषाम्' 'इनके'—का अभिप्राय है उपर्युक्त १६ प्रकार के नायकों का क्योंकि तभी प्रत्येक के उत्तम-मध्यम-अधम रूप होने से ४८ नायक-भेद समझे-समझाये जा सकते हैं ।

'नायक'-निरूपण के प्रसङ्ग में उसके सहायकों का भी निरूपण आवश्यक है । इसलिये यहां नायक के सहायकों का निर्देश किया जा रहा है—

'जहाँ नायक का प्रासङ्गिक इतिवृत्त दूर तक चला करता है वहां उसका एक 'सहायक' भी चित्रित किया जाया करता है जो कि नायक की अपेक्षा न्यूनगुण का हुआ करता है । इस नायक-सहायक को 'पीठमर्द' कहा करते हैं ।'

यहां तात्पर्य यह है—काव्य अथवा नाट्य में आधिकारिक और प्रासङ्गिक दो प्रकार के इतिवृत्त रहा करते हैं । प्रासङ्गिक इतिवृत्त बड़ा भी हो सकता है और छोटा भी । यदि प्रासङ्गिक वृत्त बड़ा हुआ तो नायक के साथ उसका सहायक भी अपेक्षित है । यह नायक का सहायक उपर्युक्त त्यागादि नायक-गुणों से युक्त तो अवश्य रहा करता है किन्तु नायक की अपेक्षा इसे न्यून-गुण का ही चित्रित किया जाया करता है । इसीलिये इसे 'पीठमर्द'

(शृङ्गारी नायक के सहायक)

अथ शृङ्गारसहायाः—

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः ।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः ॥४०॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

('विट' कौन है ?)

तत्र विटः—

संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्त्तः कलैकदेशज्ञः ।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥४१॥

अर्थात् 'नायक के साथ उठने-बैठने वाला' कहा गया है। उदाहरण के लिये, काव्य अथवा नाट्य में, रामचन्द्र आदि नायकों के साथ जो सुग्रीव आदि चित्रित हैं वे सहायक अथवा 'पीठमर्द्द' के ही रूप में चित्रित हैं।

विमर्श—साहित्यदर्पणकार ने जिसे 'नायक-सहायक' अथवा 'पीठमर्द' निर्दिष्ट किया है वही 'दशरूपक' में 'पताकानायक' बताया गया है—

'पताकानायकस्त्वन्य पीठमर्दो विचक्षणः ।
तस्यैवानुचरो भक्तः किञ्चिदूनश्च तद्गुणैः ॥' (दशरूपक, २. ८)

बात वस्तुतः एक ही है। पताका का अभिप्राय प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त का अभिप्राय है। प्रासङ्गिक वृत्त भी नायक के आधिकारिक वृत्त का ही निष्कर्ष है। इस प्रकार प्रासङ्गिक व्यापक वृत्त में जो नायक का 'सहायक' अथवा 'पताकानायक' हुआ करता है उसे ही 'पीठमर्द' कहते हैं।

अनुवाद—शृङ्गार-प्रबन्ध के नायकों के सहायक और प्रकार के हुआ करते हैं और यहाँ उनका निर्देश किया जा रहा है—

'विट, चेट, विदूषक आदि-आदि वे 'सहायक' हैं जो कि शृङ्गारी नायक के सहायक हुआ करते हैं। ये सहायक स्वामिभक्त हुआ करते हैं, नर्मनिपुण हुआ करते हैं, मानिनी नायिका के मनाने में चतुर हुआ करते हैं और साथ ही साथ सच्चरित्र हुआ करते हैं।

यहाँ ('विटचेटविदूषकाद्याः' में) आदि शब्द से माली, धोबी, तमोली, गन्धी आदि-आदि को भी 'सहायक' रूप में माना गया है।

शृङ्गारी नायक के सहायकों में 'विट' वह है—'जो कि वैषयिक सुख-भोग में अपनी धन-सम्पत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो, कतिपय कलाओं में निपुण हो, वेशोपचारचतुर हो, बातचीत में कुशल हो, स्वभाव का मधुर हो और जिसकी गोष्ठी में पूछ हो।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'विट' का स्वरूप-निर्देश यह है—

वेश्योपचारकुशलो मधुरो दक्षिणः कविः ।
ऊहापोहक्षमो वाग्मी चतुरश्च विटो भवेत् ॥ (नाट्यशास्त्र ३५.५५)

यहां यह स्पष्ट है कि 'विट' के लिये 'संभोगहीनसंपत' होना आवश्यक नहीं। साहित्यदर्पणकार ने 'विट' को 'संभोगहीनसंपत' इसीलिये कहा है क्योंकि विना ऐसा हुये वह शृङ्गारी नायक का सहायक क्योंकर होने लगा!

('चेट' कौन है ?)

चेटः प्रसिद्ध एव ।

('विदूषक'-लक्षण)

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकर्मज्ञः ॥ ४२ ॥

स्वकर्म हास्यादि ।

(नायक के अर्थ-सहायक)

अर्थचिन्तने सहायमाह—

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायां—

अर्थास्तन्त्रावापाद्यः ।

यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे—'मन्त्री स्वं चोभयं वापि सखा तस्यार्थचिन्तने' इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम्; न तु सहायकथनप्रकरणे ।

अनुवाद—'चेट' कौन है इसे तो सभी लोग जानते हैं ।

विमर्श—'चेट' की परिभाषा नाट्यशास्त्र में यह है—

'कलहप्रियो बहुकथो विरूपो गन्धसेवकः ।
मान्यामान्यविशेषज्ञश्चेटोऽप्येवंविधः स्मृतः ॥' (नाट्यशास्त्र ३५. ५८)

अनुवाद—'विदूषक' वह हुआ करता है जिसका नाम किसी फूल अथवा वसन्त आदि पर रखा जाया करता है, जिसमें अपने कर्म अपने शरीर, अपनी वेश-भूषा और अपनी बोल-चाल आदि के द्वारा औरों को हँसाने की क्षमता रहा करती है, जिसे दूसरों से झगड़ने में आनन्द मिला करता है और जो कि अपने विदूषण-कार्य में कुशल हुआ करता है ।

यहां 'स्वकर्म'-'अपने कर्म' का अभिप्राय हास-परिहास आदि 'विदूषण,-हँसोड़पन के कार्यों का है ।

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'विदूषक' का यह चित्र खींचा गया है—

'वामनो दन्तुरः कुब्जो द्विजिह्वो विकृताननः ।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥' (नाट्यशास्त्र, ३५. ५७)

जिसमें विदूषक-सम्बन्धी शारीरिक, वाचिक किं वा मानसिक क्रियाओं का समावेश स्पष्ट प्रतीत होता है । संस्कृत के नाटकों में शृङ्गारी नायक के उपर्युक्त सहायकों का यत्र-तत्र चित्रण किया हुआ है । उदाहरण के लिये, कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में विदूषक' शूद्रक के मृच्छकटिक में 'विट', भवभूति के मालतीमाधव में 'चेट' शृङ्गार-सहायक के रूप में ही उपस्थित किये गये हैं ।

अनुवाद—नायक के अर्थ-चिन्तन में जो सहायक हुआ करता है उसे 'मन्त्री' कहा करते हैं ।

यहां 'अर्थ' का अभिप्राय तन्त्र=स्वराष्ट्रसम्बन्धी कृत्य और आवाप=परराष्ट्र सम्बन्धी व्यवहार का है ।

शृङ्गारी नायक के अर्थ-सहायक का निरूपण करते हुये किसी ने (दशरूपककार ने) जो यह कहा है कि 'नायक के अर्थचिन्तन में स्वयं राजा अथवा केवल मन्त्री अथवा राजा

'नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्।

यदप्युक्तम्—'मन्त्रिणां ललितः शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः' इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेर्गतार्थम्। न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयमेव संपादकः; तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात्।

(नायक के अन्तःपुर के सहायक)

अथान्तःपुरसहायाः—

—तद्वदवरोधे।

और मन्त्री दोनों (सखा) 'सहायक' हुआ करते हैं, वह वस्तुतः राजा के अर्थ-चिन्तन के उपाय-निरूपण के प्रसङ्ग में कहा जाना चाहिये था न कि (नायक के) सहायक के निरूपण-प्रसङ्ग में। (क्योंकि स्वयं राजा अपने अर्थ चिन्तन का 'सहायक' क्योंकर होने लगा! स्वयं भला कोई क्योंकर अपना सहायक हो जाय!) यहां यदि यह कहा जाय कि 'तस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' (सखा) का अभिप्राय 'उस (राजा) के अर्थ-चिन्तन में मन्त्री सहायक है'—यह हुआ करता है तब भी 'तस्य' पद निरर्थक हो जाता है क्योंकि पहले ही जब कि 'स्वं' (राजा) का निर्देश हो चुका है तब 'तस्य' अर्थात् 'नायक' का अभिप्राय तो अर्थ द्वारा ही आक्षिप्त हो जायगा, शब्दतः इसके उत्पादन की क्या आवश्यकता? (तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त नायक-सहायक-लक्षण में या तो 'स्वयम्' पद निरर्थक है या वस्तुतः यह लक्षण नायक के अर्थ चिन्तन के सहायक (सखा) का नहीं अपितु उसके अर्थ-चिन्तन के उपाय (सखा) का है।)

इसके अतिरिक्त जो किसी का (दशरूपककार का ही) यह कथन है कि 'धीरललित नायक तो 'मन्त्र्यायत्तसिद्धि' हुआ करता है और अन्य नायक 'उभयायत्तसिद्धि' हैं' वह भी निरर्थक ही है क्योंकि जब कि 'धीरललित' नायक का लक्षण ही यह है कि वह 'निश्चिन्त' ('सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहित'-दशरूपक २. ३) हुआ करता है, तब पुनः 'धीरललित' को 'सचिवायत्तसिद्धि' (दशरूपक २. ४३) कहना अथवा उसके सहायक के रूप में 'सचिवादि' का निर्देश किस काम का? 'धीरललित' नायक तो सदा अर्थ-चिन्तन से निश्चिन्त रहा करता है, उसके लिये 'मन्त्री' को अर्थ-चिन्तन का एक मात्र सम्पादक कहा जा सकता है न कि सहायक।

विमर्श—यहां साहित्यदर्पणकार ने दशरूपककार की जो आलोचना की है वह वस्तुतः युक्तियुक्त है। नाट्यशास्त्रकारों के सामने नायकरूप में राजगण ही विशेषतया आते हैं। प्राचीन राजतन्त्र की गतिविधि का अवलोकन करते हुये नाट्यशास्त्रकारों ने नायक के धर्मसहायक, अर्थसहायक, कामसहायक आदि-आदि का लक्षण-निरूपक्षण किया है। नाट्यशास्त्र में 'धीरललित' नायक की कल्पना राजशास्त्र में 'सचिवायत्तसिद्धि' राजगण की कल्पना पर अवलम्बित है। शृङ्गाररस का एक प्रकार का अभिव्यञ्जन 'धीरललित' नायक के चरित-चित्रण के आधार पर किया गया है। इस नायकचरित में 'राज्य चिन्ता से निश्चिन्तता' की विशेषता स्वाभाविक है। इस दृष्टि से यहां विश्वनाथ कविराज ने जो आलोचना की है वह सर्वथा संगत है।

अनुवाद—अब नायक के अन्तःपुर (रनवास) के जो 'सहायक' हुआ करते हैं उनका निर्देश किया जा रहा है—

वामनपण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः ॥ ४३ ॥
मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ ४४ ॥

आद्यशब्दान्मूकादयः । तत्र षण्ढवामनकिरातकुब्जादयो यथा रत्नावल्याम्-

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्यत्रपा-
मन्तःकञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।
पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥

शकारो मृच्छकटिकादिषु प्रसिद्धः । अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः ।

(नायक के दण्ड-सहायक)

अथ दण्डसहायाः—

जैसे नायक के अर्थ-सहायक हुआ करते हैं वैसे ही उसके काम-सहायक भी हुआ करते हैं जो कि 'अन्तःपुर-सहायक' कहे जाया करते हैं। ये अन्तःपुर सहायक वामन [बौने], पण्ड [जनखे], किरात [नीच जाति के], म्लेच्छ [जंगली], आभीर [अहिर] शकार; कुब्ज [कुबड़े] आदि-आदि माने गये हैं। इनमें 'शकार' वह है जो शराबी हो, मूर्ख हो, घमण्डी हो, नीच कुल का हो, धन-संपन्न हो और राजा की अनूढा प्रेमिका का भाई हो जिसे, सब लोग 'श्यालक' [साला] कह कर पुकारा करें।

यहां 'शकारकुब्जाद्याः' में 'आदि' शब्द का प्रयोग इसीलिये किया गया है जिसमें शकार और कुब्ज के अतिरिक्त मूक [गूंगे] आदि का भी अन्तःपुर-सहायकों में परिगणन किया जाय।

उदाहरण के लिये, जनखे, बौने, कुबड़े आदि का 'रत्नावली' में यह चित्रण—

'ये रहे जनखे लोग, जो कि पुरुषों में न गिने जाने से, निर्लज्ज होकर खिसक पड़े; ये रहे बौने, जो कि डर के मारे कञ्चुकियों के अंगरखों के भीतर घुस पड़े, ये रहे किरात, जो कि इधर उधर कोने-कूचों में घुसे अपने नाम को सार्थक कर रहे हैं और ये कुबड़े ! ये तो लोगों की आंख बचाने के लिये चुपके से दुबकते कहीं और निकल पड़े।'

वस्तुतः नायक के अन्तःपुर-सहायकों का ही चित्रण है।

इसी प्रकार 'मृच्छकटिक' आदि में 'शकार' का चित्रण भी नायक के अन्तःपुर-परिवार का ही चित्रण है। म्लेच्छ, आभीर आदि-आदि अन्तःपुर-सहायक जिस नाटक में हों, वहाँ स्वयं पहचान लिये जा सकते हैं।

विमर्श—नाट्याचार्यों के अनुसार नायक के 'परिच्छेद'-परिवार का चित्रण आवश्यक है। विट, चेट, विदूषक आदि प्राचीन भारतीय राजदरबारों में 'राजपरिच्छद' रूप में रहते आये हैं। नाटककार इस 'राज-परिच्छद' को उद्दीपन-विभाव के रूप में चित्रित करते रहे हैं। नाट्यवेदी आचार्य इसलिये इस 'राज-परिच्छद' की परिभाषा करते आये हैं। साहित्यदर्पणकार के युग में इस 'राज-परिच्छद' की परम्परा अक्षुण्ण रही है। इसीलिये साहित्यदर्पणकार ने इसका यहाँ निरूपण किया है।

अनुवाद—अब नायक के दण्ड-सहायकों का निरूपण किया जा रहा है—

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।

दुष्टनिग्रहो दण्डः । स्पष्टम् ।

(नायक के धर्म-सहायक)

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा ।

(उपर्युक्त सहायकों में उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था)

अत्र च—

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः—

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः ।

—मध्यौ विटविदूषकौ ।

तथा शकारचेटाद्या अधमा परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥

आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः ।

मित्र, राजकुमार, आटविक, सामन्त (करद राजगण) सैनिक आदि-आदि नायक के दण्ड-सहायक हुआ करते हैं ।

यहाँ 'दण्ड' का अभिप्राय 'दुष्टनिग्रह'–'दुष्टों के दमन' का है । मित्र, राजकुमार आदि का स्वरूप-निर्देश आवश्यक नहीं क्योंकि इसे सभी जानते हैं ।

विमर्श—दशरूपककार ने 'नायक' के दण्ड-सहायकों का यही निरूपण किया है—

'सुहृत्कुमाराटविकाः दण्डे सामन्तसैनिकाः ।' (दशरूपक २. ४४)

अनुवाद—इसी प्रकार नायक के धर्म-सहायक हुआ करते हैं । इन धर्म-सहायकों में याज्ञिक, पुरोहित, वेदवित् (अथवा आत्मतत्त्ववित्) और तपस्वी लोग हुआ करते हैं ।

यहाँ 'ब्रह्मविदः' का अभिप्राय 'वेद के जानने वालों' अथवा 'आत्मतत्त्व के जानने वालों' का है ।

इन उपर्युक्त नायक-सहायकों में 'उत्तम' वे हैं जिन्हें 'पीठमर्द' आदि कहा गया है ।

यहाँ 'पीठमर्दाद्याः' में आदि शब्द से मन्त्री, पुरोहित आदि का ग्रहण किया जाना चाहिये । जिन्हें 'मध्यम' माना जाया करता है उनमें 'विट' और 'विदूषक' का स्थान है । और शकार, चेट आदि 'अधम'–सहायक कहे जाते हैं ।

यहाँ 'शकारचेटाद्याः' में आदि शब्द से 'ताम्बूलिक' (पान देने वाले) और 'गान्धिक' (इत्र देने वाले) आदि-आदि का ग्रहण किया जाता है ।

विमर्श—दशरूपककार ने भी नायक के सहायकों में यही उत्तमाधम-मध्यम-व्यवस्था निर्दिष्ट की है—

'ज्येष्ठमध्याधमत्वेन सर्वेषां च त्रिरूपता ।
तारतम्याद् यथोक्तानां गुणानां चोत्तमादिता ॥'

एवं प्रागुक्तानां नायक-नायिका-दूत-दूती-मन्त्रि-पुरोहितादीनामुत्तममध्यमाधमभावेन त्रिरूपता, उत्तमादिभावश्च न गुणसंख्योपचयापचयादिभावेन किं तर्हि गुणातिशयतारतम्येन ।' (दशरूपक २.४५)

(नायक के दूत)

अथ प्रसङ्गाद्दूतानां विभागगर्भलक्षणमाह—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः।
कार्यप्रेष्यस्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः॥ ४७॥

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम्।

(दूत-भेद-निरूपण)

तत्र—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम्।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः॥ ४८॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धकारी मितार्थकः।
यावद्भाषितसंदेशहारः संदेशहारकः॥ ४९॥

अनुवाद—नायक के सहायक-निरूपण के प्रसङ्ग में 'दूत' और उसके स्वरूप और प्रकार का निरूपण यहाँ किया जा रहा है (क्योंकि 'दूत' भी नायक का सहायक हुआ करता है)—

'दूत' उसे कहते हैं जिसे विविध कार्यों के लिये जहाँ-तहाँ भेजा जाया करता है। 'दूत' तीन प्रकार के होते हैं—(१) निसृष्टार्थ, (२) मितार्थ और (३) संदेशहारक। 'दूत' की भाँति दूतियां भी हुआ करती हैं।

यहाँ 'दूत' का लक्षण 'निसृष्टार्थ' आदि नहीं अपितु केवल 'कार्यप्रेष्य' है क्योंकि 'निसृष्टार्थ' आदि दूत के भेद हैं।

नायक के दूतों में 'निसृष्टार्थ' दूत वह है—'जो कि दोनों के मन की बात जानकर स्वयं ही सभी प्रश्नों का समाधान किया करता है और जो भी कार्य हो उसे समीचीन तया सम्पादित कर सकता है।'

यहाँ उभयोः'-'दोनों' का अभिप्राय है—उसके जिसका वह दूत हो और उसके भी जिसके पास वह दूत-कर्म से भेजा गया हो।

'मितार्थ' दूत वह हुआ करता है जो कि बात थोड़ी करे किन्तु जिस कार्य के लिये भेजा गया हो उसे अवश्य सिद्ध कर आये। तीसरे प्रकार का दूत अर्थात् 'संदेश-हारक' दूत उसे कहते हैं जो कि उतनी ही बात करे जितनी उसे बतायी गयी हो।

विमर्श—नाट्य-शास्त्र में भी 'दूत' और 'दूती' का प्रसंग आता है किन्तु वहाँ काव्य-नाट्य में उपनिबद्ध अथवा उपनिबन्धन-योग्य 'दूत' और 'दूती' का निरूपण है। यहाँ साहित्यदर्पणकार ने राजशास्त्र में प्रतिपादित दूत-स्वरूप का विवेचन किया है। संस्कृत के काव्य-नाट्य-साहित्य में दूत और दूती का यत्र-तत्र चित्रण किया मिलता है। इस चित्रण के आधार पर नाट्य-शास्त्रकारों अथवा अलंकार-शास्त्रकारों ने दूत और दूती के स्वरूप का निर्धारण किया है। काव्य नाट्य में उपनिबद्ध दूत और दूती के कार्य राजशास्त्र में निर्दिष्ट दूत कर्म की ही भाँति हैं। इसलिये साहित्यदर्पणकार का यह दूत-निरूपण संगत है न कि असंगत।

(नायक के सात्त्विक गुण)

अथ सात्त्विकनायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ ५० ॥

(१—शोभा)

तत्र—

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता ।
नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः ॥ ५१ ॥

तत्रानुरागिता यथा—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥

एवमन्यदपि ।

(२—विलास)

अथ विलासः—

अनुवाद—अब नायक के सात्त्विक गुणों का निरूपण किया जा रहा है—

नायक के वे पौरुष गुण जिन्हें 'सात्त्विक' गुण कहा करते हैं आठ हैं, जसे कि—

(१) शोभा, (२) विलास, (३) माधुर्य (४) गाम्भीर्य, (५) धैर्य (६) तेज, (७) ललित और (८) औदार्य ।

इन सात्त्विक गुणों में नायक के व्यक्तित्व की 'शोभा' का अभिप्राय है—उस विशेषता का जिसके कारण वह वीरता, कुशलता सत्यवादिता, सत्यारक्षण, महान् उत्साह, अनुरागिता और छोटों पर दया किंवा बड़ों के साथ प्रतिस्पर्द्धा प्रकाशित किया करता है ।

उदाहरण के लिये 'अनुरागिता' के भाव की जननी 'शोभा' का यह प्रकाशन (रघुवंश : अजवर्णन)—

'जिसके सम्बन्ध में प्रकृति-वर्ग में प्रत्येक यही सोचता रहा कि वही महाराज (अज) का सबसे बड़ा स्नेहभाजन है और जिसका किसी के प्रति भी कोई अनादर भाव उसी प्रकार न दिखाई पड़ा जिस प्रकार सरित्पति (समुद्र) का अनादर किसी भी छोटी-बड़ी नदी के साथ कदापि नहीं दिखाई दिया करता ।'

इसी भाँति शूरता, दक्षता आदि गुणों की आविष्कार-भूमि 'शोभा' के उदाहरण स्वयं ढूंढ़े जा सकते हैं ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'शोभा' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'दाक्ष्यं शौर्यमथोत्साहो नीचार्थेषु जुगुप्सनम् ।
उत्तमैश्च गुणैःस्पर्धा यतः शोभेति सा स्मृता ॥'

(नाट्यशास्त्र २४.३२)

जिसके अनुसार 'शोभा' को दक्षता' शूरता आदि सभी पौरुष गुणों की जननी के रूप में देखा जा सकता है ।

अनुवाद—'विलास' का अभिप्राय है—

धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः ।

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम् ।
कौमारकेऽपि गिरिवद्गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव ॥

(३—माधुर्य)

संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

(४—गाम्भीर्य)

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता ।

नायक की उस सात्त्विक विशेषता का, जिसके कारण उसकी दृष्टि में धीरता, चाल में विचित्रता और बोलचाल में मन्दहास की छटा छिटका करती है।

जैसे कि (उत्तररामचरित में कुश के 'विलास' का चित्रण)—

'ओह! क्या यही कुमार कुश है—इसकी दृष्टि ऐसी, जिसके आगे त्रिभुवन का उत्साह-संचय तिनके की भांति नगण्य है, इसकी चाल की मस्ती ऐसी, जिससे पृथिवी नीचे झुक रही है और इसकी कुमारावस्था की गंभीरता ऐसी, जो पर्वत की गंभीरता की बराबरी कर रही है। ओह! यह तो ऐसा लगता है मानो साक्षात् वीररस अथवा मूर्तिमान् 'अभिमान चल-फिर रहा हो।'

विमर्श—'विलास' की परिभाषा नाट्यशास्त्र में इस प्रकार है—

'स्थिरसञ्चारिणी दृष्टिर्गतिर्गोवृषभाञ्चिता ।
स्मितपूर्वं तथा वाचो विलास इति कीर्तितः ॥ (नाट्यशास्त्र २४-३३)

अनुवाद—'माधुर्य' कहते हैं मनःक्षोभ के कारणों के रहते हुये भी मन की सुस्थता और शान्ति को।

इसका उदाहरण यत्र तत्र स्वयं देखा जा सकता है।

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि ने 'माधुर्य' का यह अभिप्राय प्रकाशित किया है—

'अभ्यासात् करणानां तु श्लिष्टत्वं यत्र जायते ।
महत्स्वपि विकारेषु तन्माधुर्यमिति स्मृतम् ॥ (नाट्यशास्त्र २४. ३४)

'माधुर्य' की अभिव्यक्ति महाकवि भवभूति के इस राम चित्रण में स्पष्ट है—

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरं गण्डोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ् शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥'

अनुवाद—'गाम्भीर्य' उस सात्त्विक पौरुष-गुण का नाम है जिसे भय, शोक, क्रोध, हर्ष आदि २ भावावेशों में आकृति की निर्विकारता कहा करते हैं।

यथा—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

(५—धैर्य)

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि ॥ ५३ ॥

यथा—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

(६-तेज, ७-ललित और ८-औदार्य)

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥
वाग्वेशयोर्मधुरता, तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम्।
दानं सप्रियभाषणमौदार्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥ ५५ ॥

उदाहरण के लिये (राम के) 'गाम्भीर्य' का यह अभिव्यञ्जन—

'राम को राज्याभिषेक के लिये बुलाया गया और वनवास के लिये भी भेजा गया किन्तु न तो पहले ही उनकी आकृति में कोई विकार दिखाई पड़ा और न बाद में ही।'

विमर्श—भरतमुनि ने 'गाम्भीर्य' की यह परिभाषा की है—

'यस्य प्रभावादाकारा रोषहर्षभयादिषु।
भावेषु नोपलभ्यन्ते गाम्भीर्यमिति शंसितम् ॥ (नाट्यशास्त्र २४. ३६)

अनुवाद—'धैर्य' वह सात्त्विक गुण है जिसे बड़े बड़े विघ्नों के पड़ने पर भी, 'कर्त्तव्य-निश्चय से विचलित न होना' कहा करते हैं।

उदाहरण के लिये (कुमारसंभव में महाकवि कालिदास द्वारा चित्रित महादेव धैर्य-चित्रण)—

'अप्सराओं के मादक संगीत सुनते हुये भी महादेव समाधि लगाये बैठे रहे। जो धैर्य के धनी हों, उनकी समाधि, भला विघ्नों से क्योंकर टूटने लगी?'

विमर्श—नाट्यशास्त्र में 'धैर्य' को 'स्थैर्य' कहा गया है जिसका लक्षण यह है—

'धर्मार्थकामसंयुक्ताच्छुभाशुभसमुत्थिताम्।
व्यवसायादचलनं स्थैर्यमित्यभिधीयते ॥' (नाट्यशास्त्र २४. ३५)

यहाँ यह स्पष्ट है कि 'कर्त्तव्यनिश्चय से विचलित न होना' ही धैर्य अथवा स्थैर्य का स्वरूप है।

अनुवाद—'तेज' वह सात्त्विक पौरुष गुण है जिसे किसी दूसरे के द्वारा किये गये 'आक्षेप अथवा अपमान का, प्राण-संकट पड़ने पर भी, सहन न करना' कहा गया है। 'ललित' वह नायक-गुण है जिसे बोल-चाल, वेश-भूषा किंवा प्रेम-लीला में 'माधुर्य' कहा गया है। और 'औदार्य' उस नायक-गुण का नाम है जिसे प्रियभाषणपूर्वक दान किंवा शत्रु और मित्र के प्रति समदर्शिता का व्यवहार कहा जाया करता है।

एषामुदाहरणान्यूह्यानि ।

(नायिका-निरूपण)

अथ नायिका त्रिभेदा स्वान्या साधारणा स्त्रीति ।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥ ५६ ॥

नायिका हि पुनर्नायकसामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्यथासम्भवैर्युक्ता भवति । सा च स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्रीति त्रिविधा ।

इन गुणों के उदाहरण [काव्य-नाट्य-साहित्य में] स्वयं ढूँढे जा सकते हैं।

विमर्श (क)—नाट्यशास्त्र में तेज, ललित और औदार्य की यह परिभाषा दी गयी है—

तेज—अधिक्षेपावमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत् ।
प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने नाट्यशास्त्र के ही लक्षण को उद्धृत कर दिया है।

ललित—अबुद्धिपूर्वकं यत्तु सुकुमारस्वभावजम् ।
शृङ्गाराकारचेष्टत्वं ललितं तत्र प्रकीर्तितम् ॥

औदार्य—दानमभ्युपपत्तिश्च तथा च प्रियभाषणम् ।
स्वजने वा परे वापि तदौदार्यमिति स्मृतम् ॥

(नाट्यशास्त्र २४, ३०, ३७, ३८)

(ख) भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में शोभा आदि का जो निरूपण है वह 'सात्त्विक-अभिनय' के प्रसंग में है। सात्त्विक अभिनय के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यही अभिनय-प्रकार सर्वश्रेष्ठ अभिनय हुआ करता है—'सत्त्वातिरिक्तोऽभिनयो ज्येष्ठ इत्यभिधीयते।' (नाट्यशास्त्र २२ : २)। अभिनवभारतीकार आचार्य अभिनवगुप्त ने इसीलिये कहा है—

'सात्त्विकाभावे हि अभिनयक्रिया नामापि नोन्मीलति। अभिनयनं हि चित्तवृत्तिसाधारणतापत्तिप्राणसाक्षात्कारकल्पाध्यवसायसंपादनम् , अत एवोक्तं—'सत्त्वे नाट्यं प्रतिष्ठितमि'ति—(अभिनवभारती, भाग ३, पृष्ठ १५०, बड़ौदा संस्करण)

अर्थात् जिसे 'अभिनय' कहते हैं वह तो वस्तुतः सात्त्विक अभिनय ही है न कि आङ्गिक अथवा वाचिक अथवा आहार्य। 'नट अभिनय करता है'—इसका अर्थ यही है कि नट की चित्तवृत्ति रामादिनायकों की चित्तवृत्ति से एकरस-एकरूप हो चुकी है और उसके कार्यकलाप के दर्शन करने वालों को रामादि नायकों के कार्यकलाप का दर्शन हो रहा है।

सात्त्विक अभिनय के निरूपण में स्त्रीगत और पुरुषगत सत्त्वभेदों का निरूपण स्वाभाविक है। स्त्रीगत सत्त्वभेद तो हाव-भाव-हेला आदि को कहा गया है और पुरुषगत सत्त्वभेद, शोभा-विलास-माधुर्य आदि को। ये सभी सात्त्विक गुण स्त्री और पुरुष के शरीर-विकार से सम्बन्ध रखते हैं।

अनुवाद—'नायिका' तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) स्वीया, (२) अन्या (अथवा परकीया) और (३) सामान्या।

रस के आलम्बन रूप से काव्य-नाट्य में उपस्थापित 'नायिका' में भी 'नायक' के ही त्याग, आर्जव आदि सामान्यगुण यथासंभव उपनिबद्ध किये जाया करते हैं। 'नायिका' के स्वस्त्री [स्वीया], अन्यस्त्री [परकीया] और साधारणस्त्री [सामान्या]—ये तीन भेद पाये जाते हैं।

(स्वीया नायिका-निरूपण)

तत्र स्वस्त्री—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।

यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइँ परभत्तिणिप्पिवासाइं ।
अविणअदुम्मेधाइं धण्णाण घरे कलत्ताइं ॥

(लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि ।
अविनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥)

(स्वीया नायिका : भेद-निर्देश)

साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति ॥ ५७ ॥

(१—मुग्धानायिका)

तत्र—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।

अनुवाद—इन नायिकाओं में 'स्वस्त्री' अथवा 'स्वीया' नायिका का यह स्वरूप है—

वह स्त्री, जिसमें नम्रता और सरलता आदि गुण रहा करते हैं, जो गृहकर्म में तत्पर रहा करती है और पतिव्रता हुआ करती है, 'स्वीया' नायिका मानी जाया करती है ।

उदाहरण के लिये निम्न सूक्ति में जो नायिका-चित्रण है वह स्वीया-चित्रण है—

'कुछ विरले ही ऐसे भाग्यशाली लोग हुआ करते हैं जिनकी पत्नियाँ' अपनी स्त्रीसुलभ लज्जा को ही अपना एकमात्र अलङ्कार माना करती हैं, अपने हृदय में दूसरी स्त्रियों के पतियों के प्रेम की प्यास नहीं रखा करतीं और अपने व्यवहार में किसी प्रकार के भी अविनय [अनाचार] का किञ्चिन्मात्र भी परिचय नहीं दिया करतीं ।'

विमर्श—संस्कृत काव्य-साहित्य में नायिका-चित्रण पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। अलङ्कारिकों ने कवियों और नाटककारों द्वारा चित्रित नायिकाओं के स्वरूप और प्रकार का विशद विवेचन किया है। काव्य-साहित्य में 'स्वीया' नायिका का चित्रण वर्णाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा के अनुसार किया गया है। 'स्वीया'-चित्र में रतिभाव की बड़ी मर्मस्पर्शी किंवा मधुर अभिव्यक्ति हुई है। 'स्वीया'-चित्र का उद्देश्य रसास्वाद के साथ-साथ सरसोपदेश है। प्रेम की नानाप्रकार की झाँकियाँ स्वीया-नायिका के स्वरूपोन्मीलन में दिखायी देती हैं।

स्वीया-वर्णन यदि कवियों और नाटककारों की आदर्शवादिता का संकेत करता है तो परकीया किंवा सामान्या नायिकाओं का वर्णन उनकी यथार्थवादिता का पर्याप्त प्रमाण है। आदर्श किंवा यथार्थ की प्रवृत्तियाँ संस्कृत काव्य-साहित्य में परस्पर विरुद्ध नहीं अपि तु एक दूसरे की पूरक मानी गयी हैं। तभी तो कहा गया है—

'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्त्तते ॥'

अनुवाद—स्वीया नायिका भी तीन प्रकार की हुआ करती है—(१) मुग्धा, (२) मध्या और (३) प्रगल्भा ।

अनुवाद—इन स्वीया नायिकाओं में, वह नायिका 'मुग्धा' मानी जाया करती है

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ ५८ ॥

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति ।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं निर्याति नान्तःपुरात्,
नोद्दामं हसति क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि,
किंचिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम् ॥

रतौ वामा यथा—

'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्त्य तिष्ठति, बलादालिङ्गितो वेपते ।
निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयैव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥'

जिसके शरीर में यौवन अवतरित हो चुका हो, जिसके मन में काम का उन्मेष प्रारम्भ हो रहा हो, जिसे रतिलीला में झिझक होती हो, जिसका प्रणयकोप कोमलता लिये हो और जो अपनी लज्जाशीलता के कारण प्रेम प्रकाशन में विवश रहा करे।

जैसे कि (१) प्रथमावतीर्णयौवना' मुग्धा का यह चित्र, जिसे हमारे ही पूज्य पितृचरण ने खींचा है—

'इस सुन्दरी के हृदय-देश पर कामदेव का नया-नया राज्याभिषेक क्या हुआ इसके शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूले न समाते, एक दूसरे की सुन्दरता की छीना-झपटी मचाने लगे-नितम्ब ने कटिभाग की स्थूलता छीन ली; उदरदेश के हाथ स्तनों की मन्दता आ गयी और नाभिदेश की रोमावली ने दौड़ मचाकर नेत्रों का सीधापन ले लिया।'

अथवा जैसे कि (२) 'प्रथमावतीर्णमदनविकारा' मुग्धा का यह वर्णन जो कि मेरी ही रचना 'प्रभावतीपरिणय' में किया हुआ है—

'यह (प्रभावती) धीरे-धीरे पृथिवी पर अलसाये से पैर रखा करती है, कभी अन्तःपुर से बाहर निकलती नहीं दीख पड़ती, खिलखिला कर हँसना भी नहीं चाहती, अचानक ही एक विचित्र लज्जा के विवश हो जाया करती है, कभी बोलती है तो एक विचित्र भाव भरे और वक्रता लिये ढंग से कुछ थोड़ा सा बोल पड़ती है और यदि उसकी सखी उसके प्रियतम के सम्बन्ध की कोई चर्चा करे तब तो उसकी भौंहें चढ़ी आंखें उस (सखी) पर ऐसी गड़ती हैं कि कुछ कहा नहीं जा सकता?'

अथवा जैसे कि (३) 'रतिवामा' मुग्धा का यह निरूपण—

'अरे मित्र! मेरी नवोढा प्रेयसी देखने पर आँखें नीची कर लेती है, बोलने पर मुँह नहीं खोलती, शय्या पर साथ लेटने पर मुँह फेर लेती है, किसी प्रकार बाहुपाश में जकड़ी जाने पर काँपने लगती है और जैसे ही सखियाँ शयनगृह से निकलें, वैसे ही बाहर निकल

माने मृदुर्यथा—

'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥

समधिकलज्जावती यथा—

'दत्ते सालसमन्थरम्—' इत्यत्र (११३ पृ०) श्लोके ।

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्तिविशेषवत्तया पुनः कथनम् ।

जाने पर तुल जाती है। बस, उसकी यह वामता (उलटी-पुलटी बात) भी मुझे अब बड़ी प्यारी लगती है।'

अथवा, जैसे कि 'मृदुमानवती' मुग्धा का यह चित्रण—

'यह सुन्दरी तो ऐसी है जिसे बिना किसी सखी के सिखाये यह भी नहीं आता कि कैसे किसी प्रेमापराध में पति पर हावभाव-पूर्वक मुँह फेरा जाय अथवा व्यङ्ग्यबाण चलाये जाँय। यह तो इतनी भोली-भाली है कि चारों ओर अपने नयनकमलों को घुमाती, कपोलफलक पर गिरते किंवा केशपाश में उलझते, मोती के समान, आँसुओं को गिराती, बस, रोना भर जानती है।'

अथवा, जैसे कि 'समधिकलज्जावती' मुग्धा का वर्णन, जो कि 'दत्ते सालसमन्थरम्' इत्यादि पूर्वोदाहृत श्लोक में स्पष्ट है।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'समधिकलज्जालुता' भी 'रतिवामता' में ही अन्तर्भूत है (और इसलिए 'रतिवामा' के निरूपण में ही 'समधिकलज्जावती' का निरूपण हो चुका है] किन्तु तब भी दोनों का पृथक्-पृथक् निरूपण आवश्यक है क्योंकि दोनों में कुछ न कुछ अपना-अपना चमत्कार तो स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है।

विमर्श—साहित्यदर्पणकारने 'मुग्धा' नायिका के कतिपय भेदों का जो परिगणन किया है वह संस्कृत काव्य-साहित्य में वर्णित 'मुग्धा' स्वभाव का ही विश्लेषण है। प्राचीन आलङ्कारिकों ने, जैसे कि आचार्य हेमचन्द्र ने ही, स्वीया नायिका के 'मुग्धा' स्वरूप का नियामक, शरीर की एक विशिष्ट अवस्था किंवा कामोपचार-सम्बन्धी निपुणता की विशिष्ट दशा को ही माना है—

'वयःकौशलाभ्यां मुग्धा मध्या प्रौढेति सा त्रेधा-वयः शरीरावस्थाविशेषः, कौशलं कामोपचारनैपुणम् ताभ्यां मुग्धा-(काव्यानुशासन अ. ७ सू. २३)।

यही बात भावप्रकाशकार आचार्य शारदातनय (१३ वीं शताब्दी) की इन पंक्तियों में भी स्पष्ट है—

शीलसत्यार्जवोपेता रहःसंभोगलालसा ।
मुग्धा नववयःकामा रतौ वामा मृदुः क्रुधि ॥
यतते रतिचेष्टासु पत्युर्व्रीडामनोहरम् ।
अपराधे रुदत्येव न वदत्यप्रियं प्रिये ॥'

(भावप्रकाशन ४ र्थ अधिकार)

वस्तुतः तो रतिक्रीडा में अनभिज्ञता किंवा यौवनादि के क्रमिक विकास आदि-आदि संवलित रूप से ही 'मुग्धा'के व्यक्तित्व के परिचायक हैं और इस दृष्टि से इनको पृथक्-पृथक् करके मुग्धा-भेद

(मध्या-स्वीया-नायिका-निरूपण)

अथ मध्या—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना ।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता ॥ ५९ ॥

विचित्रसुरता यथा—

'कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाक्ष्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु ।
तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथाऽस्याः ॥'

प्ररूढस्मरा यथात्रैवोदाहरणे ।

प्ररूढयौवना यथा मम—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी,
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥'

एवमन्यत्रापि ।

का नियामक बनाना ठीक नहीं किन्तु तब भी साहित्यदर्पणकार ने इनके आधार पर जो मुग्धा-भेद निर्दिष्ट किया है उसका एक विशेष कारण है और वह कारण एक शब्द में आलंकारिकों का विभाजन किंवा पारिभाषिकता-प्रवृत्ति ही है जिसका विकास साहित्यदर्पणकार के पहले से ही होता चला आ रहा है और जिसकी प्रेरणा को रोकना साहित्यदर्पणकार के लिये संभव नहीं हो सका है ।

अनुवाद—अब 'मध्या' का निरूपण किया जा रहा है—

'मध्या' वह (स्वीया) नायिका है जो रंग-विरंग की रतिलीलाओं में निपुण हो चुकी होती है, जिसमें कामपिपासा बढ़ती दिखायी दिया करती है, जिसका यौवन उभार पर रहा करता है, जिसे प्रणयालाप में कोई विशेष हिचक नहीं हुआ करती और जिसकी रति-लज्जा बहुत अधिक नहीं रहा करती। जैसे कि 'विचित्रसुरता' मध्या (जो कि 'शृङ्गारतिलक' की इस सूक्ति में चित्रित है)—

'रति-लीलाओं में अत्यधिक कामोन्माद से भरी मृगनयनी ने अपने प्रियतम के प्रति कुछ ऐसी चतुराई दिखाई कि उसके पाले कबूतर, उसकी रति-कूजाओं को दोहराते, उसके चेले बनने को उतारू हो उठे ।'

इस उपर्युक्त सूक्ति को ही 'प्ररूढस्मरा' मध्या नायिका का भी चित्र मान सकते हैं ।

'प्ररूढयौवना' मध्या नायिका का चित्र यह रहा जो स्वरचित ही है—

'इस सुन्दरी को देखो—इसकी आंखें खंजन (पक्षिविशेष) की आंखों से भी बढ़कर काली और सुंदर हैं; इसके दोनों हाथ कमल से भी होड़ लगाये बैठे हैं; इसके उभरे उरोज करिकुम्भ के उभार को भी चुनौती दे रहे हैं; इसकी कान्ति स्वर्णचम्पा के फूल का भी प्रतिनिधित्व कर बैठी है; इसकी वाणी अमृत टपका रही है और इसके कटाक्षों की छटा ! वह तो खिले नीलकमल की माला की ही भांति वस्तुतः विचित्र है ।'

इसी प्रकार 'ईषत्प्रगल्भवचना' और 'मध्यमव्रीडिता' मध्या-नायिका के चित्र यत्र-तत्र चित्रित देखे जा सकते हैं ।

[प्रगल्भा-स्वीया-नायिका-निरूपण]

अथ प्रगल्भा—

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ॥ ६० ॥

स्मरान्धा यथा—

'धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ॥

गाढतारुण्या यथा—

'अत्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे, वक्रे भ्रुवावतितरां, वचनं ततोऽपि ।
मध्योऽधिकं तनुरनूनगुरुर्नितम्बो मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः ॥'

विमर्श—'स्वीया' नायिका का 'मध्या' रूप संस्कृत काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र दिखायी पड़ता है। कालिदास और भवभूति जैसे महान् काव्य-नाट्यकारों ने शकुन्तला और सीता जैसी नायिकाओं के जो चित्र खींचे हैं वे 'स्वीया' नायिका की मुग्धता, प्रगल्भता और दोनों की सन्धि-दशा के ऐसे चित्र हैं जिन्हें किसी भी भाषा के साहित्य के लिये एक कलात्मक आदर्श माना जा सकता है। वस्तुतः 'नायिका' के इन्हीं विद्धचित्रों (Portraits) की अनुपम रमणीयता का यह प्रभाव है कि संस्कृत के काव्यकलाकारों ने इनकी भावभङ्गियों के अनुकरण अथवा अभिव्यञ्जन में, 'नायिका' के अनेकानेक 'मुक्तकचित्र' (Mimiature painting) प्रस्तुत कर दिखाये हैं। साहित्यदर्पणकार के स्वरचित 'मुग्धा' किं वा 'मध्या' चित्र संस्कृत काव्य-साहित्य के सुन्दर 'मुक्तकचित्र' हैं। यद्यपि इनमें कोई नवीनता नहीं और न कोई नयी कल्पना है किन्तु इनके चित्रकार के वर्णिकाभंग का चमत्कार हमें इनकी ओर बरबस अवश्य खींच लेता है।

अनुवाद—'प्रगल्भा' (स्वीया) नायिका का स्वरूप यह है—वह स्वीया नायिका, जिसमें स्मरोन्माद बढ़ती पर हो, जिसका यौवन पूरे उभार पर पहुँच गया हो, जिसमें रति-लीला के समस्त कौशल समा चुके हों, जिसके हाव-भाव पूर्णरूपेण विकसित हो चुके हों, जिसमें रति-लज्जा की थोड़ी ही मात्रा बच गयी हो और वस्तुतः जो रतिलीला में नायक को भी पछाड़ने की शक्ति रखने लगी हो, 'प्रगल्भा' नायिका कही जाया करती है।

जैसे कि 'स्मरान्धा' प्रगल्भा :—

'अरी सखी ! तू तो सचमुच धन्य है क्योंकि रतिलीला के समय, नाना प्रकार की काम-केलियों के बीच-बीच में भी, तू तो बड़े धैर्य से प्रेमालाप कर सकती है ! लेकिन, क्या बताऊं सखियो ? तुम्हारी सौगन्ध ? मुझे तो-जैसे ही मेरे प्रियतम का हाथ मेरी नीवीं से छू जाय-ऐसा लगने लगता है मानो सब कुछ भूल गयी हूँ।'

अथवा, जैसे कि 'गाढतारुण्या' प्रगल्भा :—

'इस विचित्र यौवनवाली सुन्दरी का क्या कहना ! इसका वक्षःस्थल तो उभरे स्तनों से उभर उठा है, इसकी आँखें बड़ी-बड़ी लग रही हैं, इसकी भौंहें विचित्र बांकपन लिये हैं, इसकी बोलचाल की बांकपन इसकी टेढ़ी भौंहों से भी बढ़ी-चढ़ी लग रही है, इसकी

समस्तरतकोविदा यथा—

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः
क्वचिच्चूर्णोद्गारी क्वचिदपि च सालक्तकपदः ।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः ॥'

भावोन्नता यथा—

'मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः कृताङ्गुलितर्जनै-
रभसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभिः ।
असकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितै-
स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम् ॥'

स्वल्पव्रीडा यथा—

'धन्यासि या कथयसि—' इत्यत्रैव (१६० पृ०)

आक्रान्तनायका यथा—

'स्वामिन् भङ्गुरयालकं, सतिलकं भालं विलासिन् कुरु,
प्राणेश त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय ।
इत्युक्त्वा सुरतावसानसमये सम्पूर्णचन्द्रानना
स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम् ॥'

कमर वहुत पतली हो गयी है, इसके नितम्ब बड़े भारी दिखायी पड़ रहे हैं और इसकी मन्द चाल में एक विचित्र मोहकता बस गयी है।'

अथवा, जैसे कि 'समस्तरतकोविदा' प्रगल्भा :—

'इस सुन्दरी की यह बिछावन की चादर तो इसकी चित्र-विचित्र रतिक्रीडा की घोषणा सी कर रही है—इस पर कहीं पान की पीक गिरी है, कहीं इसमें अगर के अङ्गराग के दाग पड़े हैं, कहीं इससे स्तनों के लेप का सौरभ निकल रहा है, कहीं इस पर पैरों के महावर के चिह्न लगे हैं, कहीं इस पर त्रिवली-भङ्ग की सलवटें दीख रही हैं और कहीं इस पर जूड़े में गुथे फूल बिखरे हैं।'

अथवा 'भावोन्नता' प्रगल्भा :—

'यह सुन्दरी तो ऐसी है कि अपनी मीठी-मीठी बातों, अपनी भौंहों की तरेरों, अपनी अङ्गुलियों के इशारों, अपनी, सहसा रति-विलास को आमन्त्रित करने वाली, अङ्गभङ्गियों और अपनी रह-रह कर निकलती बांकी चितवनों के बल पर कामदेव को त्रिभुवन-विजय के लिये प्रोत्साहित कर रही है।'

अथवा 'स्वल्पव्रीडा' प्रगल्भा नायिका :—

इसका स्वरूप तो 'धन्याऽसि या कथयसि' इत्यादि पूर्वोद्धृत सूक्ति में ही देखा जा सकता है।

अथवा 'आक्रान्तनायका' प्रगल्भा :—

'रतिक्रीडा का अन्त हुआ और पूर्ण चन्द्रानना सुन्दरी ने कहना प्रारम्भ किया—मेरे स्वामी! सिर के बिखरे वालों को संवार दो; मेरे आनन्द! माथे की बिंदी ठीक कर दो;

(मध्या और प्रगल्भा-स्वीया-नायिका के अवान्तर भेद)

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे ।

ते मध्याप्रगल्भे

('मध्या' के त्रिविध भेद : सोदाहरण निरूपण)

तत्र—

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा ॥ ६१ ॥
धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः ।

तत्र मध्या धीरा यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री·
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥'

मेरे प्राणनाथ ! स्तन पर टूटे लटकते हार को जोड़ दो। और जैसे ही उसके प्रेमी ने उसे छूआ कि बस, आनन्दविभोर हो कर पुनः रति-केलि के लिये तैयार हो उठी।'

अनुवाद—यहां 'मध्या' और 'प्रगल्भा' दोनों के अन्य भेदों का निर्देश किया जा रहा है। ये उपर्युक्त (स्वीया) नायिकायें 'धीरा', 'अधीरा' और 'धीरा-धीरा' भेद से ६ प्रकार की हुआ करती हैं।

यहां 'ते' (इन) का अभिप्राय 'मध्या' और 'प्रगल्भा' नायिकाओं का है (न कि मुग्धा का)।

अनुवाद—यहां 'मध्या' के भेदों का निरूपण किया जा रहा है—

'मध्या' नायिकाओं में 'धीरा' वह नायिका है जो अपने प्रियतम पर अपना क्रोध खरी-खोटी सुनाकर प्रकट किया करती है। मध्या 'धीराधीरा' की पहचान यह है कि अपने प्रियतम पर वह अपना क्रोध रो-धो कर निकाला करती है और 'अधीरा' मध्या वह है जो कर्कश वचनों से अपने प्रेमी को चोट पहुँचाया करती है।

इन उपर्युक्त त्रिविध मध्या-नायिकाओं में 'मध्या' धीरा का यह चित्र देखिये (जो कि महाकवि माघ की कृति है)—

'प्रियतम ! तुमने तो मुझसे सच ही कहा था कि तुम्हारी एक मात्र प्रेयसी मैं ही हूँ ! तभी तो तुम अपनी प्राण-प्रिया (मेरी सपत्नी) के पहने वस्त्र लपेट कर मेरे घर उसे दिखाने आये थे। बात तो ठीक ही है कि तभी प्राणप्यारों का साज-श्रृङ्गार शोभा देता है जब कि उसे उनकी प्राणप्यारियां देख लें !'

[यहां जिस नायिका का चित्र खींचा गया है वह स्वीया नायिका है। यौवन और काम के उभार में उसकी मुग्धता हट चुकी है किन्तु प्रगल्भता का आक्रमण उस पर नहीं हो पाया है। मुग्धता और प्रगल्भता की सन्धि-दशा में पड़ी यह नायिका (मध्या) परिहासपूर्वक अपने प्रियतम को ताना दे रही है।]

मध्यैव धीराधीरा यथा—

'बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषं, रोषान्मया किं कृतं,
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि, दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥'

इयमेवाधीरा यथा—

'सार्धं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या ।
अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥'

(प्रगल्भा धीरा नायिका)

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥ ६२ ॥
उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान् बहिः ।

तत्र प्रिये ।

यथा—

धीराधीरा मध्या का उदाहरण यह है—

'(किसी प्रेमी और प्रेमिका की प्रश्नोत्तरी—अमरुशतक) प्रेमी—'अरी नादान !' (प्रेमिका) 'नाथ !' (प्रेमी) 'अरी मानिनी ! क्रोध करना तो छोड़' (प्रेमिका) 'तुम पर क्रोध करके मुझे क्या मिलेगा' (प्रेमी) 'मुझे बड़ा कष्ट हो रहा है' (प्रेमिका) 'आपने मेरा क्या बिगाड़ा, सब अपराध तो मेरा है' (प्रेमी) 'तब रुंधे गले से क्यों रोती जा रही हो !' (प्रेमिका) 'भला मेरा कौन है जिसके आगे रोऊं !' (प्रेमी) 'अरी ! मेरे आगे तू रो-धो रही है' (प्रेमिका) 'भला मैं तुम्हारी कौन होती हूं !' (प्रेमी) 'तू ही तो मेरी प्राणप्यारी है' (प्रेमिका) 'नहीं रही, इसीलिये तो रो रही हूं ।'

[यहां मध्या धीराधीरा नायिका का जैसा मनोहर चित्रण है उसका अनुकरण नहीं हो सकता ।]

मध्या अधीरा का यह उदाहरण देखिये—

'अरे धूर्त ! मेरे पैरों पर गिरने का नाटक न रचो । अरे ! तुम्हारे हृदय में तो, तुम्हारी रति-लीलाओं की एक मात्र लालसा, बस, वही बनावटी हाव-भाव वाली, तुम्हारे जैसे की प्रेमिका बस रही है, भला मेरा वहां स्थान कहां !'

[यहां (स्वीया) मध्या अधीरा नायिका की सभी स्वाभाविक विशेषतायें बड़ी सरल रेखाओं से चित्रित हैं ।]

अनुवाद—प्रगल्भा 'धीरा' नायिका वह है जो बनावटी हँसी अपना क्रुद्ध स्वरूप छिपाया करती है, अपने प्रेमी पर बनावटी प्रेम दिखाया करती है और अपने प्रेमी के साथ रति-प्रसंग में उदासीन रहा करती है ।

यहां कारिका में 'तत्र' का अभिप्राय 'प्रियतम के प्रति' है।

उदाहरण के लिये—

'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः ।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥'

(प्रगल्भा धीराधीरा नायिका)

धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम् ॥ ६३ ॥

अमुं नायकम् ।

यथा मम—

'अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर ! हरसि मनो मे यतः प्रसभम् ।
किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः ॥'

[प्रगल्भा अधीरा नायिका]

तर्जयेत्ताडयेदन्या—

अन्या अधीरा । यथा-'शोणं वीक्ष्य मुखम्' इत्यत्र । अत्र च सर्वत्र 'रुषा' इत्यनुवर्तते ।

'इस चतुर प्रेमिका ने तो अपने प्रियतम पर अपना पूरा क्रोध निकाल लिया—जब उसका प्रियतम उसके पास बैठने आया तो वह दूर से ही उसकी अगवानी के बहाने, झटपट उठ खड़ी हुई, जब उसके प्रियतम ने बलात् उसका आलिङ्गन करना चाहा, तब वह पान लाने के बहाने दूर खिसक पड़ी और जब कि उसके प्रियतम ने उससे कुछ बात-चीत करनी चाही तब तो वह दास-दासियों से कुछ कहने-सुनने के बहाने उससे एक शब्द भी न बोली ।'

[अमरुशतक में चित्रित यह 'प्रगल्भा धीरा' चित्र स्वीया नायिका के व्यक्तित्व की एक विशेष अवस्था का बड़ा मनोरम चित्र है ।]

अनुवाद—प्रगल्भा धीराधीरा नायिका वह है जो कि अपने तानों और झिड़कियों से नायक को दुःखी बनाती रहती है ।

यहां कारिका में 'अमुम्' का अर्थ है—'नायक को' ।

उदाहरण के लिये मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

'मेरे सुन्दर ! तुम तो बिना किसी साज-शृंगार के ही मेरा चित्त चुराये रहते हो ! और अब का क्या कहना ! अब तो उस (किसी और प्रेमिका) के नखक्षतों की शोभा तुम पर झूम रही है !'

[विश्वनाथ कविराज ने यहां प्रगल्भा धीराधीरा नायिका का बड़ा सुन्दर चित्र खींचा है ।]

अनुवाद—प्रगल्भा अधीरा नायिका की पहचान यह है कि वह अपने नायक को डराती-धमकाती रहा करती है और यथासमय उससे मार-पीट भी कर लेती है ।

यहां कारिका में 'अन्या' का अभिप्राय 'अधीरा' का है । उदाहरण के लिये; 'शोणं वीक्ष्य मुखम्' आदि (पूर्वोद्धृत) सूक्ति पर्याप्त है । यहां त्रिविध प्रगल्भा नायिकाओं के इस प्रकार के स्वभाव का कारण 'नायक पर क्रोध' ही है क्योंकि यहां 'रुषा' पद (कारिका ६१) की सर्वत्र अनुवृत्ति मानी गयी है ।

(मध्या-प्रगल्भा नायिकाओं के अन्य निमित्तक भेद)

—प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।
कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥ ६४ ॥

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः ।

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥'

('स्वीया' भेद-परिगणन)

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः ।
मुग्धा त्वेकैव तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥

अनुवाद—उपर्युक्त प्रत्येक प्रकार की मध्या किंवा प्रगल्भा नायिकाओं के भी दो-दो भेद हुआ करते हैं जिनका कारण नायक के प्रेम की कनिष्ठता (न्यूनता) और ज्येष्ठता (अधिकता) है ।

यहां 'ताः' पद से पूर्व प्रतिपादित षड्विध नायिकाओं (धीरा—धीराधीरा और अधीरा रूप से विभक्त मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं) का अभिप्राय समझा जाना चाहिये । जैसे कि—

'इस धूर्त नायक ने जब एक आसन पर बैठी अपनी दोनों प्रेमिकाओं को देखा तो बड़े प्रेम-पूर्वक पीछे से जाकर आंखमिचौनी खेलने के बहाने एक की तो आंख बंद कर दी और अपनी गर्दन घुमाकर, आनन्द से रोमाञ्चित होते हुये, प्रेमोल्लास में पगी और प्रसन्नता से फूली न समाती दूसरी का मुँह चूम लिया ।'

[यहां अमरुशतक की इस सूक्ति में जिस प्रेम का वर्णन है उसमें नायक के प्रेम की कनिष्ठता और ज्येष्ठता का पूरा चित्र उतरा हुआ है ।]

अनुवाद—इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्या और प्रगल्भा नायिकायें बारह प्रकार की हुआ करती हैं । और यह तो पहले ही बताया जा चुका है कि 'मुग्धा' नायिका एक प्रकार की ही है । इस प्रकार स्वीया नायिका के तेरह भेद सिद्ध हुये ।

विमर्श—दशरूपककार ने भी 'स्वीया' नायिका के तेरह भेदों का परिगणन किया है—

'द्विधा ज्येष्ठा कनिष्ठा चेत्यमुग्धा द्वादशोदिताः । मध्याप्रगल्भाभेदानां प्रत्येकं ज्येष्ठाकनिष्ठात्वभेदेन द्वादश भेदा भवन्ति । मुग्धा त्वेकरूपैव (दशरूपक २. २०)

यही बात श्रीशिङ्गभूपालप्रणीत रसार्णव सुधाकर (१म विलास—१०५) की इन पंक्तियों में भी प्रतिपादित है—

'धीराधीरादिभेदेन मध्याप्रौढे त्रिधा त्रिधा ।
ज्येष्ठाकनिष्ठाभेदेन ताः प्रत्येकं द्विधा द्विधा ॥
मुग्धा त्वेकविधा चैवं सा त्रयोदशधोदिता ।'

('परकीया'-नायिका : भेदनिर्देश)

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा ।

तत्र—

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥ ६६ ॥

यथा—

'स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,
श्वश्रूरिङ्गितदैवतं नयनयोरीहालिहो यातरः ।
तद्दूरादयमञ्जलिः किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते,
वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक ! व्यर्थोऽयमत्र श्रमः ॥'

अत्र हि मम परिणेताऽन्नाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु वल्लभः । त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम वल्लभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशादस्याः परनायकविषया रतिः प्रतीयते ।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना ।

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम् । यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः ।

अनुवाद—'परकीया' नायिका के दो भेद हुआ करते हैं—(१) परोढा (पर-परिणीता) और (२) कन्यका (अपरिणीता) ।

इन द्विविध 'परकीया' नायिकाओं में 'परोढा' (पर-परिणीता) नायिका वह है जो यात्रा (मेला) आदि की शौकीन हुआ करती है, दूसरे लोगों से प्रेम-प्रसङ्ग रखा करती है और जिसे किसी से भी बातचीत अथवा संग-साथ में कोई लज्जा नहीं हुआ करती। जैसे कि—

'अरे चतुर चितचोर ! तुम्हारी लुभावनी चितवनों से अब कुछ नहीं बनता। अब तो मेरा पति मेरी सांस की आवाज पर भी खीझ उठता है; मेरी सौतों का यह हाल है कि मेरे मन की बात सूंघती रहा करती हैं; मेरी सास का क्या पूछना ! वह तो मेरे सभी इशारों को मानो किसी देवी की भांति ताड़ लिया करती है और मेरी देवरानी तथा जेठानी का क्या कहना ! वे तो मेरी आंखों की सभी हरकतों को पहचान चुकी हैं। अब तो बस, मैं तुम्हें हाथ जोड़ती हूँ, अब मेरे यहाँ तुम्हारा आना-जाना ठीक नहीं।'

यहाँ जिस प्रकार की 'रति' अभिव्यक्त हो रही है वह (स्वनायक-विषयक नहीं अपि तु) परनायक-विषयक है। ऐसा क्यों ? इसलिये कि यहाँ नायिका अपने परिणेता (पति) को 'स्वामी' कह रही है न कि 'वल्लभ' (प्रियतम)। यहाँ नायिका का 'स्वामी' तो वह है जो कि उसके लिये खाने-पीने और पहनने-ओढ़ने आदि की सुविधायें जुटाने में लगा हुआ है और 'वल्लभ' (प्रियतम) वह जिसके लिये उसके मुँह से 'वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक' का सम्बोधन निकल रहा है। अब यह निगूढ़ व्यङ्ग्य अन्ततोगत्वा इसी परमरमणीय व्यङ्ग्यार्थ में घुलमिल जाता है कि यहाँ नायिका परपुरुष के प्रेम में पगी है।

इसके अतिरिक्त 'कन्यका' वह परकीया नायिका है जो नवयुवती और लज्जाशील हुआ करती है तथा अविवाहित है।

'कन्या' को परकीया कहने का अभिप्राय यह है कि यह अपने माता-पिता के

('सामान्या' नायिका-निरूपण)

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका ॥ ६७ ॥
निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः ॥ ६८ ॥
काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम् ।
मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया ॥ ६९ ॥
तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा ।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण वल्लभाः ॥ ७० ॥
एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी ।
रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्या सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥

पण्डको वातपाण्ड्वादिः । छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः । तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः, रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः ।

घर में रहा करती है 'कन्या' परकीया नायिका का स्वरूप 'मालतीमाधव' आदि प्रकरणों में चित्रित 'मालती' आदि के चित्र में देखा जा सकता है ।

अनुवाद—'सामान्या' वह नायिका है जो रतिकलाकुशल किंवा संगीतादि कलाओं में पारंगत हुआ करती है तथा जिसे साधारणतया 'वेश्या' कहा करते हैं। यह नायिका न तो गुणहीन पुरुषों से द्वेष करती है और न गुणी लोगों के प्रेम में पग जाती है। यह केवल धनसमृद्धि देखकर किसी से भी बाहरी प्रेम प्रकट किया करती है। इसके लिये यह स्वाभाविक है कि अपने किसी भी प्रेमी धनी व्यक्ति को, यदि वह निर्धन हो जाय, अपनी माँ के द्वारा अपने घर से बाहर निकलवा दे और यदि पुनः वह धनी बन जाय तो उससे पुनः प्रेम करने के लिये स्वयं उत्सुक बन बैठे। इस नायिका के प्रेमी प्रायः ऐसे लोग हुआ करते हैं जैसे कि—चोर, नपुंसक, मूर्ख, बिना मेहनत के धन पानेवाले, संन्यासी (अथवा ब्रह्मचारी), छिपे प्रेमी (प्रच्छन्नकामुक) आदि-आदि। कभी-कभी ऐसा भी हुआ करता है कि इस प्रकार की नायिका, मदनातुर हो कर, किसी के प्रति सच्चा प्रेम भी रखने लग जाती है। ऐसी नायिका के साथ चाहे वह अनुरागवती हो या विरक्त हो, रति-प्रसङ्ग की बात बड़ी कठिन हुआ करती है।

यहाँ कारिका में 'पण्डक' का अभिप्राय 'वातिक पण्डक अथवा नपुंसक' (वाय्वग्नि-दोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः—चरक, २ य अध्याय) से है। 'छन्नकामाः' का अभिप्राय उन लोगों से है जो कि छिप-छिपकर कामप्रसङ्ग के इच्छुक हुआ करते हैं। 'रागहीना' सामान्या (वेश्या) नायिका के उदाहरण 'लटकमेलक' आदि प्रहसन-रूपकों में 'मदनमञ्जरी' आदि हैं और 'रक्ता' सामान्या (वेश्या) नायिका को 'मृच्छकटिक' आदि प्रकरण-रूपकों में चित्रित 'वसन्तसेना' आदि के चित्र के आधार पर देखा जा सकता है।

(उपर्युक्त नायिकाओं के अवस्था-भेद से अन्यान्य भेद-प्रभेद)

पुनश्च—

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडशभेदिताः ।
स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका ॥ ७२ ॥
कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका ।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा ॥ ७३ ॥

(१) स्वाधीनभर्तृका

तत्र—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वधीनभर्तृका ॥ ७४ ॥

यथा—'अस्माकं सखि वाससी—' इत्यादि ।

(२) खण्डिता

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ ७५ ॥

अनुवाद—इसके अतिरिक्त उपर्युक्त १६ प्रकार की नायिकाओं (१३ प्रकार की स्वीया, २ प्रकार की परकीया, १ प्रकार की साधारणी अथवा सामान्या) के भी, अवस्था-भेद से, आठ-आठ भेद हैं। जैसे कि—(१) स्वाधीनभर्तृका, (२) खण्डिता, (३) अभिसारिका, (४) कलहान्तरिता, (५) विप्रलब्धा, (६) प्रोषितभर्तृका, (७) वासकसज्जा और (८) विरहोत्कण्ठिता ।

अनुवाद—इन अष्टविध नायिकाओं में—

'स्वाधीनभर्तृका' वह नायिका मानी जाया करती है जिसका प्रणयी उसके प्रेम की डोर में बँधा हुआ उसे छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जा सकता है। इसके अतिरिक्त इसकी यह भी विशेषता है कि (नायक के प्रति) इसके विविध विलास बड़े विचित्र और मनोरञ्जक हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये—'अस्माकं सखि वाससी' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि के अनुसार 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका का यह स्वरूप है—

'सुरतातिरसैर्बद्धो यस्याः पार्श्वगतः प्रियः ।
सामोदे गुणसंयुक्ता भवेत् स्वाधीनभर्तृका ॥ (नाट्यशास्त्र : २४-२०७)

अर्थात् 'स्वाधीनभर्तृका' नायिका के व्यक्तित्व की यह विशेषता है कि उसका प्रणयी सदा उसके प्रेम का भिखारी बना रहता है और उसके समस्त प्रेम-प्रसङ्ग से उसके प्रेमी के लिये आनन्द का स्रोत उमड़ता रहता है।

वस्तुतः इसीलिये संस्कृत के कवि और नाटककार 'स्वाधीनभर्तृका' के वर्णन और अङ्कन में उसकी इन विशेषताओं पर ध्यान रखा करते हैं—

विचित्रोज्ज्वलवेषा च प्रमोदोद्योतितानना ।
उदीर्णशोभातिशया कार्या स्वाधीनभर्तृका ॥ (नाट्यशास्त्र : २४-२१७)

अनुवाद—काव्यमर्मज्ञ उस नायिका को 'खण्डिता' कहा करते हैं जिसका हृदय अपने

यथा—'तदवितथमवादीः-' इत्यादि।

(६) अभिसारिका : स्वरूप किं वा प्रकार-निरूपण)

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका ॥ ७६ ॥

क्रमाद्यथा—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि।
निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति कंचिदिति संदिदिशे ॥

प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या से कलुषित हो जाया करता है क्योंकि वह अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ अपने प्रेम-सम्भोग को सूचित करने वाली वेष-भूषा में उसके पास आया-जाया करता है।

उदाहरण के लिये, 'तदवितथमवादीः' आदि सूक्ति स्मरणीय है।

विमर्श—नाट्याचार्य भरत मुनि ने 'खण्डिता' नायिका का यह स्वरूप-विमर्श किया है (नाट्यशास्त्र : अभिनव भारती २२-२१७)

'व्यासङ्गादुचिते यस्या वासके नागतः प्रियः।
तदनागमदुःखार्ता खण्डिता सा प्रकीर्तिता ॥'

अर्थात् ऐसी कोई भी नायिका 'खण्डिता' हो सकती है जिसका प्रेमी, अपनी किसी दूसरी प्रेमिका के साथ प्रेम-प्रसङ्ग में पड़े रहने के कारण, निश्चित समय पर भी, उसके पास नहीं आ पाता और जिसे इस प्रकार की विरह-वेदना समय-समय पर दुःखित किया करती है।

वस्तुतः यही बात 'नाट्यदर्पण' (४ थे विवेक) की निम्नोद्धृत 'खण्डिता'-परिभाषा से सिद्ध होती है—

'खण्डिता खण्डयत्यन्यासक्त्या वा वासकमीर्ष्यिता' अपरस्त्र्यभिष्वङ्गादुचितं वासकमं कुर्वाणेऽसूयावती खण्डिता।

अर्थात् 'खण्डिता' वह नायिका है जो अपने प्रेमी के प्रति इसलिये ईर्ष्या भाव रखा करती है क्योंकि वह, अपनी अन्य प्रेमिका के प्रेम-प्रसङ्ग की सूचना देते हुये, उसके पास वासोपचार के लिये (वासक–वासयति तत्र स्थाने रात्रमिति वासः) आया करता है।

साहित्यदर्पणकार का खण्डिता-लक्षण उपर्युक्त नाट्याचार्यों के 'खण्डिता' विवेक की अपेक्षा दशरूपककार की इस 'खण्डिता' परिभाषा से अधिक प्रभावित प्रतीत हो रहा है —

'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता।'

यथा— 'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम्।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसंगशंसी विसर्पन्
नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥' (दशरूपककार २-२५)

अनुवाद—काव्य-कोविदों की दृष्टि में 'अभिसारिका' वह नायिका हुआ करती है जो कि काम के वश में पड़ी या तो अपने प्रणयी को अपने पास बुलाया करती है या स्वयं अपने प्रणयी के पास पहुँचा करती है।

जैसे कि, अपने प्रेमी को अपने पास बुलानेवाली 'अभिसारिका' जो कि 'शिशुपाल-वध' के महाकवि की इस सूक्ति में चित्रित है—

'किसी नायिका ने अपने सामने खड़ी अपनी दूती को कहा—'अरी ! तू उसके पास

'उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं, बद्धा दृढं मेखला,
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता।
आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि! क्रीडाभिसारोत्सवे,
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः॥'

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि॥ ७७॥
विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि॥ ७८॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि॥ ७९॥

तत्राद्ये 'उत्क्षिप्तम्' इत्यादि। अन्ययोः ऊह्यमुदाहरणम्।

प्रसङ्गादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते—

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम्।

जाना और उससे ऐसी बातचीत करना जिसमें उसे मेरी दीनता (काम-परवशता) का भी पता न चल पावे और वह मेरे पास आकर मुझे आनन्दविभोर भी कर दे।'

और इसी प्रकार, स्वयं अपने प्रेमी के पास पहुँच जानेवाली 'अभिसारिका' (जिसे निम्न सूक्ति में चित्रित देख सकते हैं)—

'अरी सखी! क्या बताऊँ, जैसे ही मैंने अपने हाथ के कंगनों को ऊपर चढ़ाया, अपनी करधनी को कसकर बांधा (जिसमें वह बज न उठे), अपने मुखर मञ्जीरों का बजना बन्द किया और बड़ी उमङ्ग में अपने प्रियतम से मिलने को तैयार हुई कि चण्डाल चन्द्रमा ने अँधेरे के परदे को हटाना प्रारम्भ कर दिया।'

'अभिसारिका' के अभिसार कई ढंग के होते हैं - यदि कोई कुलजा (स्वीया) नायिका अभिसार करती है तो लज्जा के भार से दबी दीख पड़ती है, अपने अलङ्कारों को झंकार से बचाती रहा करती है और घूंघट की ओट में अपने आप को छिपाने में लगी रहती है। वेश्या (सामान्या नायिका) का अभिसार एक और ही ढंग का है। उसकी वेश-भूषा तो रंग-विरंग की होती है, उसके कंकण और नूपुर बजते चला करते हैं और उसके मुख पर आनन्द की हंसी अठखेलियां करती दिखायी पड़ा करती हैं। जिसे 'प्रेष्या' (अनुचरी) कहते हैं उसका अभिसार (प्रियमिलन) और ही प्रकार का है—कामोन्माद उसकी बातचीत में बेढंगापन भर दिया करता है, विभ्रमविलास उसकी आंखों की हंसी में स्पष्ट झलका करता है और उसकी चालढाल एक विचित्र मस्ती से भरी दिखायी दिया करती है।

जैसे कि पहले अर्थात् 'कुलजाभिसार' का दर्शन 'उत्क्षिप्तम्' आदि सूक्ति में किया जा सकता है और 'वेश्याभिसार' कि वा 'प्रेष्याभिसार' के दृष्टान्त स्वयं (संस्कृत काव्य-नाट्य-साहित्य में) यत्र-तत्र ढूंढे जा सकते हैं।

यहां जैसा कि स्पष्ट है, अभिसार का प्रसंग निकल पड़ा है। अतएव अभिसरण के स्थान का भी निर्देश कर दिया जाता है। अभिसरण के आठ स्थान हैं—(१) खेत

मालपञ्चः श्मशानं च नद्यादीनां तटी तथा ॥ ८० ॥
एवं कृताभिसारणां पुंश्चलीनां विनोदने।
स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ॥ ८१ ॥

(४) कलहान्तरिता

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ॥ ८२ ॥

यथा मम तातपादानाम्—

'नो चाटुश्रवणं कृतं, न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,
कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त ! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ॥'

---

(२) बगीचा, (३) टूटे-फूटे मन्दिर, (४) दूतीगृह, (५) वन, (६) सूना स्थान, (७) श्मशान, (८) नदी आदि का तट और साथ ही साथ कोई अँधेरी जगह।

विमर्श—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (अध्याय २२–२२६–२३१) में 'अभिसरण' का यह स्वरूप प्रतिपादित है—

'वेश्यायाः कुलजायाश्च प्रेष्यायाश्च प्रयोक्तृभिः।
पुम्भिर्भावविशेषैस्तु कर्त्तव्यमभिसारणम् ॥
समदा मृदुचेष्टा च तथा परिजनावृता।
नानाभरणचित्राङ्गी गच्छेद्वेश्याङ्गना शनैः ॥
संलीना स्वेषु गात्रेषु त्रस्ता विनमितानना।
अवगुण्ठनसंवीता गच्छेत्तु कुलजाङ्गना ॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।
आविद्धगतिसञ्चारा गच्छेत् प्रेष्या समुद्धतम् ॥
गत्वा सा चेद् यदा तत्र पश्येत्सुप्तं प्रियं तदा।
अनेन तूपचारेण तस्य कुर्यात् प्रबोधनम् ॥
अलङ्कारेण कुलजा वेश्या गन्धैस्तु शीतलैः।
प्रेष्या तु वस्त्रव्यजनैः कुर्वीत प्रतिबोधनम् ॥'

यहां यह स्पष्ट है कि साहित्यदर्पणकार ने अभिसार की प्राचीन परम्परा का ही पुनरुल्लेख किया है।

अनुवाद—'कलहान्तरिता' उस नायिका को कहते हैं जो कि प्रणयप्रार्थना करनेवाले भी प्रियतम को रोषपूर्वक निरादृत कर दिया करती है और फिर स्वयं पछताया करती है।

उदाहरणार्थ, मेरे पूज्य पितृचरण की यह सूक्ति देखी जाय—

'अब क्या किया जाय ! मैंने प्रियतम की प्रणययाचना भी न सुनी, उनके दिये प्रेमोपहाररूप कण्ठहार पर निगाह भी न डाली, उनकी हितचिन्ता में तत्पर अपनी सखी की बातों को भी सुनी-अनसुनी कर दी और परिणाम क्या हुआ ! वे मेरे पैरों पर भी

(५) विप्रलब्धा

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति संनिधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३ ॥

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति, यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'

(६) प्रोषितभर्तृका

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।
सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

गिरे, किन्तु अपनी मूढ़ बुद्धि को क्या कहूँ ? उन्हें उलटे पांव चल पड़ते देखकर भी, ओह ! न मालूम मुझे क्या हो गया कि मैं अपने हाथों से उन्हें रोककर उनके गले से न लिपट पड़ी ।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि के अनुसार 'कलहान्तरिता' का स्वरूप यह है—

'ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते यस्या नागच्छति प्रियः ।
सामर्षवशसंप्राप्ता कलहान्तरिता भवेत् ॥'

और इसका वस्तुतः यही अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने भी लिया है—

'ईर्ष्याकलहनिष्क्रान्ते कलहान्तरिताऽभिभाक्, ईर्ष्याकलहेन तत्समीपान्निष्क्रान्ते तत्स-विधमनागच्छति प्रिये पीडावती कलहान्तरिता । अत्रेर्ष्यया कलहपूर्वकं परस्परमसंयोगा-भिलाषः । पूर्वत्र तु नायिका समागमार्थिनी कलहाभावात्, किन्तु अन्यासङ्गिनि प्रिये ईर्ष्यामात्रवतीति विशेष इति ।'

अर्थात् 'कलहान्तरिता' के व्यक्तित्व की जो विशेषता है वह 'खण्डिता' के व्यक्तित्व में नहीं रहा करती । 'कलहान्तरिता' तो कलह के कारण प्रियतम के प्रेम-संगम के प्रति निरभिलाष रहा करती है किन्तु 'खण्डिता' का स्वभाव यह है कि किसी प्रकार के कलह के न होने के कारण, उसे प्रिय-संगम की अभिलाषा लगी रहती है । 'कलहान्तरिता' अपने किये पर पश्चात्ताप करती है किन्तु 'खण्डिता' अपने प्रियतम पर ईर्ष्या रखती है ।

अनुवाद—**'विप्रलब्धा' वह नायिका है जो अपने आप को इसलिये अपमानित माना करती है क्योंकि उसका प्रेमी, स्वयं प्रेम-मिलन का संकेत देकर भी, उसके पास नहीं आ पाता । जैसे कि—**

'अरी दूती ! उठ, चल अब चलें, उनके आने का समय आ पहुँचा किन्तु वे नहीं आये । अब इतना सब होने पर भी जो जीवित रहे उसी के वे प्राणनाथ होने लायक हैं (मेरे भला प्राणनाथ क्योंकर होने लगे !) ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'विप्रलब्धा' का यह लक्षण किया है—

'यस्याः दूतीं प्रियः प्रेष्य दत्त्वा संकेतमेव वा ।
नागतः कारणेनेह विप्रलब्धा तु सा भवेत् ॥' (नाट्यशास्त्र २२.२१८)

यहाँ विश्वनाथ कविराज ने भरत मुनि के ही 'विप्रलब्धा'-लक्षण का अनुसरण किया है ।

अनुवाद—**'प्रोषितभर्तृका' वह नायिका है जो कि, किसी कार्यवश, अपने प्रियतम के परदेश चले जाने के कारण, कामवेदना से व्यथित रहा करती है ।**

यथा—

'तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥'

(७) वासकसज्जा

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि ।
सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा ॥ ८५ ॥

यथा राघवानन्दानां नाटके—

'विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलयै-
रलं; गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया ।
नवामेकामेकावलिमयि मयि त्वं विरचये-
र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ ॥'

उदाहरण के लिए (महाकवि कालिदास के मेघदूत में चित्रित यक्षिणी का प्रोषितभर्तृका-रूप)।

'हे मेघ! चक्रवाक के विरह में चकई की भांति, मेरे विरह में विह्वल किंवा मरणासन्न मेरी प्यारी को, तुम, मेरे प्राणों का एकमात्र आधार समझना। जब तुम उसे देखोगे तब तुम्हें ऐसा लगेगा जैसे, इन विरह के लम्बे-लम्बे दिनों के बीतते, मिलन-वेला की बड़ी-बड़ी उत्कण्ठा में पड़ी, मेरी वह प्यारी, पाले से पीड़ित पद्मिनी की भांति, दीन-हीन किं वा किंकर्त्तव्यविमूढ़ बनी हुई है।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रप्रवर्तक आचार्य भरत ने 'प्रोषितभर्तृका' का यहाँ स्वरूप-निरूपण किया था—

'नानाकार्याणि सम्बाय यस्या वै प्रोषितः प्रियः ।
सा रूढालककेशान्ता भवेत् प्रोषितभर्तृका ॥' (नाट्यशास्त्र २२.२११.)

अनुवाद—'वासकसज्जा' वह नायिका है जो, अपने सजे-बजे रंगमहल में, अपनी सखियों द्वारा सजायी जाया करती है और अपने प्रियतम से मिलने की प्रतीक्षा में पड़ी रहा करती है। उदाहरण के लिये, श्रीराघवानन्द महापात्र विरचित नाटक में चित्रित यह वासकसज्जा चित्र—

'अरी सखी! इन बाजूबन्दों को हटा, हाथों के इन रत्न-कङ्कणों का क्या काम! गले की इस भारी हँसुली की क्या जरूरत! अरी! बस, तू मुझे मोतियों की एक लड़ी दे दे। मुझे तो अपने प्रियतम के साथ प्रेमोत्सव मनाना है, ऐसे समय मुझे किसी तरह की सजावट ठीक नहीं लगती।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'वासकसज्जा' का यह स्वरूप है—

'उचिते वासके या तु रतिसंभोगलालसा ।
मण्डनं कुरुते हृष्टा सा वै वासकसज्जिका ॥'

(नाट्यशास्त्र २२-२१२)

(८) विरहोत्कण्ठिता

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ८६ ॥

यथा—

किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,
किं वा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो वल्लभः ।
इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः ॥'

(पूर्वोक्त नायिका-भेद संकलन)

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण ।
चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ॥ ८७ ॥

इह च 'परस्त्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषका-

---

'वासक' का अभिप्राय है मिलन की रात के प्रेमोपचार का। भरतमुनि ने ये ६ 'वासक' बताये हैं –

'परिपाट्यां फलार्थे वा नवे प्रसव एव वा ।
दुःखे चैव प्रमोदे च षडेते वासकाः स्मृताः ॥
उचिते वासके स्त्रीणामृतुकालेऽपि वा बुधैः ।
द्वेष्याणामथवेष्टानां कर्त्तव्यमुपसर्पणम् ॥'

(नाट्यशास्त्र : २२-२०९, २१०)

इस प्रकार 'वासक' के लिये 'सज्जिता' नायिका 'वासकसज्जा' नायिका हुई ।

अनुवाद—'विरहोत्कण्ठिता' वह नायिका है जिसका प्रियतम, उससे मिलने के लिए उत्सुक होने पर भी, दैववश, उससे नहीं मिल पाता और इसलिये जिसे वियोग की व्यथा विह्वल बना दिया करती है ।

जैसे कि—'वह मृगनयनी सोचने लगी—'क्या दूसरी प्रेयसी ने उन्हें रोक लिया ! क्या मेरी सखी ने तो उन्हें तंग नहीं किया । क्या कोई ऐसा काम उन्हें आ पड़ा जो न टालते बना हो । वे क्यों न आ सके ।' और तब उसने अपने कमलमुख को हथेलियों में छिपा, लम्बी साँस ले, बहुत देर तक रोया-धोया और फूलों के हार उतार फेंके ।'

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार ने 'विरहोत्कण्ठिता' का यह स्वरूप निर्दिष्ट किया है—

'अनेककार्यव्यासङ्गाद् यस्या नागच्छति प्रियः ।
'तदनागतदुःखार्त्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥'

(नाट्यशास्त्र : २२-२१४)

अनुवाद— अब यदि उपर्युक्त नायिका-भेदों का परिगणन किया जाय तो सब मिलकर १२८ (१६×८=१२८) नायिका-भेद सिद्ध हुये । इन १२८ नायिकाओं के भी उत्तम, मध्यम और अधम ये तीन प्रकार हैं इसलिये समस्त नायिका-भेद ३८४ (१२८× ३=३८४) हुये ।

यहाँ किसी आचार्य का मत है कि उपर्युक्त नायिकाभेद युक्ति-युक्त नहीं । बात यह

दिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इति त्र्यवस्थैवानयोरस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।' इति कश्चित् ।

क्वचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

यथा—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
विट ! विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः ।'
'तव कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।
ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ॥'
'मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥'
'इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण ।
श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ॥'

है कि 'कन्यका' और 'परोढा' प्रकार की द्विविध परकीया नायिकाओं की तीन ही अवस्थाएँ युक्तिसिद्ध हो सकती हैं (न कि आठों) जैसे कि (१) किसी प्रेमी के साथ सुरतसंकेत हो चुकने पर, मिलन-काल के पहले 'विरहोत्कण्ठिता' की अवस्था (२) तदनन्तर विदूषक अथवा चेट आदि के साथ अभिसरण करने पर 'अभिसारिका' की अवस्था और (३) किसी कारणवश संकेत-स्थान पर नायक के न आ सकने पर 'विप्रलब्धा' की अवस्था । ऐसा इसलिए क्योंकि दोनों प्रकार की (कन्यका और परोढा) ये नायिकायें (स्वाधीनपतिका नहीं अपितु) 'अस्वाधीनपतिका' ही रहा करती हैं । [किन्तु यह मत ठीक नहीं क्योंकि 'पति' अथवा 'भर्ता' का अभिप्राय यहाँ प्रणयी अथवा कामुक माना गया है । 'कन्यका' और 'परोढा' भी स्वाधीनपतिका (स्वाधीनकामुका) हो सकती हैं क्योंकि पिता और पति के घर में भी कोई स्त्री किसी दूसरे से प्रेम कर सकती है और तब उसे भी 'खण्डिता' आदि-आदि की अवस्थाओं से गुजरना पड़ सकता है ।]

काव्य साहित्य में इन उपर्युक्त नायिका-भेदों का संकीर्ण-स्वरूप भी यत्र-तत्र चित्रित मिलता है । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपाल-वध में ही) :—

'अरे लम्पट ! हमें तू इन फूली टहनियों को तोड़-तोड़ क्यों दे रहा है ! जा, इन्हें अपनी उस प्यारी को जाकर दे जो एकान्त-संभोग में तुझे चूस रही है और जिसे छोड़ना तेरे वश के बाहर है । मेल तो समान स्वभाववालों में ही ठीक है (यह भी विटप-फूली टहनी-है और वह भी 'विटपा'-तुझ जैसे लम्पट की प्यारी-है) ।'

'अरे धूर्त ! मेरे कानों के लिए इन कोमल किसलयों और फूलों के कर्णफूल तू क्यों बनाना चाहता है । अरे ! मेरे कान तो तेरी सर्वविदित लम्पट-चरित्र-गाथाओं से यों ही भरे हुए हैं ।

'अरे नीच ! भौंरों की गुञ्जार से भरी इस 'कली' को मुझे क्यों दे रहा है । अरे ! जब तू उस दुष्टा के घर रात बिता चुका तब तो तूने मुझे 'कलि' (कलह का पर्याप्त कारण) दे ही डाली ।'

'इस प्रकार बोलती हुई नायिका ने, अपने प्रेमी पर, लम्बे-लम्बे (कानों तक फैले) किंवा पक्ष्म-केशरों से भरे हुए नीलकमल और नयनों की एक ही चोट मारी ।'

इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताऽधीरमध्यताऽधीरप्रगल्भताभिः संकीर्णा।

एवमन्यत्राऽप्यूह्यम्।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया॥ ८८॥

ता नायिकाः।

यहाँ (माघ की उपर्युक्त सूक्तियों में) यह स्पष्ट है कि जिस नायिका का चित्रण किया हुआ है उसमें 'वक्रोक्ति'-नैपुण्य के कारण 'धीरमध्यता' परुषवचन के कारण 'अधीरमध्यता' और कर्णोत्पल से ताड़न के कारण 'अधीरप्रगल्भता' के स्वभाव घुले-मिले हैं।

इसी प्रकार अन्य नायिका-भेद-सांकर्य स्वयं देखे जा सकते हैं।

इन उपर्युक्त नायिका-प्रकारों के अतिरिक्त अन्यान्य (दिव्या, अदिव्या, पद्मिनी, हस्तिनी आदि-आदि) नायिका-प्रकार भी परिगणित किये जा चुके हैं किन्तु ग्रन्थगौरव के भय से यहाँ इनका परिगणन नहीं किया गया और ऐसा करना ठीक भी नहीं है।

यहाँ कारिका में 'ताः' का अभिप्राय 'नायिकाओं' का है।

विमर्श—(क) सहित्यदर्पणकार ने जैसा नायिका-भेद निरूपण किया है उसके आधार के रूप में शारदातनय (१२ वीं शताब्दी) कृत 'भावप्रकाशन' आदि नाट्यशास्त्रीय-ग्रन्थ माने जा सकते हैं। आचार्य शारदातनय ने स्पष्ट कहा है—

'त्रयोदशविधाः स्वीया द्विविधाऽन्याङ्गना मता।
एका वेश्या पुनश्चाष्टाववस्थाभेदतोऽपि ताः॥
पुनश्च ताः त्रिधा सर्वा उत्तमाधममध्यमाः।
इत्थं शतत्रयं तासामशीतिश्चतुरुत्तरा॥
सङ्ख्येयं रुद्रटाचार्यैरुपभोगाय दर्शिता।
अन्या ऽप्यवस्थैवेत्येके कथयन्ति मनीषिणः॥
प्रथमायामवस्थायामन्या स्याद्विरहोन्मनाः।
ततोऽभिसारिका भूत्वा सङ्केते पश्यति प्रियम्॥
सङ्केताच्चेव परिभ्रष्टा विप्रलब्धा भवेत् पुनः।
पराधीनतया तस्या नान्याऽवस्था विलोक्यते॥'

(भावप्रकाशन : ४र्थ अधिकार)

(ख) भरतमुनि का नाट्यशास्त्र नायिकानिरूपण का भी आकरग्रन्थ है। निम्न पंक्तियों में नानाप्रकार की नायिकाओं का स्वरूप-निर्देश है—

'भूयिष्ठमेव लोकोऽयं सुरतं सर्वदेच्छति।
सुखस्य हि स्त्रियो मूलं नानाशीलाश्च ताः पुनः॥
देव-दानव-गन्धर्व-रक्षो-नाग-पतत्रिणाम्।
पिशाच-यक्ष-व्यालानां नर-वानर-हस्तिनाम्॥
मृग-मीनोष्ट्र-मकर-खर-सूकर-वाजिनाम्।
महिषाजगवादीनां तुल्यशीलाः स्त्रियो मताः॥'

(नाट्यशास्त्र : २२-९९-१०१)

साहित्यदर्पणकार ने इन अनन्त नायिका-प्रकारों का निर्देश मात्र करके जो ग्रन्थ का आकार नहीं बढ़ाया, वह अच्छा ही किया।

(नायिकाओं के यौवनालंकार)

अथासामलङ्काराः—

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥ ८९ ॥
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ॥ ९० ॥
लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्बोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥ ९१ ॥
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ॥ ९२ ॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि संभवन्ति । किंतु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति ।

अनुवाद—अब नायिकाओं के अलङ्कारों का निर्देश किया जा रहा है—

नायिकाओं के ये २८ अलङ्कार हैं जो कि (शृङ्गाराभिव्यञ्जक) 'सात्त्विक' अलङ्कार कहे गये हैं और उनके यौवन से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें 'अङ्गज' अलङ्कार तीन हैं—(१) भाव, (२) हाव और (३) हेला। इनमें जिन्हें 'अयत्नज' अलङ्कार कहा करते हैं वे सात हैं—(४) शोभा, (५) कान्ति, (६) दीप्ति, (७) माधुर्य, (८) प्रगल्भता, (९) औदार्य और (१०) धैर्य। 'स्वभावज' अलङ्कारों में इन १८ अलङ्कारों की गणना है—(११) लीला, (१२) विलास, (१३) विच्छित्ति, (१४) विब्बोक, (१५) किलकिञ्चित, (१६) मोट्टायित, (१७) कुट्टमित, (१८) विभ्रम, (१९) ललित, (२०) मद, (२१) विहृत, (२२) तपन, (२३) मौग्ध्य, (२४) विक्षेप, (२५) कुतूहल, (२६) हसित, (२७) चकित और (२८) केलि।

इन २८ अलङ्कारों में पूर्व परिगणित १० अलङ्कार (भाव से धैर्य तक) नायक के भी सात्त्विक किंवा यौवन-सम्बन्धी अलङ्कार माने जाया करते हैं।

यहाँ (कारिका में) 'भावाद्या दश' का अभिप्राय पूर्वोक्त (१) 'भाव' से लेकर (१०) 'धैर्य' पर्यन्त अलङ्कारों का है जो कि (नायिका के अतिरिक्त) नायक के भी अलङ्कार हैं। तब भी इतना तो निश्चित है कि इनकी जैसी सुन्दरता और विचित्रता नायिका में रहने पर दिखायी दिया करती है वैसी नायक में रहने पर नहीं।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'सामान्याभिनय' के प्रसङ्ग में नायक और नायिका के इन अलङ्कारों का स्वरूप-निर्देश और निरूपण किया है—

'अलङ्कारास्तु नाट्यज्ञैर्ज्ञेया भावरसाश्रयाः ।
यौवनेऽभ्यधिकाः स्त्रीणां विकारा वक्त्रगात्रजाः ॥
आदौ त्रयोऽङ्गजास्तेषां दश स्वाभाविकाः परे ।
अयत्नजाः पुनः सप्त रसभावोपबृंहिताः ॥

क्रमशः अलङ्कार-निरूपण (१ भाव)

तत्र भावः—

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ॥ ९३ ॥

जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः।

यथा—

'स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः।
सैवेयमबला किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥'

(२—हाव)

अथ हावः—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः।

देहात्मकं भवेत्सत्त्वं सत्त्वाद्भावः समुत्थितः।
भावात्समुत्थितो हावो हावाद्धेला समुत्थिता ॥
....
लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा ॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश स्त्रीणां स्वभावजाः।
....
शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च तथा माधुर्यमेव च।
धैर्यं प्रागल्भ्यमौदार्यमित्येते स्युरयत्नजाः ॥' इत्यादि।

(नाट्यशास्त्र २२. ४–२६)

अनुवाद—इन अलङ्कारों में 'भाव' का यह स्वरूप है—

नायिका (और नायक) के निर्विकार हृदय में काम का प्रथम उन्मेष 'भाव' है।

अर्थात् 'भाव' वह अलङ्कार है जिसे जन्म से लेकर (यौवनारम्भ तक) निर्विकृत नायिका-(किंवा नायक) के हृदय में रतिवासना का प्रथम उद्बोधन कह सकते हैं। जसे कि—

'वसन्त की ऋतु भी वही है, मलय-समीर भी कोई नया नहीं और यह रमणी भी वही है किन्तु इसका मन कुछ न कुछ दूसरा ही लग रहा है।'

विमर्श—काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'भाव' की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—

'तत्राङ्गस्याल्पो विकारोऽन्तर्गतवासनात्मतया वर्तमानं रत्याख्यं भावं भावयन् सूचयन् भावः। यथा—

दृष्टिः सालसतां बिभर्ति न शिशुक्रीडासु बद्धादरा
श्रोत्रं प्रेषयति प्रवर्तितसखीसंभोगवार्तास्वपि।
पुंसामङ्कमपेतशङ्कमधुना नारोहति प्राग् यथा
बाला नूतनयौवनव्यतिकरावष्टभ्यमाना शनैः ॥

अर्थात् 'भावात्मक' अङ्गविकार को इसलिये 'भाव' कहते हैं क्योंकि यह नायिका के हृदय में (और नायक के भी हृदय में) वासनारूप से विराजमान रतिभाव को भावित अथवा सूचित किया करता है।

अनुवाद—'हाव' का अभिप्राय यह है—

वह भाव ही वस्तुतः 'हाव' है जो कि (नायक-नायिका के) भ्रूकुटि किंवा नयनों के

भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥ ९४ ॥

यथा—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥'

(३—हेला)

अथ हेला—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु ।

स एव भाव एव ।

यथा—

'तह ते झत्ति पउत्ता वहुए सव्वङ्गविब्भमा सअला ।
संसइअमुद्धभावा होइ चिरं जइ सहीणं पि ॥'
(तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः ।
संशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ॥)

विचित्र व्यापारों से संभोग-कामना प्रकाशित किया करता है और हृद्गत रति-विकार का किञ्चिन्मात्र परिलक्षक भी हुआ करता है उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास के 'कुमारसंभव' में पार्वती का यह हाव-वर्णन)—

'(जिस समय महायोगी भगवान् शङ्कर के हृदय पर काम के बाण गिरने लगे, उस समय) पार्वती भी नवकुसुमित कदम्ब-कोरकों की भांति (रोमाञ्चित) अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग से अपनी हृद्गत रतिभावना प्रकाशित करने लगीं और अपने अतिमनोरम किंवा कटाक्षांचित मुख को तिरछा घुमाये खड़ी हो गयीं ।'

विमर्श—'हाव' की परिभाषा आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में यह है—

'बहुविकारात्मा भ्रूतारकचिबुकग्रीवादेर्धर्मः स्वचित्तवृत्तिं परत्र जुह्वतीं कुमारीं हावयतीति हावः ।'

'स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः ।
गतीनामारम्भः किसलयितलीलापरिकरः
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥'

(काव्यानुशासन ७. ३४)

अर्थात् 'हाव' युवती नायिका का वह अङ्गविकार है जो उसके प्रेम-पगे हृदय की एक सार्वजनिक सूचना दिया करता है ।

अनुवाद—'हेला' का निरूपण किया जा रहा है—

'हेला' का अभिप्राय वस्तुतः वह 'भाव' ही है जिसे (नायक-नायिका के हृदय में रत्युद्बोध के अनन्तर) अङ्ग-प्रत्यङ्ग का एक ऐसा विकार कहा करते हैं जो सब पर प्रकट हो जाय ।

यहाँ कारिका में 'स एव' का अभिप्राय 'भाव एव' (भाव) का ही है ।

जैसे कि—

'नववधू के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के सभी विभ्रम विलास इतनी शीघ्रता से प्रकट होने लगे कि सखियों को भी उसकी मुग्धता पर संदेह होने लगा ।'

(४—शोभा)

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम् ॥ ९५ ॥

शोभा प्रोक्ता—

तत्र यौवनशोभा यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥'

एवमन्यत्रापि।

विमर्श—(क) काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'हेला' की यह परिभाषा की है—

'यदा तु रतिवासनाप्रबोधात्तां प्रबुद्धां रतिमभिमन्यते केवलं समुचितविभावोपग्रहविरहान्निर्विषयतमा स्फुटीभावं प्रतिपद्यते तदा तज्जनितबहुतराङ्गविकारात्मा हेला, हावस्य सम्बन्धिनी क्रिया। प्रसरत्ता वेगवाहित्वमित्यर्थः। वेगेन हि गच्छन् हेलतीत्युच्यते लोक इति। एवं चोद्भिद्योद्भिद्य विश्राम्यन् हावः। स एव प्रसरणैकस्वभावो हेलेति।'''तदेतद् ब्राह्मणस्योपनयनमिव भविष्यत् पुरुषार्थसन्नपीठबन्धत्वेन योषितामामनन्ति।'

अर्थात् 'हाव' का ही विकास 'हेला' है। किसी द्विज के उपनयन की भांति नारी की 'हेला' पुरुषार्थसत्र का पीठबन्ध है।

(ख) भाव, हाव और हेला का विश्लेषण नायक-नायिका हृदय में रति-बीज के उत्पाद-उद्घाट और औन्मुख्य का विश्लेषण है। महाकवियों की कृतियों में प्रसिद्ध नायिकाओं के यौवनालङ्कारों का जो चित्रण है उसमें इन तीन अलङ्कारों का वास्तविक स्वरूप-सौन्दर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। उत्तमप्रकृति नायिका के चित्रण में इन्हीं अलङ्कारों की योजना महाकवियों की कला की विशेषता है। इसीलिये नाट्यदर्पणकार का स्पष्ट कथन है—

'भवति हि तथाभूतं वागादिवैचित्र्यमुपलभ्योद्बुद्धोऽयमन्तःकामप्रदीपोऽस्या इत्युत्तमप्रकृतिश्च नायिकेयमिति सहृदयस्य निश्चय इति—(नाट्यदर्पण-४ अर्थ विवेक)'

अर्थात् उत्तम प्रकृति नायिका की अन्तःशोभा तभी छिटक पड़ती है जब कि उसके हृदय में कामावतार की शुभ-सूचना देनेवाले वागादि-वैचित्र्य उसके शरीर पर प्रस्फुटित हो उठते हैं।

'भाव' तो नारीशरीर का प्रथम कामसूचक मनोरम विकार है। 'हाव' भाव के उद्रेक पर निर्भर है और जिसे 'हेला' कहते हैं वह हाव के उन्मेष का परिणाम है।

अनुवाद—शोभा का निरूपण किया जा रहा है—जिसे 'शोभा' कहते हैं वह रूप, यौवन, सौकुमार्य किंवा सुखभोग से सम्भूत नायिका (और नायक के) शरीर का एक सौन्दर्य है। उदाहरण के लिये यौवन-संभूत शोभा (जो कि महाकवि कालिदास की प्रतिभा द्वारा चित्रित हुई है)—

'पार्वती बाल्यावस्था के बाद उस अवस्था (यौवनावस्था) में पहुँची जो कि रमणी की अङ्गलतिका की एक सहज भूषण-सम्पत्ति हुआ करती है, जिसे बिना आसवपान के ही मद की उत्पत्ति का कारण माना जाता है और जो वस्तुतः काम का एक ऐसा अस्त्र है जो पांचों पुष्पास्त्रों से भी बढ़कर अमोघवीर्य है।'

इसी प्रकार रूप-संभूत शोभा आदि-आदि शोभा-प्रकारों के निदर्शन काव्य-साहित्य में यत्र-तत्र स्वयं देखे जा सकते हैं।

(५—कान्ति)

अथ कान्तिः—

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।

मन्मथोन्मेषेणातिविस्तीर्णा शोभैव कान्तिरुच्यते ।

यथा—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने—' इत्यत्र ।

(६—दीप्ति)

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ९६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

'तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥'

(७—माधुर्य)

अथ माधुर्यम्—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'शोभा' का यह स्वरूप-विवेक किया है—

'रूपयौवनलावण्यैः रूपभोगोपबृंहितः ।
अलङ्करणमङ्गानां शोभेति परिकीर्तिता ॥' (नाट्यशास्त्र २२.२७)

अनुवाद—'कान्ति' का स्वरूप यह है—

उपर्युक्त 'शोभा' ही 'कान्ति' बन जाती है जब कि उसमें कामविलास की वृद्धि परिलक्षित होने लगती है।

तात्पर्य यह है कि स्मरोद्रेक से अति समृद्ध 'शोभा' का ही दूसरा नाम 'कान्ति' है।

इसके उदाहरण के लिये 'नेत्रे खञ्जनगञ्जने' आदि पूर्वोद्धृत सूक्ति पर्याप्त है।

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'कान्ति' का यह स्वरूप है—

अनुवाद—'दीप्ति' का निरूपण किया जा रहा है—

जिसे 'दीप्ति' कहते हैं वह अतिविस्तीर्ण 'कान्ति' ही है (अन्य कुछ नहीं)।

उदाहरण के लिये, मेरी स्वरचित 'चन्द्रकला' नाटिका में, चन्द्रकला का यह वर्णन—

'यह सुन्दरी चन्द्रकला तरुणता का साक्षात विलास है, बढ़ती लावण्य-सम्पदा का सुन्दर हास है, पृथिवी की एकमात्र आभरण-शोभा है और है युवकों के हृदय का वशीकरण-मन्त्र।'

विमर्श-भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय ने 'दीप्ति' का यह लक्षण किया है—

'कान्तिरेवोपभोगेन देशकालगुणादिभिः ।
उद्दीप्यमाना विस्तारं याता दीप्तिरिति स्मृता ॥'

अनुवाद—'माधुर्य' का लक्षण किया जा रहा है—

यथा—

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥'

(८—प्रगल्भता)

अथ प्रगल्भता—

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

यथा—

'समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि ।
दष्टाश्च दशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः ॥'

'माधुर्य' (नायिका और नायक की) एक ऐसी रमणीयता है जो सभी प्रकार की अवस्थाओं में अक्षुण्ण रहा करती है। उदाहरण के लिये (महाकवि कालिदास द्वारा चित्रित शकुन्तला के व्यक्तित्व का यह माधुर्य):—

'यह सुन्दरी (शकुन्तला) वल्कल के भी परिधान से कितनी सुन्दर, कितनी मनोरम लग रही है! शैवल लताओं की लपेट से भी कमल सुन्दर ही लगा करता है। कलङ्क की रेखा भी शीतांशु की शोभा ही बढ़ाया करती है। जो भी सुन्दर व्यक्तित्व है उसके लिये सब कुछ (चाहे वह सुरूप हो या कुरूप हो) सौंदर्यवर्द्धक ही बन जाया करता है।'

विमर्श—नाट्यशास्त्र (२२. २९) में 'माधुर्य' की यह परिभाषा की गयी है—

'सर्वावस्थाविशेषेषु दीप्तेषु ललितेषु च ।
अनुल्बणत्वं चेष्टाया माधुर्यमिति संज्ञितम् ॥'

रसार्णवसुधाकरकार श्रीशिङ्गभूपाल ने भी 'माधुर्य' का उपर्युक्त ही अभिप्राय लिया है—

'माधुर्यं नाम चेष्टानां सर्वावस्थासु मार्दवम् ।'

अनुवाद—'प्रगल्भता' का स्वरूप बताया जा रहा है—

'प्रगल्भता' (प्रागल्भ्य) एक ऐसी विशेषता है जिसे (नायिका और नायक-हृदय की) निर्भयता कह सकते हैं। जैसे कि—

'रमणियों का क्या कहना! यदि वे आलिङ्गित हों तो आलिङ्गनों से, चुम्बित हों तो चुम्बनों से, दन्तक्षत हों तो दन्तक्षतों से अपने प्रेमियों को अपना दास तो बना ही लेती हैं।'

विमर्श—'प्रागल्भ्य' का अभिप्राय नाट्यशास्त्र (२२.३१) के अनुसार यह है—

'प्रयोगनिःसाध्वसता प्रागल्भ्यं समुदाहृतम् ।'

और अभिनवभारतीकार अभिनवगुप्ताचार्य ने 'प्रयोग' का तात्पर्य ६४ कामकला का लिया है—

'प्रयोग' इति कामकलादौ चातुःषष्टिक इत्यर्थः, यथाहुः—

'अन्यदा भूषणं पुंसः शमो लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे प्रागल्भ्यं सुरतेष्विव ॥'

(९—औदार्य)

अथौदार्यम्—

—औदार्यं विनयः सदा ॥ ९७ ॥

यथा—

'न ब्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं,
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि ।
कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः
सख्या वक्त्रमभिप्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥'

(१०—धैर्य)

अथ धैर्यम्—

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ।

यथा—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया
कुलममलिनं न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

अनुवाद—औदार्यः—'औदार्य' का अभिप्राय है कदापि कोप न करने अथवा सदा विनम्र रहने का। जैसे कि—

'(नायक की उक्ति—) मेरे प्रेमापराध के स्पष्टतया प्रकट हो जाने पर भी वह सुन्दरी न तो मुझे कोई कड़ी बात बोलती है, न मुझ पर भौंहें तरेरती है और न कानों से कनफूल निकाल-निकाल कर मेरे सामने फेंकती है। वह तो भीतर के घर के झरोखे से इधर-उधर बाहर झाँक-झाँककर केवल अपनी सखी के मुख की ओर आँसू भरी निगाह डाल देती है।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'औदार्य' का लक्षण यह है—

'औदार्यं प्रश्रयः प्रोक्तः सर्वावस्थानुगो बुधैः ॥'

—(नाट्यशास्त्र २२-३१)

और इसे अभिनवगुप्तपादाचार्य ने इस प्रकार समझाया है—

'सर्वास्वमर्षेर्ष्याक्रोधाद्यवस्थास्वपि यत्परुषवचनाद्यनुदीरणं तदौदार्यम् ।'

अनुवाद—धैर्यः—'धैर्य' का अभिप्राय (नायक और नायिका की) एक ऐसी मनोवृत्ति है जिसमें न तो कोई चंचलता रहा करती है और न किसी प्रकार की आत्मश्लाघा टिका करती है।

जैसे कि (महाकवि भवभूति के 'मालतीमाधव' में चित्रित 'मालती' का धैर्य-चित्र)—

'भले ही रातों में निरन्तर चन्द्रमा जलता रहे, भले ही कामदेव आग उगलता रहे, भला मौत के अतिरिक्त और मेरा क्या बिगड़ जायगा। मेरे प्रियतम, मेरे पिता, मेरी माता, मेरे सभी सगे-सम्बन्धी निष्कलंक कुल के ही रहेंगे। मुझे अपनी कोई चिन्ता नहीं और न अपने प्राणों की नहीं कोई मोह-ममता है।'

(११—लीला)

अथ लीला—

अङ्गैर्वेषैरलङ्कारैः प्रेमिभिर्वचनैरपि ॥ ९८ ॥
प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ।

यथा—

मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी ।
हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥

(१२—विलास)

अथ विलासः—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥ ९९ ॥
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ।

यथा—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

विमर्श—आचार्य हेमचन्द्र ने 'धैर्य' का यही स्वरूपविवेक किया है—

'अचापलाविकत्थनत्वे धैर्यम्—
चापलानुपहतत्वमात्मगुणानाख्यानं धैर्यम् ।' (काव्यानुशासन ७.५०)

अनुवाद—लीला :—'लीला' का अभिप्राय है प्रेमोद्रेक के कारण, क्या अंग, क्या वेष, क्या आभूषण और क्या प्रेमपगे वचन—सब से प्रियतम के अनुकरण का। जैसे कि—

'उन देवी पार्वती की जय हो जो कमलतन्तुओं के वलय से (शिव के) व्याल-वलय का और वेणी के बन्ध से (शिव के) जटाजूट का अनुकरण किया करती हैं।'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने नाटक-प्रयोक्ताओं की दृष्टि से 'लीला' का यह निरूपण किया है—

'वागङ्गालङ्कारैः शिष्टैः प्रीतिप्रयोजितर्मधुरैः ।
इष्टजनस्यानुकृतिर्लीला ज्ञेया प्रयोगज्ञैः ॥'
(नाट्यशास्त्र २२. १४)

यही बात काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने भी कही है—

'वाग्वेषचेष्टितैः प्रियस्यानुकृतिर्लीला ।
प्रियगतानां वाग्वेषचेष्टानां प्रियबहुमानातिशयेन न तूद्भटरूपेणात्मनि योजनमनुकृतिर्लीला ।'

अनुवाद—विलास :—प्रिय के दर्शन, आगमन आदि के कारण, चाल-ढाल, उठने-बैठने, आसन-शयन किंवा मुख और नेत्र आदि के व्यापारों की आनन्द-सूचक विशेषता का नाम 'विलास' है। जैसे कि (महाकवि भवभूति के 'मालतीमाधव' में चित्रित 'मालती' का विलास)—

'माधव का दर्शन क्या हुआ आयताक्षी मालती के ऐसे भाव प्रकट होने लगे जिनका वाणी से वर्णन असंभव है, जिनसे विभ्रम-विलासों की विचित्रतायें छिटक पड़ीं जिनसे

(१३—विच्छित्ति)

अथ विच्छित्तिः—

स्तोकाप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ।

यथा—

'स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम् ।
वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्वितीयानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥'

(१४—विब्बोक)

अथ विब्बोकः—

विब्बोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः ॥ १०० ॥

यथा—

'यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा,
याः प्राणान् वरमर्पयन्ति, न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये ।

(स्तम्भादि) सात्त्विक भावों का स्रोत फूट पड़ा, जिन्होंने उसे अधीर बना दिया और एक शब्द में जिन्हें काम की कला विलासों का लोकोत्तर प्रकाशन कहा जा सकता है !'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'विलास' का स्वरूप यह है—

'स्थानासनगमनानां हस्तभ्रूनेत्रकर्मणाञ्चैव ।
उत्पद्यते विशेषः यः श्लिष्टः स तु विलासः स्यात् ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. २५)

अर्थात् प्रिय के सम्प्राप्तिकाल में नायिका की मनोरम आंगिक चेष्टायें 'विलास' कही जाती हैं ।

अनुवाद—विच्छित्तिः—'विच्छित्ति' का अभिप्राय है-सौन्दर्य की वृद्धि करनेवाली थोड़ी भी वेष-रचना का । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में चित्रित विच्छित्ति-चित्र)—

'कामिनियों की वेष रचना क्या ! यदि कामकलाओं का विलास हो तो निर्मल जल के स्नान से शुद्ध शीतल शरीर, ताम्बूलराग से सुन्दर ओठ और सूक्ष्म किंवा निर्मल वस्त्र-बस यही कामिनियों का वेष-सौन्दर्य है ।

विमर्श—भरतमुनि ने 'विच्छित्ति' का यह लक्षण किया है—

'माल्याच्छादनभूषणविलेपनानामनादरन्यासः ।
स्वल्पोऽपि परां शोभां जनयति यस्मात्तु विच्छित्तिः ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. २६)

और आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 'विच्छित्ति' का यह स्वरूप—

'गर्वादल्पाकल्पन्यासः शोभाकृद्विच्छित्तिः ।

सौभाग्यगर्वादनादरेण कृतो माल्याच्छादनभूषणविलेपनरूपस्याल्पस्याकल्पस्य न्यासः सौभाग्यमहिम्ना शोभाहेतुर्विच्छित्तिः । (काव्यानुशासन ७. ३८)

यद्यपि साहित्यदर्पणकार ने 'विच्छित्ति' के निदान 'सौभाग्यगर्व' का उल्लेख नहीं किया है किन्तु यह अभिप्राय यहाँ अन्तर्निगूढ़ अवश्य है ।

अनुवाद—विब्बोक :—सौभाग्य-गर्व के कारण प्रियवस्तु के प्रति भी अनादर का जो भाव है उसे 'विब्बोक' कहते हैं । उदाहरण के लिए—

'तीनों लोकों से विलक्षण प्रकृतिवाली वह वामा सुन्दरी तुम पर प्रसन्न हो जो

अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधियोसां निषेधात्मक-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते ॥'

(१५—किलकिञ्चित)

अथ किलकिञ्चितम्—

स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम् ।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात् ॥ १०१ ॥

यथा—

'पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥'

(१६—मोट्टायित)

अथ मोट्टायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥ १०२ ॥

सद्गुणानुसरण में सदा तत्पर रहने पर भी सर्वत्र दोष निकाला करती है, जो प्रियतम के लिये प्राणों के न्यौछावर करने में उद्यत होने पर भी उस पर पूरी निगाह नहीं डाला करती और जो किसी प्रिय वस्तु के प्रति बलवती अभिलाषा रखने पर भी उसे मांगने का हाल नहीं जानती ।

विमर्श—काव्यानुशासनकार आचार्य हेमचन्द्र ने 'विब्बोक' का यह लक्षण किया—
'इष्टेऽप्यवज्ञा विब्बोकः सौभाग्यगर्वादिष्टेऽपि वस्तुन्यनादरो विब्बोकः ।'

(काव्यानुशासन ७. ३९)

इसका सुन्दर उदाहरण महाकवि कालिदास की यह सूक्ति है—

'निर्विभुज्य दशनच्छदं ततो वाचि भर्तुरवधीरणापरा ।
शैलराजतनया समीपगामाललाप विजयामहेतुकम् ॥'

(कुमारसंभव ८. ४९)

अनुवाद—किलकिञ्चित :—प्रियतम के सङ्गम, आगमन आदि-आदि से संभूत आनन्द के कारण मुसकुराहट, अकारण रोदन, हँसी, त्रास, क्रोध, श्रम आदि-आदि के विचित्र मिश्रण को 'किलकिञ्चित' कहा जाता है । जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में चित्रित यह 'किलकिञ्चित'-चित्र)—

'सुन्दरी ने अपने प्रियतम की इच्छा का विघात न करके भी, नीवीमोक्ष में तत्पर उसके हाथों को रोका; मन्द मुसकान के साथ उसे मीठी-मीठी झिड़कियाँ दीं और आनन्द का अनुभव करते हुए भी मनोहर शुष्क रोदन (यों ही रो पड़ना) कर डाला ।'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि के अनुसार 'किलकिञ्चित' का यह स्वरूप है

स्मितरुदितहसितभयहर्षगर्वदुःखश्रमाभिलाषाणाम् ।
सङ्करकरणं हर्षादसकृत् किलकिञ्चितं ज्ञेयम् ॥'

(नाट्यशास्त्र २२.१८)

'किलकिञ्चित' का भी कारण सौभाग्यगर्व ही है न कि और कुछ ।

अनुवाद—मोट्टायित :—प्रियतम के चरित्र से सम्बद्ध आलाप-संलाप के प्रसङ्गों में

यथा—

'सुभग ! त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा ।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना ॥'

(१६—कुट्टमित)

अथ कुट्टमितम्—

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात् ।
आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम् ॥ १०२ ॥

यथा—

'पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥'

प्रेमपगी नायिका के कर्णकण्डूयन (कान खुजलाने) आदि का नाम 'मोट्टायित' कहा जाया करता है । जैसे कि—

'अरे सौभाग्यशाली युवक ! तुम्हारे सम्बन्ध में बातचीत चलते ही वह सुन्दरी अपने कानों के खुजलाने में बड़ा आनन्द लेने लगती है । उसका मुखकमल जंभाई लेने लगता है और उसके अङ्ग-अङ्ग अंगड़ाई से भर उठते हैं ।'

विमर्श—'नाट्यशास्त्र' में 'मोट्टायित' की यह परिभाषा है—

'इष्टजनस्य कथायां लीलाहेलादिदर्शने वापि ।
तद् भावभावनाकृतमुक्तं मोट्टायितं नाम ॥'

जिसकी अभिनवभारतीकार के शब्दों में यह व्याख्या है—

'इष्टजनस्येति—कथने दर्शने वा कान्तस्य यदुत्पद्यते योषितो लीलादि तद्भावभावनवशान्मदनाङ्गमर्दपर्यन्तं तदङ्गमोट्टनान्मोट्टायितम् ।' (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती : २२-१९)

अभिप्राय यह है कि प्रियतम के दर्शनादि से प्रेमपगी नायिका की अंगड़ाई आदि 'मोट्टायित' है ।

अनुवाद—कुट्टमित :—काव्यकोविद लोग जिस यौवनालङ्कार को 'कुट्टमित' कहते हैं उसका अभिप्राय नायक के द्वारा, केश, स्तन, अधर आदि के ग्रहण में, आनन्द लेनेवाली भी नायिका का, संभ्रमवश, अपने सिर, हाथ आदि का (निषेधसूचक) विधूनन अथवा कंपन है ।

जैसे कि (महाकवि माघ के 'शिशुपालवध' में कुट्टमित का यह-चित्रण)—
'जैसे ही प्रियतम ने (प्रेमिका के) पल्लवोपम अधरबिम्ब पर अपने दाँतों के चिह्न बनाये, वैसे ही सुन्दरी के मुखरित कङ्कण-युक्त हाथ ने, मानो कष्ट का निवेदन करते हुए, झन-झनाहट मचा दी ।'

विमर्श—भरतमुनि के अनुसार 'कुट्टमित' का यह स्वरूप है—

'केशस्तनाधरादिग्रहणादतिहर्षसंभ्रमोत्पन्नम् ।
कुट्टमितं विज्ञेयं सुखमपि दुःखोपचारेण ॥'

(नाट्यशास्त्र २२.२०)

जिसका भावानुवाद भावप्रकाशनकार आचार्य शारदातनय के शब्दों में यह है—

'सौख्योपचारैः सानन्दाधरकेशग्रहादिभिः ।
दुःखोपचारवत् कुप्येद्यदिः कुट्टमितं तु तत् ॥'

(भावप्रकाशन १. २५)

(१८—विभ्रम)

अथ विभ्रमः—

त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
अस्थाने विभ्रमादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः ॥ १०४ ॥

यथा—

'श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया ।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

(१९—ललित)

अथ ललितम्—

सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत् ।

यथा—

'गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥'

अनुवाद—विभ्रम :—प्रियतम के आगमन आदि के प्रसगों में आनन्दातिरेक अथवा अनुरागाधिक्य के कारण, नायिका का, संभ्रमवश, अपने अलङ्कारादि का अस्त-व्यस्त उपन्यास 'विभ्रम' कहा गया है । उदाहरण के लिये—

'जैसे ही सुन्दरी ने यह सुना कि उसका प्रियतम घर के बाहर आ पहुँचा है कि उसने अपनी वेश-भूषा अधूरी छोड़ दी, अञ्जन माथे पर लगा लिया, महावर आँखों में डाला और तिलक बालों पर जमा दिया !'

विमर्श—नाट्यशास्त्रकार भरतमुनि के शब्दों में 'विभ्रम' या यह स्वरूप है—

'विविधानामर्थानां वागङ्गाहार्यसत्त्वयोगानाम् ।
मदरागहर्षजनितो व्यत्यासो विभ्रमो ज्ञेयः ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. १७)

जिसे काव्यानुशासनकार हेमचन्द्रसूरि ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

'वागङ्गभूषणानां व्यत्यासो विभ्रमः ।

सौभाग्यगर्वाद्वचनादीनामन्यथा निवेशो व्यत्यासो विभ्रमः । वचनेऽन्यथावक्तव्येऽन्यथा भाषणम् । हस्तेनादातव्ये पादेदानम् , रशनायाः कण्ठे न्यासः ।'

(काव्यानुशासन ७. ४०)

अनुवाद—ललित :—अङ्ग-प्रत्यङ्ग का सुकुमार विन्यास ही 'ललित' है ।

जैसे कि—(महाकवि माघ का यह 'ललित'-चित्रण)—

'यह सुन्दरी जब चली तब नूपुरों की मधुर झंकार के साथ चली, बाँयें पदकमल को विचित्रता से नचाते चली, दाहिने को धीरे से पृथ्वी पर दबाते चली और ऐसी चली मानो कामोन्माद के कारण मन्द चाल से चल रही हो ।'

विमर्श—'ललित' का स्वरूप नाट्यशास्त्र में यह है—

'हस्तपादाङ्गविन्यासो भ्रूनेत्रोष्ठप्रयोजितः ।
सौकुमार्याद् भवेद्यस्तु ललितं तत्प्रकीर्तितम् ॥'

(नाट्यशास्त्र २२. २२)

साहित्यदर्पणकार ने वस्तुतः इसी का अभिप्राय-प्रकाशन किया है ।

(२०—मद)

अथ मदः—

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः ॥ १०५ ॥

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥'

(२१—विहृत)

अथ विहृतम्—

वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम् ।

यथा—

'दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित् ।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम् ॥'

अनुवाद—मद :–सौभाग्यगर्व, यौवनगर्व आदि-आदि के कारण उत्पन्न होनेवाला जो विकार है वह 'मद' कहा गया है । जैसे कि—

'अरी मतवाली ! इस घमण्ड में न पड़ कि तेरे गालों पर तेरे प्रियतम के हाथों की रची मञ्जरी की पत्र-रचना पड़ी हुई है । अरी ! किसी और भी सुन्दरी के (अर्थात् मेरे) भाग्य में भी यह सब कुछ लिखा है, किन्तु दुःख है कि भावावेश से कपोल की कँपकँपी ऐसा नहीं होने देती ।'

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में, नायिका के स्वभावज यौवनालङ्कारों में 'मद' का उल्लेख नह मिलता । 'काव्यानुशासन'कार हेमचन्द्रसूरि तथा 'भावप्रकाशन'कार शारदातनय ने भी 'मद' की लक्षण-परिभाषा नहीं की है । आचार्य अभिनवगुप्त की 'अभिनवभारती' में 'मद' का संकेत अवश्य है किन्तु मदभेद के रूप में है जैसा कि निम्न पंक्तियों से स्पष्ट पता चलता है—

'एतावत एवेत इत्यत्र नियमो विवक्षितः । तेन-मौग्ध्य-मद-भाव-विकृत-परितपनादीना-मपि शाक्याचार्यराहुलादिभिरभिधानं विरुद्धमित्यलं बहुना ।'

(अभिनवभारती–नाट्यशास्त्र २२. ३१)

विश्वनाथ कविराज ने यहाँ अलंकारों में 'मद' की जो गणना कर डाली है उसका आधार 'अभिनवभारती' का उपर्युक्त 'मद'-निर्देश है ।

अनुवाद—विहृत :—'विहृत' का अभिप्राय बोलने के समय में भी लज्जावश, न बोल पाना है । जैसे कि—

'जब मैंने, दूर देश से लौटने पर, कुशल पूछी, तब वह कुछ भी न बोल पायी । किन्तु उसकी आँसू भरी आंखों ने सब कुछ बता ही दिया !'

विम —भरत मुनि के नाट्यशास्त्र (२२–२४) के अनुसार 'विहृत' का यह स्वरूप है—

'वाक्यानां प्रीतियुक्तानां प्राप्तानां यदभाषणम् ।
व्याजात्स्वभावतो वापि विहृतं नाम तद्भवेत् ॥'

(२२—तपन)

अथ तपनम्—

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरवेगोत्थचेष्टितम् ॥ १०६ ॥

यथा मम—

'श्वासान्मुञ्चति भूतले विलुठति, त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम् ।
किञ्च, प्राणसमान ! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,
निद्रां वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि ॥'

(२६—मौग्ध्य)

अथ मौग्ध्यम्—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०७ ॥

यथा—

'के द्रुमास्ते क वा ग्रामे सन्ति केन प्ररोपिताः ।
नाथ ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥'

(२४—विक्षेप)

अथ विक्षेपः—

भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम् ।
रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके ॥ १०८ ॥

यथा—

'धम्मिल्लमर्धयुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम् ।
किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी ॥'

(२५—कुतूहल)

अथ कुतूहलम्—

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम् ।

यथा—

'प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव ।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥'

(२६—हसित)

अथ हसितम्—

हसितं तु वृथाहासो यौवनोद्भेदसम्भवः ॥ १०९ ॥

अनुवाद—विक्षेप :—जिसे 'विक्षेप' कहा करते हैं वह प्रियतम के आगे, प्रियतमा का असम्पूर्णभूषण-परिधान, अकारण इतस्ततः अवलोकन और धीरे-धीरे रहस्यमय वार्तालाप है। जैसे कि—

'इस सुन्दरी को देखो—इसके केशपाश पूरे नहीं सजे, इसका तिलक अधूरा लगा है, धीरे-धीरे कुछ गुप्त बात बोल रही है और चकित-सी चारों ओर देखती जा रही है।'

विमर्श—भरत-मत से भिन्न मत जैसे कि पद्मश्री, सागरनन्दी किंवा मातृगुप्ताचार्य आदि के मत में, नायिका के स्वभावज अलङ्कारों में 'विक्षेप' की भी गणना है। साहित्यदर्पणकार ने इसीलिये इसे भी यहाँ निर्दिष्ट कर दिया है।

अनुवाद—कुतूहल :—किसी सुन्दर वस्तु के दर्शन के लिये मन में कौतुक की जागृति का नाम 'कुतूहल' है। जैसे कि (महाकवि कालिदास के रघुवंश में अयोध्या की नगर-नारियों का 'कुतूहल' चित्रण)—

'किसी सुन्दरी ने प्रसाधिका (महावर लगानेवाली स्त्री) के हाथ से अपने आधे महावर लगे पैर झटक दिये, अपनी मन्द गम्भीर गति बदल डाली और शीघ्रता के साथ (कुमार अज की वरयात्रा देखने की उतावली में) झरोखे तक आते-आते सारे रास्ते को महावर के रंग से लाल रँग दिया।

विमर्श—'कूतूहल' भी भरतमत से भिन्न मत में ही 'अलङ्कार' माना गया है।

अनुवाद—हसित :—यौवन के उद्रेक के कारण (प्रियतम के आगे) अकारण हँसने का नाम 'हसित' है। जैसे कि—

यथा—

'अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः ।
नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति ॥'

(२७—चकित)

अथ चकितम्—

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः ।

यथा—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः ॥'

(२८—केलि)

अथ केलिः—

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते ॥ ११० ॥

यथा—

'व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥'

'अकस्मात् ही यह सुन्दरी जो हँस पड़ी उससे तो यही प्रतीत होता है कि इसके हृदयदेश पर कामदेव का अखण्ड राज्य स्थापित हो चुका है।'

विमर्श—'हसित' भी नाट्यशास्त्रकार भरत से भिन्न नाट्याचार्यों के मत में नायिका का यौवनालङ्कार माना गया है।

अनुवाद—चकित :—विना किसी कारण के ही प्रियतम के आगे भयभीत होना 'चकित' कहा गया है। जैसे कि (महाकवि माघ के शिशुपालवध में यह 'चकित' वर्णन)—

'जलविहार में लगी उस सुन्दरी की जांघों से छोटी सी चञ्चल मछली क्या टकरा पड़ी, उसके हृदय में भय समा गया और विचित्र विभ्रम-विलास प्रारम्भ हो गये ! तरुणियों का तो यह स्वभाव ही है कि विना किसी कारण के ही विक्षोभ—लीला मचाने लगती हैं और यदि कोई कारण मिल जाय तब तो कहना ही क्या !'

अनुवाद—केलि :—प्रियतम के साथ प्रेम-विहार में नायिका की क्रीडा का नाम 'केलि' है। जैसे कि—

'कामोद्वेग से भरी उस पीवरस्तनी सुन्दरी ने यह देखकर कि उसका प्रियतम अपने मुँह की फूँक से उसकी आँखों में पड़ा पुष्पपराग नहीं निकाल सकता, अपने पयोधरों से उसे धक्का दे मारा।'

विमर्श—नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय-नामक २२ वें अध्याय में जिन अलङ्कारों का निरूपण है उन्हें 'शरीरालङ्कार' मानना उचित है न कि 'मानसालङ्कार'। आचार्य अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कहा है—

'एते केवलमलङ्कारा देहमात्रनिष्ठाः, न तु चित्तवृत्तिरूपाः।...ते हि यौवने उद्रिक्ता दृश्यन्ते, बाल्ये स्वबुद्धिन्ना वार्धके तिरोभूताः। यदाह—

यावन्त एते तरुणीजनस्य भावाः समं कुट्टमितादयोऽपि ।
रात्राविदृश्यानिव तान् घटादीन् कामप्रदीपः प्रकटीकरोति ॥

(प्रेम—चेष्टायें : 'मुग्धा' और 'कन्या' नायिकागत प्रेम—चेष्टा-निरूपण)

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति ।
प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥ १११ ॥
बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।
सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥ ११२ ॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥ ११३ ॥

(अन्य नायिकागत चेष्टा-निर्देश)

अथ सकलानामपि नायिकानामनुरागेङ्गितानि—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलङ्कृता ॥ ११४ ॥

'''तत्र देहविकाराः केचन क्रियात्मका अपि'''त एवाङ्गजा उच्यन्ते ।'''अन्ये स्वचेतनजन्मसमुचितविशिष्टविभावानुप्रवेशस्फुटीभवद्रतिभावानुविद्धे देहे परिस्फुरन्ति । ते स्वाभाविकाः स्वस्माद्रतिभावाद् हृदयगोचरीभूताद् भवन्तीति । तथा कस्याश्चित् कश्चिदेव स्वभावबलाद् भवति, अन्यस्याः अन्यः, कस्याश्चिद् द्वौ त्रय इत्यादि, अतोऽपि स्वाभाविकाः ।''''' ' (नाट्यशास्त्र : अभिनवभारती, २२ अध्याय)

साहित्यदर्पणकार ने भी आचार्य अभिनवगुप्त के ही मत का अनुसरण किया है किन्तु महाराज भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' के प्रभाव में पड़कर अलङ्कारों की संख्या-गणना में उदारता दिखा डाली है । इन अलङ्कारों की मान्यता के सम्बन्ध में साहित्यदर्पणकार ने अभिनवभारतीकार के इस मत को हृदयङ्गम कर रखा है—

'तथाप्यलङ्कारत्वात् , सामान्याभिनयरूपत्वात् , बाह्यशरीरनिष्ठतापर्यवसानात् , शृङ्गारैकमात्रविषयत्वाच्च अशेषरसविषयत्वाद् व्यभिचारिवर्गात् पृथक्त्वेनैषामभिधानम् ।'

(अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र. २२.३१)

अनुवाद—'मुग्धा' और 'कन्या' की प्रेम-चेष्टाओं का निरूपण किया जा रहा है—

प्रेमपगी 'मुग्धा' (किंवा कन्यका) का यह स्वभाव है कि वह अपने प्रियतम को देखकर लज्जित हो जाय, उससे आँख न मिला सके, उसे किसी चीज की ओट से अथवा कहीं घूमते हुये या दूर निकले हुये देखती रहे, बहुत पूछ-ताछ किये जाने पर भी, सिर झुकाये, धीरे-धीरे और अस्पष्ट रूप से उससे बोल पाये और साथ ही साथ औरों के द्वारा उसकी चरित-चर्चा में, कहीं दूसरी ओर निगाह किये, सावधानी से कान लगाये रहे ।

अनुवाद—अब अन्य सभी नायिकाओं की अनुराग-चेष्टाओं का निर्देश कर दिया जाता है—

नायिकायें अपने प्रियतम के पास अधिक से अधिक समय तक बैठना चाहती हैं । बिना सजे-धजे अपने प्रियतम से मिलना उन्हें अच्छा नहीं लगता । कुछ तो ऐसा भी

क्वापि कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥ ११५ ॥
आच्छादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ।
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥ ११६ ॥
सखीमध्ये गुणान् ब्रूते स्वधनं प्रददाति च ।
सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७ ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
आभाषते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥ ११८ ॥
यत्किञ्चिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
कर्णकण्डूयनं तद्वत्कबरीमोक्षसंयमौ ॥ ११९ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥ १२० ॥
अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।
दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥ १२१ ॥
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२ ॥

करती हैं कि केशपाश अथवा वस्त्राभरण के ठीकठाक करने के बहाने अपने प्रेमियों को अपने बाहुमूल, स्तन और नाभिकमल साफ-साफ दिखला दिया करती हैं। प्रियतम के नौकर-चाकरों को अपनी मधुर वाणी से प्रसन्न करने में इन्हें आनन्द मिलता है और ये प्रियतम के मित्रजनों पर विश्वास करती हैं तथा उनका पर्याप्त आदर-सत्कार भी किया करती हैं। सखियों के बीच में प्रियतम का गुणानुवाद, सखिओं के लिये प्रसन्नता-सूचक धन-वितरण, प्रियतम के सोने पर सोना और उसके दुःख में दुःख किंवा सुख में सुख ही इनकी जीवन-चर्या है। प्रियतम के देखते रहने पर, सामने, खड़े होकर, कामावस्था में पड़ी सखी-सहेलियों के साथ कामविकारों का वार्तालाप भी इन्हें रुचिकर हुआ करता है। कभी ये कुछ भी देखकर यों ही हँस पड़ती हैं, कभी कान खुजलाती हैं और कभी चोटी के खोलने-बांधने में लग जाती हैं। कभी जंभाई लेना, कभी अंगड़ाई लेना, कभी किसी बच्चे को चूमना-चाटना, कभी सखी-सहेली के ललाट पर तिलक लगाना, कभी पैर के अंगूठे से धरती कुरेदना, कभी तिरछी निगाह से देखना, कभी ओठ चबाना और कभी सिर नीचा किये प्रियतम से बोलना-चालना-ये ही वे काम हैं जिनमें मुग्धा (किं वा कन्या) नायिकायें प्रसन्न रहा करती हैं। इन्हें उस स्थान को छोड़ना अच्छा नहीं लगता जहांसे इनका प्रियतम दिखायी दे रहा हो और किसी न किसी काम के बहाने प्रियतम के घर आना तो इन्हें अच्छा लगता ही है। यदि प्रियतम ने कुछ दे दिया

दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्के मुहुरीक्षते ।
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥ १२३ ॥
मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥ १२४ ॥
विकारान् सात्त्विकानस्य सम्मुखी नाधिगच्छति ।
भाषते सूनृतं स्निग्धामनुरक्ता नितम्बिनी ॥ १२५ ॥
एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः ।
मध्यव्रीडानि मध्यायाः स्रंसमानत्रपाणि तु ॥ १२६ ॥
अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोषितः ।

दिङ्मात्रं यथा—

'अन्तिकगतमपि मामियमवलोकयतीव हन्त ! दृष्ट्वापि ।
सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ॥'

(युवतियों की भावाभिव्यक्ति के उपाय)

तथा—

लेख्यप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः ॥ १२७ ॥
दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरिष्यते ।

तो उसे प्रेमपूर्वक देखना, यदि प्रियतम पास रहे तो बहुत प्रसन्न होना और यदि कहीं वह पास न हो तो दीन-हीन बनी रहना, यह सब तो इनके लिये स्वभाव-सिद्ध है। इन्हें अपने प्रियतम का चरित बड़ा अच्छा लगता है, इन्हें अपने प्रियतम के प्रेमपात्र लोग बड़े भले लगते हैं, इन्हें अपने प्रियतम से थोड़े मूल्य की चीजें मांगने में प्रसन्नता हुआ करती है और जब ये सोती हैं तो प्रियतम के विमुख कदापि नहीं सोतीं। प्रियतम के सामने पड़ने पर (स्तम्भादि) सात्त्विक विकारों को न रोक सकना और प्रियतम से सच्ची-सच्ची और मीठी-मीठी बातें करना इन प्रेमपगी रमणियों के स्वभाव में है। इन नायिकाओं में, 'नवोढा' की चेष्टाओं में, लज्जा की मात्रा अधिक रहा करती है, 'मध्या' की चेष्टाओं में लज्जा तो अवश्य होती है किन्तु मध्यम मात्रा की ही होती है और परकीया, प्रगल्भा तथा वेश्या (सामान्या) नायिकाओं की चेष्टायें ऐसी हुआ करती हैं जिनमें लज्जा का पता भी नहीं चल पाता।

उदाहरण के लिये (वस्तुतः दिग्दर्शन मात्र के लिये) मेरी यह स्वरचित सूक्ति—

'यह सुन्दरी, समीप ही खड़े मुझे देखकर भी पुनः देख रही है और नये-नये नखक्षत से अङ्कित अपना भुजमूल मुझे दिखा रही है।'

अनुवाद—इसके अतिरिक्त अपने प्रेमियों के प्रति युवतियों के भावाभिव्यञ्जन के ये भी उपाय हैं, जैसे कि—पत्र भेजना, स्नेह भरी निगाह से देखना, मीठी-मीठी बातचीत करना और प्रेम-सन्देश के साथ दूती भेजना।

(दूती)

दूत्यश्च—

दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥ १२८ ॥
बाला प्रव्रजिता कारूः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा ।

कारू रजकीप्रभृतिः । शिल्पिनी चित्रकारादिस्त्री । आदिशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकस्त्रीप्रभृतयः । तत्र सखी यथा—'श्वासान्मुञ्चति—'इत्यादि ।

स्वयंदूती यथा मम—

'पन्थिअ पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो ।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताणं ॥'
(पथिक ! पिपासित इव लक्ष्यसे यासि तत्किमन्यत्र ।
न मनागपि वारक इहास्ति गृहे घनरसं पिबताम् ॥)

एताश्च नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति ।

(दूती के गुण)

दूतीगुणानाह—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः ॥ १२९ ॥
माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः ।
एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥ १३० ॥

अनुवाद—दूती-सम्प्रेषण के प्रसङ्ग में दूतिओं का निर्देश आवश्यक है—सखी, नटी, दासी, धाइ की लड़की, पड़ोसिन, बालिका, संन्यासिनी, धोबिन, बढ़ई की स्त्री, नाइन, रंगरेजिन किंवा स्वयं नायिका आदि-आदि (ऐसी) दूतियां हैं (जिनके सम्प्रेषण में युवतिओं के प्रेमभाव का स्पष्ट पता चला करता है)।

यहां 'कारु' का अभिप्राय 'धोबिन' आदि का है। 'शिल्पनी' कहते हैं चित्रकार आदि की स्त्रियों को। कारिका में 'आदि' पद इसलिये दिया गया जिसमें तमोलिन और तेलिन आदि-आदि का भी यहां संग्रह समझ लिया जाय। जैसे कि सखी का दूतीरूप में सम्प्रेषण 'श्वासान्मुञ्चति' आदि सूक्ति में स्पष्ट है। और जैसे कि—स्वयं दूती-रूप में नायिका का यह, मेरा किया, चित्रण—

'अरे बटोही ! तुम तो प्यासे से लग रहे हो। भला इस हालत में और कहीं जाने से क्या लाभ ! यहां कोई रोक-टोक नहीं, जी भर कर 'घनरस' (वर्षाजल किं वा सम्भोग-सुख) का पान कर लो।'

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि जैसे ये उपर्युक्त दूतियां नायिकाओं द्वारा नायकों के पास भेजी जा सकती हैं वैसे ही नायकों द्वारा नायिकाओं के पास भी।

अनुवाद—इन दूतियों के गुणों का परिगणन किया जा रहा है—जिन्हें 'दूतीगुण' कहा करते हैं वे ये हैं—कलाओं में कुशलता, उत्साह, भक्ति, परचित्तज्ञान, स्मृति, मधुरता, नर्मनिपुणता और बोलचाल में चतुरता। ये दूतियां भी अपनी-अपनी विशेषताओं के

एता दूत्यः।

कारण उत्तम, मध्यम और अधम-इन तीन श्रेणिओं में विभक्त देखी जाती हैं। यहाँ कारिका में 'एताः' का अभिप्राय 'दूतियों' का है।

विमर्श—(क) साहित्यदर्पणकार ने 'दृष्ट्वा दर्शयति' आदि कारिकाओं में नायिका के अनुराग-चिह्नों का जो निरूपण किया है वह भरतनाट्यशास्त्र की प्राचीन मर्यादा है। भावप्रकाशनकार शारदातनय ने इस प्राचीन मर्यादा का इन पंक्तिओं में स्पष्टीकरण किया है—

'स्त्रियो जातानुरागाया नायके लक्षणान्विते।
कुलीनायाः प्रथमतो दूरे रोमोद्गमो भवेत्॥
स्निग्धं च मसृणं चक्षुरधरः स्पन्दते स्फुटम्।
स्मितोत्तरं च वचनं स्वेदोदश्च कपोलयोः॥
ऊर्वोः संपीडनं चाङ्गे बाहुस्वस्तिकबन्धनम्।
आलिङ्गनं मुहुः सख्यास्तदङ्गेऽङ्गसमर्पणम्॥
नीवीं विस्रंस्य नहनं वेपथुस्तत्पथस्थितिः।
वचने वचनं तूर्ष्णीं वीक्षणेष्वनवेक्षणम्॥
इत्यादिभावैर्भावज्ञो रक्तां विद्यात् कुलाङ्गनाम्।
कर्णकण्डूयनं नाभेरूर्वोः किञ्चित्प्रकाशनम्॥
विमर्दनञ्च स्तनयोर्नीवीविस्रंसनं मुहुः।
अन्यापदेशकथनमन्यैः सस्मितभाषणम्॥
विलोकनञ्च सव्रीडमङ्गुष्ठाग्रविलेखनम्।
नखनिस्तोदनं केलिः सखीनिर्भर्त्सनं मृषा॥
पटान्तरे स्थितिर्व्याजादञ्जलिर्देवताच्छलात्।
भावैरित्यादिभिर्वेश्यामनुरक्तां विभावयेत्॥
दृष्टे दृशोर्विकासश्च माधुर्यं भाषणेऽन्यतः।
प्रसादो वदने हर्षः संभ्रमस्तस्य दर्शने॥
अदर्शने च मूर्च्छा च तत्सत्कारेषु कौतुकम्।
स्वभर्तुः प्रमुखे तस्य स्मरणं सुरतादिषु॥
प्रेषणं भोग्यवस्तूनां समाजे तस्य गर्हणम्।
सर्वत्र तस्य वाक्यस्य प्रीतिपूर्वं परिग्रहः॥
मदस्व नाथ सख्यार्थेत्येवं चालोपकालनम्।
भावैरेवंविधैरन्यां लक्षयेन्मदनातुराम्॥

(ख) रक्ता नायिका के जिन जिन उपचारों का साहित्यदर्पणकार ने निर्देश किया है उनका संक्षिप्त विवरण 'भावप्रकाशन' की इन पंक्तियों में दिया जा चुका है—

'रक्ता विविक्तवसतिं प्रियेण सह वाञ्छति।
गुणान् सखीनामाख्याति स्वधनं प्रददाति च॥
सम्पूजयति मित्राणि द्वेष्टि शत्रुजनं तथा।
समागमं प्रार्थयते दृष्ट्वा हृष्यति चाधिकम्॥
तुष्यत्यस्य वचोभङ्ग्या सस्नेहञ्च निरीक्षते।
सुप्ते च पश्चात् स्वपिति चुम्बत्यनभिचुम्बिता॥

(प्रतिनायक-निरूपण)

अथ प्रतिनायकः—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः ।

यथा रामस्य रावणः ।

'प्रियेणालिङ्ग्यत्यङ्गं गाढमालिङ्गति प्रियम् ।
स्वयमारभते स्वैरं स्नानादिषु च कर्मसु ॥
प्रथमं चेष्टते स्वैरं बाह्ये चाभ्यन्तरे रते ।
न विश्लेषयते गात्रमाश्लिष्टा च कदाचन ॥
तेनैव भोग्यवस्तूनि भुंक्तेऽन्यत्राहृतान्यपि ।
रतिकेलिष्वनिभृता स्वदते स्विद्यति च्चणम् ॥
न दृष्टिमन्यतो धत्ते न श्रृणोति बहिः क्वचित् ।
न चिन्तयत्यात्मनीनं किञ्चिदन्यत् प्रियं विना ॥
रोमाञ्चति प्रियस्पर्शे मुह्यति स्विद्यति श्वसेत् ।
एवं रक्तासमुत्थाः स्युरुपचाराः प्रियं प्रति ॥

(भावप्रकाशन ५ म अधिकार)

(ग) भरतनाट्यशास्त्र में भी दूती संप्रेषण का विधान है जो कि इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

'विज्ञानगुणसम्पन्ना कथिनी लिङ्गिनी तथा ।
प्रातिवेश्या सखी दासी कुमारी कारुशिल्पिनी ।
धात्री पाषण्डिनी चैव तथा रङ्गोपजीविनी ॥
प्रोत्साहनेऽथ कुशला मधुरकथा दक्षिणाऽथ कालज्ञा ॥
लडहा संवृतमन्त्रा दूती त्वेभिर्गुणैः कार्या ॥
तथाप्युत्साहनं कार्यं नानादर्शितकारणम् ॥
यथोक्तकथनं चैव तथा भावप्रदर्शनम् ।

(नाट्यशास्त्र २३. ९. ११)

अनुवाद—अब 'प्रतिनायक' का निरूपण करते हैं—

'प्रतिनायक' वह है जो नायक का प्रतिस्पर्द्धी हुआ करता है। यह स्वभाव का धीरोद्धत, पापाचरण में तत्पर किं वा व्यसनों में आसक्त रहा करता है।

उदाहरण के लिये (राम-काव्य किं वा राम-नाट्य में) 'राम' नायक का प्रतिनायक रावण ।

विमर्श—'प्रतिनायक' का अभिप्राय मुख्य नायक के प्रतिपन्थी (विरुद्ध) नायक का है। विना 'प्रतिनायक'-चरित के चित्रण के नायक-चरित का सौन्दर्य नहीं चित्रित किया जा सकता। संस्कृत के दृश्य और श्रव्य काव्यों में 'नायक' का चरित 'प्रतिनायक' के चरित की प्रतिस्पर्द्धा में चित्रित किया जाया करता है। काव्य-नाट्य-कोविदों ने 'प्रतिनायक' को 'धीरोद्धत' स्वभाव का ही देखा है। 'धीरोद्धत' होने से 'प्रतिनायक' के लिये अनवस्थितचित्त, रौद्रस्वभाव, मदोन्मत्त, दम्भबहुल किं वा आत्मश्लाघी होना स्वाभाविक है। नाट्यदर्पणकार ने इसीलिये कहा है—

,लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः। मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः। यथा रामयुधिष्ठिरयो रावण-दुर्योधनवदिति— (नाट्यदर्पण-४ र्थ विवेक)

दशरूपककार धनञ्जय ने भी इसीलिये कहा था—

'लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद्व्यसनी रिपु ।, (दशरूपक २-९)

(उद्दीपन-विभाव-निरूपण)

अथोद्दीपनविभावाः—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥ १३१॥

ते च—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः । कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझंकारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमः पटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

यो यस्य रसस्योद्दीपनविभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

अनुवाद—अब उद्दीपन विभावों का निरूपण किया जा रहा है—

उद्दीपन विभाव उन्हें कहा करते हैं जो कि रस को उद्दीप्त किया करते हैं ।

ये निम्नोद्दिष्ट पदार्थ उद्दीपन-विभाव-वर्ग में आते हैं—नायक-नायिका आदि की विविध आङ्गिक चेष्टायें, समुचित देश, उपयुक्त समय आदि-आदि ।

यहाँ कारिका में 'चेष्टाद्याः' में 'आद्य' शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रूप, आभूषण आदि-आदि का संग्रह करना है । इसी प्रकार 'कालादयः' में 'आदि' शब्द से चन्द्र-चन्द्रिका, कोकिलालाप, भ्रमरझङ्कार आदि-आदि समझना चाहिये ।

उदाहरण के लिए, मेरी इस स्वरचित सूक्ति में 'चन्द्रोदय' का उद्दीपन-विभाव के रूप में यह वर्णन—

'यह चन्द्रमा पूर्वदिशा का मुख-चुम्बन कर रहा है । इसके कर (किरण अथवा हाथ) पूर्वदिशा-सुन्दरी के उदयाचल रूपी स्तनाग्रभाग का स्पर्श कर रहे हैं जिससे उसका सन्तमस रूपी अंशुक-परिधान नीचे खिसक पड़ा है और उसके कुमुद-नेत्र प्रसन्नता से हँसते दिखाई पड़ रहे हैं ।'

भिन्न-भिन्न रसों के भिन्न-भिन्न उद्दीपन विभाव हैं और उनका वर्णन उन-उन रसों के प्रसङ्गों में किया ही जायगा ।

विमर्श—नानाविध नायकों और नायिकाओं का वर्णन तो रस के आलम्बन विभाव का वर्णन है । रस के उद्दीपन विभाव का अभिप्राय है उन-उन पदार्थों का जो सामाजिक-हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भाव को, उद्दीपित किया करते हैं ! 'रसार्णवसुधाकर'कार ने निम्न पदार्थों को 'तटस्थ' उद्दीपन-विभाव कहा है—

तटस्थाश्चन्द्रिका धारागृहचन्द्रोदयावपि ॥
कोकिलालापमाकन्दमन्दमारुतषट्पदाः ।
लतामण्डप-भूगेह-दीर्घिकाजलदारवाः ॥
प्रासादगर्भसंगीतक्रीडाद्रिसरिदादयः ।
एवमूह्या यथाकालमुपभोगोपयोगिनः ॥ (रसार्णवसुधाकर १म विलास)

और इन तटस्थ उद्दीपन-विभावों के अतिरिक्त वस्त्र, भूषा, माल्य किं वा अनुलेपन को अन्तरङ्ग उद्दीपन-विभावों में स्थान दिया है । उपर्युक्त उद्दीपन-विभाव-वर्ग का शृङ्गार रस की उद्दीपन-

(अनुभाव-निरूपण)

अथानुभावाः—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ॥ १३२ ॥
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।

कः पुनरसावित्याह—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ॥ १३३ ॥
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

सामग्री है । अन्य रसों की उद्दीपन-सामग्री भरत नाट्यशास्त्र आदि आकर-ग्रन्थों में विशद रूप से प्रतिपादित है ।

अनुवाद—अनुभाव :-उन-उन कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करनेवाले अङ्गादि-व्यापारों का नाम 'अनुभाव' है । लोक-जीवन में तो ये अङ्गादि-व्यापार (रत्यादि भावों के) 'कार्य' समझे जाया करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हें 'अनुभाव' की अलौकिक संज्ञा प्राप्त है ।

तात्पर्य यह है कि लोक-जीवन के राम आदि के हृदय में सीता आदि आलम्बन विभाव किं वा चन्द्रोदय आदि उद्दीपन विभाव से रत्यादि रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध हुआ करता है । अब राम आदि की जो-जो अङ्ग-चेष्टायें, उनके उद्बुद्ध रत्यादि भावों को दूसरों पर प्रकाशित किया करती हैं उन्हें लोक-जीवन की दृष्टि से तो (रत्यादि भावों के) 'कार्य' कहा करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य में कवि और नाटककार के वर्णन और अङ्कन के विषय बना दिये जाने पर इन्हें ही 'अनुभाव' की अलौकिक पदवी से विभूषित कर दिया जाया करता है ।

लोक-जीवन में कार्यरूप किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में 'अनुभाव' रूप जो वस्तुयें हैं, वे ये हैं—

नायिकाओं के पूर्वनिर्दिष्ट अङ्गज किं वा स्वभावज अलङ्कार, अनुभाव-रूप स्तम्भादि सात्त्विक भाव और रत्यादि भावों के प्रभाव में उत्पन्न अन्यान्य चेष्टायें ।

यहाँ कारिका में 'तद्रूपाः' का अभिप्राय 'अनुभाव' रूप (सात्त्विक भावों) का है । भिन्न-भिन्न रसों के जो भिन्न-भिन्न अनुभाव हैं उन्हें उन-उन रसों के निरूपण-प्रसङ्ग में आगे बताया जायगा ।

विमर्श—भरतनाट्यशास्त्र में अनुभाव का यह स्वरूप प्रतिपादित किया हुआ है—

'वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥' (नाट्यशास्त्र ७. ५)

सात्त्विक भाव-निर्देश

तत्र सात्त्विकाः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥ १३४ ॥

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः।

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः।

'गोवलीवर्दन्यायेन' इति शेषः।

के त इत्याह—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥ १३५ ॥

वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः।

जिसका संक्षिप्त अभिप्राय नाट्यदर्पणकार ने इस पंक्ति में अपने ही ढंग से स्पष्ट किया है—
'अनु लिङ्गनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिङ्गिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः'
(नाट्यदर्पण-३ य विवेक)

अनुभाव का तात्पर्य मनोगत भावों के साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादानों, जैसे कि भ्रूविक्षेप आदि-आदि का है। मनोगत भावों के ये साक्षात् अभिव्यञ्जक उपादान इसलिए 'अनुभाव' कहे जाया करते हैं क्योंकि रत्यादिरूप मनोगत भावों के उद्बोधन में ही इनकी उत्पत्ति सम्भव है। भ्रूविक्षेप आदि का 'अनुभाव' होना यह सिद्ध करता है कि इनके द्वारा हेतुभूत रत्यादि भावों की अभिव्यक्ति हुआ करती है। अनुभावों की चार श्रेणियां हैं—(१) चित्तारम्भक, जैसे कि भाव-हाव-हेला आदि, (२) गात्रारम्भक, जैसे कि लीला, विलास, विच्छित्ति आदि, (३) वागारम्भक, जैसे कि आलाप, विलाप, संलाप आदि और (४) बुद्ध्यारम्भक, जैसे कि रीति, वृत्ति आदि।

साहित्यदर्पणकार ने कतिपय सात्त्विक भावों को भी अनुभावरूप मान लिया है। इस मान्यता में दशरूपककार का प्रभाव स्पष्ट है।

अनुवाद—यहाँ अनुभावभूत सात्त्विक भावों का प्रसङ्ग है, इसलिए, सात्त्विक भाव क्या और कौन हैं? इसका निर्देश किया जा रहा है—

सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार हैं उन्हीं को सात्त्विक भाव कहा करते हैं।

यहाँ ('सात्त्विक' शब्द की व्युत्पत्ति में) जो 'सत्त्व' शब्द है उसका अभिप्राय अन्तःकरण का एक धर्मविशेष है जिसके कारण सामाजिक हृदय में वासनारूप से विराजमान रत्यादि भावों का उद्भावन हुआ करता है।

वैसे तो सात्त्विक भाव और अनुभाव एकरूप ही हैं किन्तु अनुभावों से सात्त्विक भावों को इसलिये भिन्नरूप माना जा सकता है क्योंकि (स्तम्भादिरूप) सात्त्विक भाव सत्त्व के उद्रेक से ही उत्पन्न मनोविकार हुआ करते हैं।

अनुभावों और सात्त्विक भावों को अभेद में भी भेद 'गोबलीवर्दन्याय' से समझा-समझाया जा सकता है (जैसे कि 'गावः गच्छन्ति' कहने से ही 'बलीवर्दोऽपि गच्छति' का अभिप्राय निकल जाता है किन्तु गौओं से विशेषता के द्योतन के लिये बलीवर्द (सांड) का पृथक् ग्रहण किया जाया करता है वैसे ही अनुभावों में सात्त्विक भावों के अन्तर्भूत होने पर भी, अनुभावों से वैशिष्ट्य बताने के लिए, सात्त्विक भावों का पृथक् परिगणन स्वाभाविक ही है)।

निम्नलिखित जो सत्त्वसंभूत ८ मनोविकार हैं वे ही ८ सात्त्विक भाव हैं—

(१) स्तम्भ, (२) स्वेद, (३) रोमाञ्च, (४) स्वरभङ्ग, (५) वेपथु, (६)

तत्र—

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ॥ १३६ ॥
वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः ।
हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १३७ ॥
मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।
रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १३८ ॥
विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।
अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ॥ १३९ ॥
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।

यथा मम—

'तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त ! नयने
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम् ।
कपोलौ घर्मार्द्रौ ध्रुवमुपरताशेषविषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम् ॥

वैवर्ण्य, (७) अश्रु और (८) प्रलय ।

इन आठों सात्त्विकभावों के अपने-अपने ये स्वरूप हैं—

(१) स्तम्भ—भय, हर्ष, रोग आदि के कारण मन किं वा शरीर के व्यापारों का रुक जाना 'स्तम्भ' है ।

(२) स्वेद—रतिप्रसङ्ग, आतप (धूप), परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकल पड़नेवाले जल को 'स्वेद' कहते हैं ।

(३) रोमाञ्च—हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण रोंगटों के खड़े होने को 'रोमाञ्च' कहा जाता है ।

(४) स्वरभङ्ग—मद्यपान, हर्ष, पीड़ा आदि के कारण गले के रुँध जाने का नाम 'स्वरभङ्ग' है ।

(५) वेपथु—अनुराग, द्वेष, परिश्रम आदि के कारण शरीर की कँपकँपी को 'वेपथु' कहा करते हैं ।

(६) वैवर्ण्य—विषाद, मद, रोष आदि के कारण उत्पन्न हुए वर्णविकार का नाम 'वैवर्ण्य' (विवर्णता) है ।

(७) अश्रु—क्रोध, दुःख, प्रहर्ष आदि के कारण उत्पन्न होनेवाले नेत्रजल को 'अश्रु' कहते हैं ।

(८) प्रलय—सुख अथवा दुःख के अतिरेक से चेष्टाशून्यता किं वा ज्ञानशून्यता 'प्रलय' है ।

उदाहरण के लिए, यह स्वरचित सूक्ति—

'मेरे शरीर के स्पर्श से, इस सुन्दरी के नयनकमल अधखिले दीख रहे हैं, शरीर रोमाञ्चित हो रहा है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग निश्चेष्ट बन गये हैं और कपोल स्वेदबिन्दुओं से गीले

एवमन्यत् ।

(व्यभिचारिभाव : लक्षण-निरूपण)

अथ व्यभिचारिणः—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ १४० ॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते ।

हो चुके हैं । ऐसा लगता है जैसे इसका मन अन्य समस्त विषयों से विरक्त है और ब्रह्मानन्दरूप एकघन प्रेमसुख में अन्तर्लीन हो रहा है ।'

[यहाँ रोमाञ्च, स्वेद और प्रलयरूप सात्त्विक भावों का सुन्दर वर्णन है ।]

इसी भांति अन्य सात्त्विक भावों के उदाहरण स्वयं जाने जा सकते हैं ।

विमर्श—स्तम्भ आदि की 'सात्त्विकरूपता' की सुन्दर मीमांसा 'रसार्णवसुधाकर' की इन पङ्क्तियों में है—

'अन्येषां सुखदुःखादिभावनाकृतभावनम् ॥
आनुकूल्येन यच्चित्तं भावकानां प्रवर्त्तते ।
सत्त्वं तदिति विज्ञेयं प्राज्ञैः सत्त्वोद्भवानिमान् ॥
सात्त्विका इति जानन्ति भरतादिमहर्षयः ।
सर्वेषामपि भावानां यैः सत्त्वं प्रविभाव्यते ॥
ते भावाः भावतत्त्वज्ञैः सात्त्विकाः समुदीरिताः ।'
.... ।
सर्वेऽपि सत्त्वमूलत्वाद् भावा यद्यपि सात्त्विकाः ॥
तथाप्यमीषां सत्त्वैकमूलत्वात् सात्त्विकप्रथा ।
अनुभावाश्च कथ्यन्ते भावसंसूचनादमी ॥
एवं द्वैरूप्यमेतेषां कथितं भावकोविदैः ॥

(श्रीशिङ्गभूपाल : रसार्णवसुधाकर : प्रथम विलास)

अनुवाद—अब व्यभिचारिभावों का स्वरूप बताया जा रहा है—

वे भाव व्यभिचारी भाव कहे जाया करते हैं जो (विभाव और अनुभाव की अपेक्षा) विशेष उत्कटता किं वा अनुकूलता से (वासनारूप से सामाजिक-हृदय में सदा विराजमान) रत्यादि स्थायी भावों को रसास्वाद में परिणत किया करते हैं तथा जिन्हें स्थायी भावों के समुद्र में बुद्बुद (बुलबुले) की भांति उन्मज्जित (उतराते-स्पष्ट प्रतीत) किं वा निमज्जित (डूबते—अस्पष्ट प्रतीत) होते हुए देखा जाया करता है ।

तात्पर्य यह है कि रत्यादिरूप स्थायी भाव तो हृदय में सदा स्थिर रूप से प्रवाहित हुआ करते हैं और निर्वेदादि भाव ऐसे हैं जो रत्यादि भावों से ही उद्भूत होते और उन्हीं में तिरोभूत होते, उनकी रसरूप से अभिव्यक्ति में विशेषतया सहायक हुआ करते हैं ।

विमर्श—भरत नाट्यशास्त्र में 'व्यभिचारिभाव' की यह व्युत्पत्ति दी गयी है—

'विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः ।' (नाट्यशास्त्र सप्तम अध्याय)

जिसकी अभिनवभारती-सम्मत व्याख्या आचार्य हेमचन्द्र के इन शब्दों में है—

'भावयन्ति चित्तवृत्तय एवालौकिकवाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढतया स्वात्मानं लौकिकदशायामनास्वाद्यमप्यास्वाद्यं कुर्वन्ति, यद्वा भावयन्ति व्याप्नुवन्ति सामाजिकानां मन इति भावाः—स्थायिनो व्यभिचारिणश्च।...ये पुनर्धृत्यादयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्ममध्ये न भवन्त्येवेति व्यभिचारिणः। तथा हि रसायनमुपयुक्तवतो ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो न भवन्त्येव। यस्यापि वा भवन्ति विभावबलात्तस्यापि हेतुप्रक्षये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां नावश्यमनुबध्नन्ति।...तस्मात् स्थायिरूपचित्रवृत्तिसूत्रस्यूता एवामी स्वात्मानमुदयास्तमयवैचित्र्यशतसहस्रधर्माणं प्रतिलभमानाः स्थायिनं विचित्रयन्तः प्रतिभासन्त इति व्यभिचारिणः उच्यन्ते। तथा हि ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेनाऽस्थायिताऽस्य सूच्यते। न तु राम उत्साहशक्तिमानित्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः।' (काव्यानुशासन २. १८)

तात्पर्य यह है कि रत्यादि अथवा निर्वेदादि चित्तवृत्तियाँ हैं। चित्तवृत्तियों को ही 'भाव' कहा जाता है। चित्तवृत्तियों को 'भाव' इसलिये कहा जाता है क्योंकि कवि-कला कि वा नाट्य-कला की वर्णना और अङ्कन-शक्ति इन्हें 'आस्वाद्य' बना दिया करती है। लोकजीवन में ये चित्तवृत्तियाँ रस अथवा आस्वादरूप में अनुभव का विषय नहीं बना करतीं। यह तो कला-जीवन की महिमा है जिसके कारण ये 'रस' रूप से प्रतीत हुआ करती हैं (भावयन्ति आत्मानं आस्वाद्यं कुर्वन्ति इति भावाः)। इन चित्तवृत्तिओं को इस दृष्टि से भी 'भाव' कहा करते हैं क्योंकि काव्य-नाट्य के क्षेत्र में सामाजिकों का हृदय इनसे व्याप्त हो जाया करता है (भावयन्ति व्याप्नुवन्ति मनः सामाजिकानामिति भावाः)। अब इन चित्तवृत्तिओं में स्थिर और अस्थिर रूप की द्विविध चित्तवृत्तियाँ हैं। स्थिर चित्तवृत्तियाँ जैसे कि रति आदि ऐसी हैं जो प्राणिमात्र के हृदय में, जन्म से ही, संस्काररूप से विराजमान रहा करती हैं। ये ही, काव्य किं वा नाट्य में, वस्तुतः कला के क्षेत्र में 'स्थायी भाव' की पदवी प्राप्त करती हैं। अब, 'व्यभिचारी भाव', उन अस्थिर चित्तवृत्तिओं का, कला-जगत् में प्रसिद्ध, नाम है जो कि स्थायी चित्तवृत्ति-सूत्र में पिरोयी प्रतीत हुआ करती हैं। कभी ये चित्तवृत्तियाँ उदित होती हैं, कभी अस्त होती हैं। अनन्त वैचित्र्य के साथ इनमें आविर्भाव-तिरोभाव की आँखमिचौनी चला करती है। इनके कारण स्थायी चित्तवृत्तियाँ चित्र-विचित्र लगा करती हैं। स्थायी चित्तवृत्तियों में डूबना-उतराना इनकी विशेषता है। इसीलिये इन्हें 'व्यभिचारी भाव' कहा गया है। 'ग्लानि' एक व्यभिचारी भाव है। कोई कहे 'यह म्लान (दुःखी) लग रहा है' तो पूछा जाता है- 'ऐसा क्यों ?' ग्लानि के हेतु का यह प्रश्न इस बात का प्रमाण है कि ग्लानि 'अस्थिर' मनोभाव है। किन्तु 'राम उत्साह की शक्ति से भरपूर हैं' ऐसा कहने पर कोई भी नहीं पूछता—'ऐसा क्यों ?' इससे यह स्पष्ट है कि 'उत्साह' एक स्थिर मनोभाव है।

'रसार्णवसुधाकर' (द्वितीय विलास) की ये पंक्तियाँ 'व्यभिचारिभाव' की बड़ी सुन्दर परिभाषा हैं—

'व्यभी इत्युपसर्गौ द्वौ विशेषाभिमुखत्वयोः।
विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति स्थायिनं प्रति॥
वागङ्गसत्त्वयुक्ता ये ज्ञेयास्ते व्यभिचारिणः।
सञ्चारयन्ति भावस्य गतिं सञ्चारिणोऽपि ते॥
उन्मज्जन्तो निमज्जन्तः स्थायिन्यम्बुनिधाविव।
ऊर्मिवद् वर्द्धयन्त्येनं यान्ति तद्रूपतां च ते॥

(व्यभिचारिभाव : प्रकार-संख्यान)

के त इत्याह—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः ।
औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसत्रासलज्जा
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः ॥१४१॥

(३३ व्यभिचारी भाव : स्वरूप-विवेक : १—निर्वेद)

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'मृत्कुम्भवालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना ।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त ! चूर्णीकृतो मया ॥'

अनुवाद—जो-जो भाव 'व्यभिचारिभाव' हैं वे ये हैं—

(१) निर्वेद, (२) आवेग, (३) दैन्य, (४) श्रम, (५) मद, (६) जडता, (७) औग्र्य, (८) मोह, (९) विबोध, (१०) स्वप्न, (११) अपस्मार, (१२) गर्व, (१३) मरण, (१४) अलसता, (१५) अमर्ष, (१६) निद्रा, (१७) अवहित्था, (१८) औत्सुक्य, (१९) उन्माद, (२०) शङ्का, (२१) स्मृति, (२२) मति, (२३) व्याधि, (२४) त्रास, (२५) लज्जा, (२६) हर्ष, (२७) असूया, (२८) विषाद, (२९) धृति, (३०) चपलता, (३१) ग्लानि, (३२) चिन्ता और (३३) वितर्क।

अनुवाद—निर्वेदः—

'निर्वेद' का अभिप्राय है (स्वावमानन) अपने आपको धिक्कारने का। इसके कई निमित्त हो सकते हैं—जैसे कि, तत्त्वज्ञान (शरीरसुख किं वा विषयभोग की हेयता का अनुभव), आपत्ति, ईर्ष्या, आदि-आदि। इसके होने से दीनता, चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, विवर्णता और उच्छ्वास आदि उत्पन्न हुआ करते हैं।

उदाहरण के लिये, तत्त्वज्ञानोत्थ निर्वेद (का यह अभिव्यञ्जन)—

'ओह ! मैं भी कितना अभागा निकला ! मिट्टी के इस घड़े (शरीर) का छोटा सा छेद (कुछ ऐहिक कष्ट) बन्द करने के लिये (दूर करने के लिये) मैंने अपना यह दक्षिणावर्त शंख (आत्यन्तिक सुख) तोड़-फोड़कर चूर-चूर कर दिया।'

विमर्श—नाट्याचार्य भरतमुनि ने 'निर्वेद' का यह विशद लक्षण किया है—

'इष्टजनविप्रयोगाद् दारिद्र्याद् व्याधितस्तथा दुःखात्।
परवृद्धिं वा दृष्ट्वा निर्वेदो नाम संभवति॥
बाष्पपरिप्लुतनयनः, पुनश्च निःश्वासदीर्घमुखनेत्रः।
योगीव ध्यानपरो भवति हि निर्वेदवान् पुरुषः॥'

(नाट्यशास्त्र ७, २९, ३०)

(२—आवेग)

अथावेगः—

आवेगः संभ्रमस्तत्र वर्षजे पिण्डिताङ्गता ।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे, धूमाद्याकुलताग्निजे ॥ १४३ ॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् ।
गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलतानिलात् ॥ १४४ ॥
इष्टाद्धर्षाः, शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ।

तत्र शत्रुजो यथा—

'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।
क्षत्रकोपदहनार्चिषं ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकम् ॥'

यहां भी यह स्पष्ट है कि निर्वेद का अभिप्राय 'स्वावमानन' अथवा 'आत्माधिक्षेप' का ही है । 'स्वात्मावमानन' ही 'निष्फलता बुद्धि' के रूप में भी प्रतीत हुआ करता है, जैसे कि निम्न सूक्ति में ही—

'प्राप्ताः श्रियः सकलकामदुघास्ततः किं
न्यस्तं पदं शिरसि विद्विषतां ततः किम् ।
सम्मानिताः प्रणयिनो विभवैस्ततः किं
कल्पं स्थितं तनुभृतां तनुभिस्ततः किम् ॥'

भावप्रकाशनकार शारदातनय ने 'निर्वेद' शब्द की व्युत्पत्ति से ही इसके सारार्थ का संकेत किया है—

'निर्वेदः शून्यचित्तत्वं वेदोवित्तविनिर्गमात् ।' (भावप्रकाशन २. १)

अर्थात् उन-उन कारणों से चित्त की शून्यता 'निर्वेद' है ।

अनुवाद—आवेग :—

'आवेग' का अभिप्राय है संभ्रम (घबड़ाहट) का । इसके कई एक प्रकार हैं जैसे कि (१) हर्षज आवेग, जिसके होने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग संकुचित-सिकुड़े से हो जाया करते हैं, (२) उत्पातज आवेग, इसके कारण पूरा शरीर ढीला-ढाला हो जाता है, (३) अग्निज आवेग, इसके कारण धुएँ किंवा अनुताप आदि की व्याकुलता बढ़ जाती है, (४) राज-विद्रवज आवेग, शत्रुज आवेग आदि, जिसके कारण शस्त्रसंनाह, हाथी-घोड़ों की सेना की तैयारी आदि-आदि कार्य प्रारम्भ हो जाते हैं, (५) गजादिजन्य आवेग, इसके कारण स्तम्भ, कम्प आदि उत्पन्न हो जाते हैं, (६) वायुज आवेग, जिसके द्वारा धूलि आदि से व्याकुलता बढ़ जाती है, (७) इष्टज आवेग, जिसके कारण हर्ष उत्पन्न हो जाता है, (८) अनिष्टज आवेग, जो कि शोक का जनक हुआ करता है और इसी भांति अन्य अन्य निमित्तों से उत्पन्न अन्यान्य प्रकार के आवेग हुआ करते हैं । उदाहरण के लिये-'शत्रुज' आवेग—

'महाराज दशरथ ने तो 'अतिथि-पूजन-सामग्री लाओ, जल्दी करो' आदि कहना प्रारम्भ किया, किन्तु परशुराम ने उन पर निगाह तक न डाली और रामचन्द्र की ओर अपनी वह दृष्टि गड़ा दी जिसकी पुतलियां प्रचण्डता की सूचना दे रही थीं और जो वस्तुतः क्षत्रियों पर उनके क्रोध की धधकती आग की लपट सी दिखाई पड़ने लगी थी ।' (रघुवंश) ।